देवव्रत भीष्म

डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नंदा 'आस'

पूज्य बन्धु डा. श्रीकृष्ण लाल जी को विशेष सम्मान सहित भेंट।
सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'ओस'

डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नंदा 'ऑस'
1293-एम० पटेल नगर,
पठ नकोट

श्रद्धेय स्वर्गीय ला. मूलराज नन्दा जी

की पावन-स्मृति में

श्रद्धा सहित उन्हें समर्पित

आलोक प्रकाशन

1293, पटेल नगर, पठानकोट ।

दूरभाष : 0186-28608

ॐ

देवव्रत भीष्म

डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नंदा 'आस'

आलोक प्रकाशन
पठानकोट

प्रकाशक	श्री आलोक नंदा आलोक प्रकाशन 1293-पटेल नगर पठानकोट-145001 दूरभाष: 0186-28608
संस्करण	प्रथम, अगस्त, 1998.
मूल्य	150 रुपये (भारत में) 10 £. (विदेश में) 15 U.S. $
मुद्रक :	यूनीक प्रिंटर्ज़ डलहौजी रोड़, पठानकोट । दूरभाष : 0186-20462

Devvarat Bhisham (EPIC) by **Dr. Sateyander Parkash Nanda 'Aas'**
Published by Alok Parkashan, 1293 S Patel Nager.
Pathankot. Ph. 0186-28608

लेखक की ओर से

भीष्म का चरित्र महाभारत में मुझे सबसे अधिक प्रभावशाली लगता रहा है । भीष्म को अपना 'क्रूस' स्वयं ही ढोना पड़ा है । वह एक ऐसे पात्र हैं जो अप्रसन्नता में भी प्रसन्न रहते दिखाई पड़ते है । आदर्शों की सलीब पर जीवन भर टंगे रहे । ईमानदारी से भरे हुए परन्तु अपने को निरन्तर धोखा देते हुए । वह सुहृदय हैं, परिष्कृति और प्रतिभा के धनी हैं; परन्तु पूरे महाभारत में अपने अस्तित्व को पदार्थवत् बनने देते हैं । जिसका आत्मिक पक्ष और नैतिक पहलू उपेक्षित रह जाता है और दुर्योधन उनकी सम्पूर्ण शक्तियों का दुरापयोग करता दिखाई पड़ता है । वह टैनिस की गेंद की तरह कौरवों पांडवों द्वारा अन्धी दीवार से बार-बार टकराने को विवश कर दिये जाते हैं । वह अपने बारे में इतना अधिक चीर-फाड़ कर सकने वाला अन्तर्मुखी ज्ञान रखते थे जितना शायद किसी आदमी के पास न हो; परन्तु वह बहिर्मुखी ही बनकर दूसरों की उपभोग की वस्तु बने रहे । पहले शान्तनु ने एक पदार्थ की तरह उनका उपभोग किया, फिर सत्यवती, विचित्रवीर्य ने और बाद में दुर्योधन ने इस सशक्त-शक्ति पदार्थ का इस्तेमाल किया । आत्मा को पूर्णतः समुदघाटित करने के स्थान पर; जीवन की परीपूर्णता को पाने के स्थान पर; आत्मशक्ति में ही अविश्वास करते हैं और अपनी सत्तात्मक भयदायक स्थिति के निष्कर्षों को अन्तिम सत्य मान लेते हैं । यद्यपि यह सारे निष्कर्ष उनके व्यक्तिगत बौद्धिक प्रयत्न की स्वाभाविक उपज हैं जिनके द्वारा वे सब कुछ ध्वंस करना चाहते हैं । एक अस्तित्ववादी ही बनकर भीष्म ने सुख, आनन्द, उल्लास को एकदम बाहरी चीज़ मान लिया क्योंकि इन्हें स्वीकार करने का अर्थ होता मूल सत्ता में कुछ मूल्यों को अन्तर्निहित मानना? जो भीष्म को और उसके अस्तित्व को किसी भी अतिक्रांतक (ट्रांसेडेंटल) चीज़ से जोड़ना नहीं चाहते?

मनुष्य का मूल स्वभाव वेदना और त्रास ही है, भीष्म इसी में लीन हैं । नैतिकता के समर्थक हैं परन्तु कर्मों के द्वारा इसका ही विरोध करते दिखाई पड़ते हैं । वह टूटे रथ चक्रों के सारथी की तरह हैं जो बार-बार रुक जाता है । अपनी मृत्यु के त्रास को ढोते हुए, मृत्यु इच्छा के वरदान से धनी हैं परन्तु इच्छा-जीवन से अभिशापित हैं । मनुष्य हमेशा मृत्यु से ही भयभीत रहता है, परन्तु भीष्म तो निरन्तर मृत्यु में ही जीते हैं । "तुम्हें जीने से पहले मरना होगा; अपने से घृणा करनी होगी और फिर जीना होगा, जीवित रहना होगा, शायद अगले'' (सोरेन कीर्केगार्द की डायरी') 100 वर्षों तक । भीष्म पर यह बात पूरी तरह लागू होती है । आधुनिक बोध इसबात की मांग करता है कि 'सच्चा ज्ञान वही है जो अस्तित्व के बारे में हो या अनिवार्यतः अस्तित्व से सम्बद्ध हो । जो ज्ञान अस्तित्व से असंबद्ध है, जो उसकी आन्तरिकता को नहीं छूता, वह ऊपरी और अमहत्त्वपूर्ण ज्ञान है । वस्तुपरक ज्ञान को व्यक्तिपरक ज्ञान से भिन्न करना होगा । वस्तुपरक दृष्टि हमें सोचने वाले व्यक्ति से अलग ले जाकर सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया में खो देती है-ये ज्ञान है गणित, दर्शन या इतिहास आदि । ऐसी स्थिति में व्यक्ति -सत्ता के प्रति उदासीनता चल सकती है । वस्तुगत दृष्टि के कारण वैयक्तिकता का कोई महत्त्व नहीं रहता, यह जिस मूल्य की सृष्टि करती है उसका महत्त्व अनुमानायित होता है । व्यक्तिपरक ज्ञान के लिए वैयक्तिक औचित्य जरूरी है । व्यक्तिपरक दृष्टि से उपलब्ध-सत्य इसी कारण आंतरिकता के औचित्य से प्रमाणित होता है, इसके लिये व्यक्ति को अपनी आंतरिकता में डूबकर सत्य खोजना पड़ता है । इसलिए केवल नैतिक और धार्मिक ज्ञान ही आवश्यक ज्ञान है । क्योंकि सिर्फ ये ही जानने वाले व्यक्ति की सत्ता को सापेक्ष मानते हैं । सिर्फ ये ही आंतरिक जगत् से सम्बद्ध है, इसीलिए सिर्फ इन्हीं में सत्य और अस्तित्व घुलमिल कर प्रकट होते हैं । आवश्यक सत्य हमेशा ही आंतरिक और वैयक्तिक होता है । मतलब कि

हमारी आंतरिकता ही सत्य है ।'' (एक्जिस्टैंशियलिज्म एंड मॉडर्न प्रेडिकामैंट-पृ. 39-40 कीर्केगार्द) यहाँ काँट के दर्शन की मूल भित्ति है- "मैं क्या जान सकता हूँ?'' कीर्केगार्द का उत्तर है कि 'सत्य वही जानता है जो अपनी आंतरिकता को पहचानता है ।'' इस महाकाव्य में भीष्म, शान्तनु, अम्बा के चरित्र इसी धरातल पर खड़े आपको मिलेंगे । यह पात्र अपनी आंतरिकता को पहचानते नज़र आते हैं । इसीलिए सत्य के पास पहुँचते हैं । वस्तुपरक दृष्टिकोण के स्थानपर यह पात्र व्यक्तिपरक, अस्तित्वपरक दृष्टिकोण को अपनाये हुए हैं ।

अम्बा एक ऐसी पात्रा है जो आधुनिक अस्तित्ववादियों की तरह ही संघर्षरत है, जिसे संत्रास भोगना पड़ा, एकाकीपन में जिसने जीवन बिताया, अजनबियत ही उसकी नियत्ति बनी रही, ऊबकाई और निराशा उसे आत्महत्या तक ले गईं । जीवन की निरर्थकता और अस्मर्थता ने उसे एक जन्म में पूरी तरह तोड़ ड़ाला, व्यक्तिगत अनुभवों से उसने स्वाबलम्बन की दीक्षा ली, परीस्थितियों को अपने अनुकूल ढालने के लिए निरन्तर झूझती रही । वेदना और त्रास उसने दो जन्मों तक भोगा । उसके चरित्र का ज्वलंत पहलू यह है कि उसने अपने अस्तित्व को पदार्थवत् होने से बचाने का निरन्तर प्रयत्न किया । जीवन की असंगति को उसने झेला । पदार्थीकरण, वेदना, निरर्थकता इत्यादि के द्वारा अपने जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया । अपनी भोगी हुई अनुभुतियों के बल पर इस जीवन को समझने का भरपूर प्रयास करती रही । अपने वातावरण में अपने को समाज से अलग करके रेखांकित किया । निराशाजनक स्थितियों में भी आशा को बनाए रखा । तीव्रदिशाहीनता, असंगति, अलगाव, भय और त्रास में जीते हुए भी 'स्व-शक्तियों पर' भरोसा किया । अपने जीवन, परिवेश में उलझी स्थितियों को समझने की शक्ति अर्जित कर अपने जीवन को दिशा दी एक सार्थकता दी ।

"आज हम जिस युग में सांस ले रहे हैं 'एक अभूतपूर्व संकट के भीतर से गुजर रहा है । आज का मनुष्य अपने स्वयं निर्मित वातावरण में एक उखड़े हुऐ प्राणी की तरह जी रहा है ।'' (आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद पृ. 127 डा. शिव प्रसाद सिंह) । उखड़े हुए मानव की आत्म पीड़ा का यह बोध जिसे बर्दिएफ ने पदार्थीकरण कहा है संपूर्ण चिंतन की आधारशिला है । मनुष्य इस विश्व में हमेशा ही एक पराभौतिक अकेलेपन का अनुभव करता रहता है । इस रचना के पात्र भी इससे अछूते नहीं हैं ।

आधुनिक मानव अस्तित्व का मौलिक तत्व है वेदना (एंग्विश) । वेदना, भय, त्रास और क्लांति आज के जीवन के अपरिहार्य रूप हैं । वेदना संसार की अवास्तविक्ता, क्षुद्रता और अतित्यता में उपजती है और हमेशा किसी अन्य जगत की और अभिमुख होती है । भय (फीयर), अन्तर्जगत् के खतरे का द्योतक है । क्लांति (टेडियम) जगत् की रिक्तता का बोध है । वेदना आशा संयुक्त होती है, भय और क्लांति हमेशा आशा रहित । त्रास (टैरर) उग्र, वेदना का संवेग है और यह मनुष्य को समूल झिझोड़ कर रख देता है । 'मनुष्य अस्तित्व की हर वस्तु स्वतन्त्रता से उपजनी चाहिए, उसी के बीच बढ़नी चाहिए और यदि यह स्वतन्त्रता की विरोधि सिद्ध हो तो निःसंकोच ध्वस्त कर दी जानी चाहिए ।' (ड्रीम ऐंड रीयलिटी पृ. 103 बर्दिएफ) ।

"स्वतन्त्रता सिर्फ उन्मुक्त इच्छा शक्ति ही नहीं है । जिसका उद्देश्य अच्छे बुरे में भेद करने की, या वरण की स्वतन्त्रता होता है, बल्कि स्वतन्त्रता सम्पूर्ण मानव रचना शक्ति का स्रोत है । रचनात्मकता (क्रियेटिविटी) ही इसकी परीक्षा का एकमात्र आधार है रचनात्मकता एक गहरी मानसिक

प्रक्रिया है यह मानव अस्तित्व के भीतर ईश्वरीय शक्ति का स्फुरण है । रचनात्मक प्रक्रिया ससीम के भीतर असीम को बांधती है । यह रचना की शक्ति ईश्वरीय प्रसाद है । 'देवव्रत भीष्म' के पात्र इसी रचनात्मक प्रक्रिया के भीतर ईश्वरीय शक्ति को अनुभूत करते हैं । कहीं कहीं घोर-निराशा-वेदना उन्हें ईश्वर से दूर भी ले जाती है केवल वह अपने सन्दर्भों में ही उसके अस्तित्व को अस्वीकार भी करते हैं । उन्हें जो भी ज्ञान अनुभव ने दिया है वे अनिवार्यत: अस्तित्व से सम्बद्ध है, वह उनकी आन्तरिकता को छूता है उन्हें आत्म-चिन्तन करने को विवश कर उन्हें अपने निर्णयों पर पहुँचने में सहायक हुआ है । भीष्म में यह देव के रूप में विद्यमान है और अम्बा की तो सारी भावधारा अस्तित्व-बोध में लबालब डूबी हुई है । उसका विद्रोह, उसकी असमर्थता, विवशता, ऊबकाई, आजनबियत, एकाकीपन, वेदना, निराशा, त्रास, भय, वैयक्तिकता, व्यक्तिपरक ज्ञान, व्यक्तिपरक दृष्टिकोण उसे आंतरिक सत्य तक ले जाते हैं और उसको भीष्म के अस्तित्व को, जो की पहाड़ तले दब चुका है, मन से चिन्तन कर उसे समझने में समर्थ होती है । उसकी प्रतिज्ञा से मुक्ति की कामना करती है और विजय प्राप्त करती है । मैंने पौराणिक सूत्रों की सुरक्षा करते हुए इनमें नवीनता, भावगत, विचारगत और कर्मगत, लाने का प्रयास किया है । महाभारत में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए जीवन के अन्तिम शोर पर पहुँचने वाले यही दो प्रमुख पात्र मुझे लगे थे जो आज के व्यक्ति की तरह ही संघर्षशील रहे; कभी मधुमक्खी की तरह और कभी रेश्म के कीड़े की तरह । मकड़ी के जाल में अपने कर्मों से ही फँसे भीष्म तो उसी में शरशय्या पर पहुँच जाते हैं । परन्तु अम्बा इस जाल को तोड़ पाने में समर्थ होती है । समझौतावादी व्यक्ति अन्त में सब कुछ खो देता है । परन्तु लक्ष्य के लिए मर मिटने वाला सब कुछ खो कर भी सब कुछ पा जाता है । भीष्म और अम्बा इन्हीं सत्य विचार बिन्दुओं के दानों शोरों पर खड़े हैं । इस महाकाव्य में प्राचीन और नवीन, इतिहास और कल्पना, व्यक्ति और समाज, धर्म और राजनीति, युद्ध एवं शान्ति, प्रशासन एवं प्रजा, व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और पदार्थ के बीच की खाईयों को पाटने का मैंने अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से प्रयास करते हुए भारतीय धर्म, परम्परा, जीवन मूल्यों की सार्थकता को भी अनदेखा नहीं किया । प्रबन्ध शिल्प का यहाँ तक सम्भव हो सका मैंने निर्वाह किया है । मुझे लगता है कि मैं इसमें किसी हद तक सफल भी हुआ हूँ । इस रचना की प्रेरणा स्वयं अन्तर्मन से ही प्रस्फुटित हुई । मैं उन सबका आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस मार्ग पर चलने से रोका नहीं अपितु प्रोत्साहित ही किया और उन विद्वानों का जिन्होंने अपनी इस रचना पर प्रतिक्रियाऐं लिख कर भेजी है विशेष रूप से आभारी हूँ, सहित्य-शिरोमणी-गुरुवर डॉ० धर्म पाल मैनी, डॉ० लालचन्द गुप्त 'मंगल', डॉ० मधु सन्धु, डॉ० हुकुम चन्द राजपाल; डॉ० बालेन्दु शेखर तिवारी, डॉ० हौसिला प्रसाद सिंह और डॉ० शोभा पराशर का ऋणी हूँ । सभी पाठक मेरी सीमाओं का ध्यान रखते हुए इस रचना से कुछ ना कुछ अवश्य ग्रहण कर पायेंगे और मेरा कवि-कर्म सफल होगा ऐसी मेरी धारणा है ।

डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस'

अध्यक्ष (हि. वि.)

एस. एस. एम. कॉलेज-दीनानगर (पंजाब)

दूरभाष-0186-28608

देवव्रत भीष्म

अनुक्रमणिका

ॐ

(क) जातीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य

भारतीय संस्कृति के आधार ग्रंथों में महाभारत का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसमें भीष्म का चरित्र अद्वितीय है । जिस तप और त्याग से वह जीवन-भर साधना करता रहा, उसका उल्लेख अविस्मरणीय है । सच तो यह है कि भीष्म भारतीय पुराण-वृत्त के प्रतिज्ञा-पुरुष हैं । उनके व्यक्तित्व को हृदयगंम करना और उसे परम्परागत महाकाव्य-परायण चेतना के अनुरूप अभिव्यक्ति प्रदान करना कोई सुगम कार्य नहीं । डॉ. नन्दा ने अपने क्रियाशील कवि के माध्यम से जहाँ अनेक काव्य-कृतियों का सृजन किया, वहाँ उसी क्रम में इस महाकाव्य को भी रूपायित किया । बाल्मीकि के राम की तरह ही भीष्म का चरित्र भी उनको 'वचन का धनी' बनाता है । उनकी कौरवों-पांडवों के मध्य द्विधा-विभक्ति मानवीय दुर्बलताओं को उजागर करती है । उनका अखण्ड ब्रह्मचार्य उनकी तपश्चर्या और चरित्र की दृढ़ता को प्रकट करती है, उनका रण-कौशल उनके पौरुष की प्रतीति कराता है । उनकी इच्छा-मृत्यु की स्ववशता उनकी संकल्प-शक्ति की अविचलता को उद्घाटित करता है तथा दुर्योधन के सम्मुख उनकी खुल-खुल पड़ने वाली विवशता इस विराट् यथार्थ को रेखांकित करती है कि सत्ता की जकड़न में फँस कर विवेकशील और तेजस्वी व्यक्ति भी असहाय होकर रह जाते हैं । द्वापर में यह बात जितनी सच्च थी, उतनी ही आज भी है । सत्ता की मुखापेक्षिता के कारण व्यक्ति की तेजस्विता मंद हो जाती है, यह कटु यथार्थ भीष्म के चरित्र से और भी प्रासंगिक हो उठता है । मूल्यध्वंस के इस युगचरण में भीष्म का केन्द्रीय चरित्र सत्यभाषण, दृढ़व्रतित्व, शौर्य, पितृभक्ति, आस्थामयता, मानवीय संवेदना आदि अप्रतिम गुणों का संदेश देता है ।

इस कृति में समसामयिक परिवेश की व्यंजना करते हुए भीष्म के चरित्र से जुड़ी हुई कथा के माध्यम से प्रबन्ध-शिल्प को छंदोबद्ध रूप में प्रकट किया गया है । कथा व केन्द्रीय चरित्र के चयन में कवि-विवेक तो प्रकट है ही । विश्वास किया जाता है कि सर्जना कि अनेक संम्भावनाओं के साथ पाठक इस कृति को हृदयंगम करेंगे और मूल्यहीनता की इस आपाधापी के बीच जो कुछ भी मूल्यवान् है, उससे मानव-जीवन को सुमृद्ध करेंगे । महाकाव्य का संकल्प जातीय संस्कृति का समग्र चित्र प्रस्तुत करना अपने आप में गारिमामंय लक्ष्य है जिसकी पूर्ति डॉ० 'आस' ने इस महाकाव्य में की है । कवि बहुतायत से इस में सफल हुआ है । पाठकीय विवेक सार-ग्राही होता है । मुझे विश्वास है, इस दृष्टि से वह इस महाकाव्य के महत् से अपने आपको अभिसिंचित करते हुए आनन्दोपलब्धि करेगा ही । डॉ० नन्दा इस महत् प्रयास के लिए विशेष बधाई के पात्र हैं । उनका कवि और अधिक यशस्वी बने-इसी मंगलमकामना के साथ ।

साहित्य-शिरोमणि डॉ० धर्मपाल मैनी
आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष (हिन्दी विभाग) पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

......

(ख) देवव्रत भीष्म एक सफल अस्तित्ववादी महाकाव्य

देवव्रत भीष्म' डा० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस' का एक पूर्ण-महाकाव्य है इसमें कवि ने देवव्रत के चरित्र के आन्तरिक एवं बाह्य व्यक्तिगत और सामाजिक, राजनैतिक जीवन पर प्रकाश डाला है । साथ ही ऐसी समस्याओं के प्रति भी सजग रहा है जो इस अत्याधुनिक युग में विद्यमान हैं । अस्तित्ववादी दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हुए अम्बा के चरित्र का विश्लेशण एवं विवेचन किया है । इस रचना में कवि के यथार्थवादी, प्रगतिवादी विचारों का ही अधिक प्रस्फुटन हुआ है ।

देवव्रत भीष्म' हिन्दी काव्य में अपने ढंग का महाकाव्य है जिसमें पौराणिक आधार पर खड़े हो

कर कवि ने आधुनिक युग में व्याप्त व्यक्ति के अस्तित्व पर आए संकट को दूर करने के लिए उसे अतिनर या अतिनारी बनने का परामर्श दिया है । इसका मुख्य पात्र देवव्रत है जो पारीवारिक शृंखलाओं से झकड़ा हुआ एक बलि पशु कि तरह मर्यादाओं की शूली पर टांग दिया गया है । कवि की मौलिकता इसमें है कि उसने भीष्म के अन्तर्मन को कुरेदने का सफल प्रयास किया है:-

भीष्म हिरण तो दौड़ रहा था;
मन संताप एकाकी क्षणों में
उसके पगों को रोक रहे थे
प्रेम अनुराग शीतल छाया में
....
तपन सदा तो हर लेती है
देव इसी छाया को ढूँढे !
भीष्म दूर तो भाग रहा था,
कैसा बटा हुआ व्यक्तित्व है ? (पृ. 80)

मरु की जलती रेती पर माता भी इन्हें छोड़ गई है, पिता वृद्ध-दीपक से बुझ रहे हैं, कुछ वर्षों की सुखलिप्सा की खातिर भीष्म के सारे जीवन को ही दाव पर लगा दिया गया है । वपु ने तो अन्धकार भरा है, विरागी के मन में राग उत्पन्न हुआ । पराशर ऋषि ने जिस रूपवती नारी की मीन-गन्ध को दूर कर सुगन्ध भरी थी वही ज़हर बनकर फैली थी, देव को भीष्म ही करने के लिए । व्यक्ति आत्म-सुख के हित ही पर-हित को ठुकरा देता है, मर्यादा का रूप लेकर आदर्श का स्वरूप सजा कर व्यक्ति, धर्म, कर्त्तव्य बनकर कैसे व्यक्ति को ही छलता है (पृ. 81) ।' 'स्व छलना' में कितना सुख है/'पर' को बलि तो कर जाता है;' से लेकर पत्थर' ही तो भीष्म था इसकी पूजा जग करता था' तक में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है ।

इसमें कवि ने सामाजिक विसंगति को दिखाने का प्रयास किया है कि जो आदर्श बना दिये जाते हैं उनका जीवन कंटकों की शैंय्या पर ही लेटा मिलता है । भीष्म और देवव्रत का अन्त:द्वन्द्व साधारण व्यक्ति और आदर्श व्यक्ति का सूचक है । 'मिली दासता भीष्म तन को' और प्रताड़ना मिली है मन को' (पृ. 77) 'भीष्म तेरे मन का वह मोती/कैसे अस्तित्व को झुठलायेगा, संकल्प किया तो था भीष्म ने/देव इसे स्वीकार न करता/कभी बैठा मैं सोच रहा हूँ/कैसा कवच मन को पहनाया? मर्यादा का बन्धन है बाहरी/तन पर तो भीष्मता डाली/अन्तर्मन पर बन्धन कैसा? (पृ. 78) साथ ही देव कहता है :-

व्यक्ति के विकास केन्द्र में;
प्रेम-राग विराग ही रहते; (पृ. 72)

मानव अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष करता है । कभी रेशम के कीड़े की तरह और कभी मधुमक्खी की तरह इस जीवन में निरन्तर क्रियाशीलता बनी रही है व्यक्ति कल्पना और यथार्थ में एक त्रिशंकु बना रहता है । स्व की पहचान नहीं कर पाता, घोर उदासी को निमंत्रण देता है । स्व हाथों से ही जीवन की लता उखड़ जाती है, स्व-चाहना से ही अपमान मिलता है । बालू से ही भवन बनाना मन चाहता है जो की एक ही झोंके से टूट जाता है । सदैव निश्चित लक्ष्य सामने रख कर ही अस्तित्व का निर्माण हो सकता है । इसके लिए दृढ़ संकल्प के साथ आगे बढ़ना पड़ेगा नही तो जीवन निरर्थक हो जायेगा । अम्बा कहती है 'मैं भाग्य की रेखाओं का दृढ संकल्प से स्व निर्माण करूँगी,' 'ससीम से ही असीम को पकड़ सकूँ मैं ।' 'अम्बा आत्म चिन्तन पर्व' में पूर्ण अस्तित्ववादी और प्रगतिशील विचारधाराओं के प्रति कवि की आस्थाएं स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं :-

'मैं हूँ मैं न वस्तु मात्र हूँ,
नर समाज की न कठपुतली मात्र हूँ । (पृ. 153)
अग्नि सा अस्तित्व तो मैं चाहूँगी;
ईश-रहित इस जगती में नारी को
अन्धे जीवन मूल्यों से टकराऊँगी । (पृ. 154)

एक अस्तित्वादी की तरह अम्बा भी अपने सन्दर्भों में ईश की मृत्यु हुई स्वीकार करती हुई कहती है

'मेरे-सन्दर्भों में मृत्यु हुई क्या उसकी?'

साथ ही वह अतिनारी बनने की बात भी कहती है । 'अतिनारी अस्तित्व बिना ओढ़े/भीष्म समय से न टकरा पाऊँगी ।' (पृ 155) इस रचना में वर्तमान अवस्थाओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की स्पष्ट गूँज सुनाई पड़ती है जब कवि कहता है :-

'समाज विकलांगी प्रथाओं कर शिकार;
नष्ट होना तो चाहिए ऐसा नर समाज?''

तूफानी शक्तियों की प्रचंड लहरें हों, उथल पुथल हो उसी पर शान्त ठहर कर चलना होगा अस्तित्व की शक्ति परिमित है, भले ही मन्थर है (पृ. 156)। कवि घोषणा करता है, 'शक्ति-हीन नारी कहाँ है अस्तित्व?/अम्बा दुर्जेय कठोर धरो व्यक्त्वि ।'

अस्तित्वाद के सभी लक्षण इस महाकाव्य में विद्यमान है; निराशा, वेदना, भय, क्लांति, त्रास, घुटन, एकाकीपन, अजनबीपन, संघर्ष-शीलता, स्व शक्ति पर विश्वास, रूढ़ियों को काटने की क्षमता, जीवन के प्रति आस्थावादी दृष्टि कोण, सुन्दर के प्रति आकर्षण, लक्ष्य की एकाग्रता, विद्रोह की भावना, हृदय की शक्ति में विश्वास, देहात्म-बोध, अतिमानव बनने की उत्कट अभिलाषा, दु:खों से भरा जीवन और भावुकता निरन्तर बनी रहती है।' भाव निरन्तर जल की धारा से बहते हैं?

जन्म मृत्यु के शोरों से बंधे चलते हैं;
....
व्यक्ति कभी न तोड़ आज तक पाया;
पत्थर हो, फिर है संग लुढ़कता आया ।'

संकटों से व्यक्ति बनता है 'संकटों से ही सदैव व्यक्ति जूझता है, संकटों से महत्व और पाता है' भले ही यह जीवन त्रासदी पूर्ण है परन्तु फिर भी वह टूट नही पाता क्योंकी 'स्व' के प्रति उदासीनता इसमें नहीं'। कवि कहता है 'व्यक्ति ही यथार्थ को पा जाता है जब प्रत्येक पल उसे अस्तित्व की चुनौती देता है । कवि का मानना है कि 'भीष्म का अस्तित्व पर्वत तले' दबा हुआ है । साथ ही डा० 'आस' का यह भी मानना है :-

'विद्रोह की भावना क्यों न जगे?
यह कैसा अतिमानव हृदय तूँ समझ,
प्रयुक्त शासन तो उसका स्व करें;
कैसी मर्यादा-आदर्श हैं गढ़ दिये ।''

आत्म चिन्तन से आदमी 'स्व को खोज सकता है, आत्मगत सत्य ही जगत बनते हैं, इससे इतर और कोई सत्य नहीं है, शून्यता से बाहर 'स्व' को खोजने पर ही सत्यासत्य समझ में आ सकते हैं; भाव-विचारगत स्वतन्त्रता ही हमारे अस्तित्व को गढ़ सकती है ; यह सामाजिक कुप्रथाएं, कुआदर्श, कुमर्यादाएं हमें दासत्व ही दे रहे हैं, स्वत्व के अधिकार को भी छीन रहे हें, 'नारी कभी भी पदार्थ नहीं हो सकती, 'चेतना पर भी सामाजिक प्रतिबन्ध लगाना कहाँ संगत है? -

"बलि पशु तो कभी नारी नहीं;?
देवता ने भी जिसे हो ठुकरा दिया,?

स्वर्ण-माला के हैं मनके जो छूटते,
धूली में मिल क्यों मूल्य खो रहे?
टूटी हुई माला बन कर क्यों रहूँ?
नर पगों के नीचे क्यों दब कर मरूँ?
मेरा अपना भी तो एक अस्तित्व है?
उसको पाने के लिए निरन्तर कर्म है ।
नासिका तक जल में डूबी हुई ;
डूब जाऊँ या मैं उभरूँ प्रश्न है?
लज्जा, मर्यादा निभाऊँ तो मृत्यु वरूँ,
क्यों न समक्ष पहुँच भीष्म तुमको वरूँ? (पृ. 166)

इस महाकाव्य मे निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा है, साथ ही नियति, भग्यवाद में भारतीय विश्वास भी बना रहा है । पूर्ण मुक्ति की कामना कवि करता है:-

विचार-कर्म संयमित हो जब चलते हैं,
उन्नति के अंकुर स्वयं फूट पड़ते हैं,
स्वतन्त्र भाव-विचार-कार्य प्रभु गुण है;
पूर्ण मुक्ति के यही प्रथम सूत्र हैं ।

कवि का मानना है के पराधीन होना ही दुखी होना है, स्वाधीन रह कर ही व्यक्ति और साम्राज्य दोनों सुखी हो सकते हैं और इसी में इनका हित है । इसमें इस बात पर भी जोर दिया गया है कि समय व्यक्ति के साहस और धैर्य की परीक्षा लेता है:-

समय - परीक्षा रह रह लेता,
नई - विपदाएं सामने लाता,
विपत्तियों में मानव बनता है;
ज्ञान-शील कर्म से अरे निखरता ।
परीक्षा से तो जीव है बनता
आग में स्वर्ण है अरे निखरता
सदाचार, सत्य-पुरुष है गढ़ता,
संकट-काल देव भीष्म करता । (पृ. 88)

'विधाता भी पल-पल परीक्षा लेता है, नये नये प्रतिरोध समय देता है, जलधि लहरें मृत्यु से टकराती हैं, दिशा, सीमा, श्रम लहरों को तट पर ले आती हैं ।' 'भाग्य विचित्र होता है,/गति जान सका न कोई/कुछ भी दुष्कर नही है इसके लिए, यह बड़ा छलि-कपटी है ।' लिखा कौन टाल सकता है । नियति प्रबल है । ललाट में लिखी लिपि को पड़ना तो बहुत कठिन है; जब इससे दुर्भाग्य जुड़ जाता है तो रूप, कुल, शील, विद्या, यत्नपूर्वक किये कार्य कुछ भी फल नहीं दे सकते ।

इस तरह महाकाव्यकार ने इस रचना में गहन विचारों, भावों, और अनुभवों का सुन्दर मिश्रण करते हुए जीवन के पथ में आगे बढ़ने का सुझाव दिया है । 4

विवेच्य कृति में 14 पर्वों में कथा का विभाजन कर कवि ने परम्परा का निर्वाह करते हुए इसमें सात से अधिक सर्गों की काव्य-शास्त्रीय पद्धति को अपनाया है । सर्ग के स्थान पर पर्व' कहकर इसमें महाभारत की पर्वों की पद्धति को ही ग्रहण किया है ।

इस रचना का नामकरण प्रधान पात्र देवव्रत/भीष्म के नामपर करते हुए भीष्म के दोनों नामों का ग्रहण किया है । देवव्रत या भीष्म दोनों में से एक नाम भी रखा जा सकता था परन्तु कवि देवव्रत

के रूप में एक साधारण-सामाजिक व्यक्ति की मनोदशा का वर्णन करते हुए भीष्म के रूप में एक असाधारण-आदर्श-व्यक्ति का ग्रहण करता है । इस बात की पुष्टी इस महाकाव्य के पंचम पर्व 'देवव्रत भीष्म प्रतिज्ञा बद्ध' और षष्ठ पर्व 'भीष्म देवव्रत द्वन्द्व' से हो जाती है । महाकाव्यकार ने प्रियप्रवास, साकेत, रश्मिरथी, जयभारत, उर्मिला, जैसी रचनाओं की पद्धति को अपनाते हुए नामकरण किया है साथ ही आधुनिकता का समावेश करते हुए 'देवव्रत भीष्म' नामकरण कर भीष्म के व्यक्तिगत और सामाजिक स्वरूपों की ओर संकेत ही नहीं किया अपितु इस कृति में उसे निभाया भी है- यह कवि की सूजबूझ और प्रतिभा का ही प्रमाण है ।

महाकाव्य की वर्णन रूढ़ियों का निर्वाह भी इस रचना में कवि ने बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से करते हुए उसपर आधुनिकता की छाप छोड़ी है । इसके आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में सरस्वती की वन्दना यह कह कर ही है "कृपा अपार जो भाव मिला है, सरस्वती से आलोक खिला है ।
हृदय सीप में मोती पनपा, माँ का यह वरदान मिला है । ''

सूर्य की वन्दना करते हुए कवि ने भीष्म के महान चरित्र की व्याख्या भी कर दी है, जिसे हम वस्तु-निर्देश के रूप में ले सकते हैं । सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा की रूढ़ि का निर्वाह भी कवि ने विशेष ढंग से किया है, यह कहकर 'स्व- के हित जीवन क्या है?/अन्धकार में ही रहना है ।'' सूखे पत्तों सा जलना है/पूष्पों का रस हीन होना है ।' 'गरल नही अनल पान है/तेज पुंज की पहचान है।' 'फूल कभी तो रस नहीं पीते/फल तो अपना स्वाद न जाने ।' इत्यादि पंक्तियों के द्वारा कवि ने इन काव्य रूढ़ियों का ही निर्वाह किया है । मंगलाचरण, आर्शीवचन, वस्तु निर्देश, सजज्न प्रशंसा व दुर्जन निन्दा प्रसंगवश करदी है, जीवन के यथार्थ को भी उजागर किया है । 'सुवर्ण पात्रों में सत्य ढका है/सूर्य तेज से खुल जाता है ।' इस में जीवन को समग्र रूप में ग्रहण किया गया है । व्यक्ति के आन्तरिक और बाहरी दोनों चरित्रों का उद्‌घाटन महाकाव्यकार ने बड़ी कुशलता के साथ किया है । देवव्रत साधारण व्यक्ति का प्रतीक बन जाता है जो केवल अपने तक ही सीमित रहता है । और भीष्म एक सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आदर्श व्यक्ति का प्रतीक है जिसका लक्ष्य है "परहित ही जीवन निधान है/"पर संतोष में ही पहचान है ।''

कथा का निर्देश भी स्पष्ट है 'गांगेय को वरदान मिला है/गंगा का जो दूधपिया है; रोम रोम में तेज भरा है,/सूर्य ही तो इसमें सिमटा है ।'' कहने का अभिप्राय है कि कवि ने काव्य-रूढ़ियों को निभाने का सफल प्रयास किया है साथ ही आधुनिक दुष्टिकोण से इसे नये ढंग से अपनाया है ।

छन्द विधान के दृष्टिकोण से यह रचना महत्वपूर्ण कही जायेगी । दण्डी ने यद्यपि एक ही छन्द में सर्ग-रचना का निर्देश किया था, किन्तु प्रवृति आचार्य विश्वनाथ ने इसमें स्वतन्त्रता भी दी है । इस रचना में भी विश्वनाथ के दृष्टिकोण को ही ग्रहण किया । कहीं वर्णिक और कहीं मात्रिक छन्दों दोनों का ही प्रयोग कवि ने किया है चोपाई, रोला, सोरठा के छन्दों को तो अपनाया ही गया है । साथ ही कवित्त, सवैया, छपप्य के भी दर्शन होते हैं अधिकाँशतय मिश्रित छन्दों का प्रयोग कवि की अलग पहचान बन गई है । आधुनिक-ग़ज़ल छन्द को भी ग्रहण किया है । कहीं कहीं ग़ज़ल की तर्ज पर पहली और दुसरी पंक्ति का तुकांत निर्वाह है । अधिकाँश पर्वों में दो-दो पंक्तियों के दो-दो पदों को एक साथ रखकर कवि ने अपनी मौलिक छन्द बद्धता को प्रमाणित किया है, ग़ज़ल के रदीफ, काफ़िया, का निर्वाह है । ग़ज़ल के 'मतला' को ही अधिक अपनाया गया है । यह दोहा-रोला और सोरठा के भी निकट पड़ता है। क्योंकि महाकवि ग़ज़लकार भी है इस प्रकार उन्होंने उर्दू और हिन्दी के छन्दों का सुन्दर मिलन कर संगीतत्मकता और लय-बद्धता को धारा प्रवाहित कर दिया है यह छन्दगत निपुणता इस रचना को पूर्णतय गेय बना गई है ।

"शैली और विषय की पारस्परिक अनुकूलता काव्य की प्रभावात्मकता के लिए सर्वथा अनिवार्य है

है ।'' यह गुण देवव्रत भीष्म' में आरम्भ से लेकर अन्त तक विद्यमान है । विषय को दृष्टि में रखते हुए ही कवि ने उसके अनुकूल ही शैली को अपनाया है । कवि ने यहाँ वर्णन प्रधान शैली को अपनाया वहाँ नाटकीय और सवांद शैली का भी प्रयोग किया है । कहीं कहीं विश्लेशण शैली को अपनाया गया है मूर्त और बाह्य जगत् के साथ साथ अमूर्त और आंतरिक जगत से संबद्ध वर्ण्य-विषय अन्तर्मन की गहनता में प्रवेश कर सूक्ष्म और अमूर्त विश्लेषण और अभिव्यक्ति का सफल प्रयत्न कवि कर सका है । डॉ 'आस' की शैली में भाव और विचार का विश्लेषण तो है ही साथ ही उसमें वस्तु-वर्णन भी बहुत ही सहज, बोधगम्य, सरल और प्रभावोत्पादक भाषा में हो सका है । शैली में ऋजु-सरल गति, स्फीतता, प्रवाह, पदलालित्य, भावों की गहनता, अर्थ गांभीर्य, ओज और विशदता, गति और लय, शक्तिमत्ता और प्राणवत्ता के साथ साथ गरिमा और भव्यता के भी दर्शन इसमें सहज रूप से ही हो जाते हैं । देवव्रत भीष्म' के अनेक स्थलों पर श्रेष्ठ कवित्व का परिचय मिल जाता है । डा० नन्दा की शैली पर छायावादी रचना शैली का प्रभाव भी कहीं कहीं देखा जा सकता है । 'शान्तनु अन्तः वेदना, पश्चाताप' पर्व और 'भीष्म देवव्रत द्वन्द्व' में यह प्रभाव बहुत अधिक मुखुर है ।' शैली की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का वैभव, सूक्ष्म और समर्थ कल्पना का चमत्कार इस कृति में मिल जाता है । 'आस' की शैली में प्रसाद गुण व्याप्त है, शैली परिष्कृत है उसमें स्फीतता है, अभिव्यजंना की गरिमा है, महाप्राणता है, भव्यता है, अलंकरण है, उदात्तता है, गति है, लयबद्धता है, संगीतात्मकता है, साथ ही कहीं पर भी कलिष्टता या दूरूहता आपको नहीं मिलेगी । एक सफल महाकाव्य की शैली के सभी गुण इसमें विद्यमान है । इसकी शैली में अभिव्यंजना है, भावों-विचारों का सुन्दर अलंकरण करने में भी कवि सफल हुआ है । शैली की इस उदात्तता के कारण डा० 'आस' स्थूल और सूक्ष्म, वस्तु और आत्म, इतिहास पुराण और मनोविज्ञान, व्यक्ति और समाज का सुन्दर समन्वय कर सकें हैं ।

वातावरण के निर्माण में इन्होंने अद्भुत क्षमता दिखाई है । 'उद्य पर्व' को पढ़ने के उपरान्त ही यह स्पष्ट हो जाता है । गंगा की लहरों को बाणों से थामना, सूर्य का मानवीकरण, पूष्ठ-भूमि का निर्माण करने में प्रकृति चित्रण प्रसशंसनीय है । यहाँ पर युद्धों का वर्णन हुआ है वह भी देखने योग्य है । गंगा का यमुना को पकड़ने के लिए दौड़ना और अन्तः में प्रयागराज में उसे अपने में ही लीन कर लेना इत्यादि वर्णन वातावरण निर्माण में अत्यन्त सहयोगी हैं । सूर्य का ही धरा से नीचे उतर जाना-दिन को ही रात कर देना , हवायों का ठहर जाना, पक्षियों का चहकना बंद हो जाना अनेक ऐसे वर्णन है । जो वातावरण को और अधिक प्रभावोत्पादक बना देते हैं । कहीं कहीं कुछ ही शब्दों में विस्तृत फलक पर विराट चित्र अंकित हो जाते है । अनेक चित्रों में ओज है, भव्यता है, मनोरमता है, गति है । कवि ने कोमल भावनाओं जैसे प्रेम-विरह, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण का वर्णन कोमल बिंब-विधान के माध्यम से किया है । हृदयगत भावों को ही नहीं डा० नन्दा ने चिन्तन की भी विशेष निभ्रान्त और सटीक व्याख्याएं की है ।

जीवन के अनेक मार्मिक तथ्यों का वर्णन डा० 'आस' ने अपने ढंग से ही किया है:-

सेवा कार्य तो मन बहुत कठिन है;
पर इसमें ही तो आनन्द भरा है;
योगी जन भी तो इससे हैं घबराते;
मन का आनन्द पर छोड़ न पाते । (पृ. 89)

"भीष्म बल अग्नि में समिधा ही था;
सत्यवती इच्छा यज्ञ में जलता नित था ।'

चित्रमयता 'आस' के काव्य का विशेष गुण है । प्रकृति के विराट और कोमल, उग्र और मनोरम रूप से लेकर मानव-सौदर्य और हावों- भावों के अनेक गतिमान और स्थिर चित्र देवव्रत भीष्म' में अंकित

है । लहरों का एक चित्र देखिए:-

'सुख की एक गहरी निद्रा में, रमणीयाँ तो लेटी लगती थीं,
स्वप्न उमंगों की मौजों पर; पलकें ओंठ मुस्कान भरी थीं । (पृ. 5)
मन-कुसुम की चंचल सुगन्धि कुमुद खिले चन्द्र किरणों से
सुर्य किरण से है झुलसाते, पुष्प सुगन्ध को हैं मुझति । (पृ. 12)

प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में अनुपम चित्रण मिलता है साथ ही मानव की मार्मिक स्थिति को व्यक्त करने में भी प्रकृति का सहारा लिया गया है । भीष्म से जब प्रतिज्ञा करवाने का सत्यवती और निषादराज ने प्रयास किया तो उस स्थिति में भीष्म की अवस्था का चित्र देखिए :-

मन में अमावस चढ़ आई, चन्द्र तो जग ने लूटा था
वृक्षों से छाया को छीना, पतझर तो ही ठहर गया था ।
मधुऋतु को कैद किया था, फूलों पर तुषार गिरा था ।
पक्षी से तो पंख ही मांगे, कोयल से वाणी मांगी थी
किरणों को भी तोड़ दिया था, उनसे तो ज्योति मांगी थी । (पृ. 78)

इस प्रकार प्रकृति के स्थिर और गतिमय अनेक चित्र इस महाकाव्य में है । इसका कोमल रूप भी है और कठोर रूप भी है ।

लाक्षणिकता का यहाँ तक प्रश्न है इस महाकाव्य में अनेक उदाहरण मिल जाते है लक्षणा-व्यंजना के सभी भेद प्रभेदों के कितने ही सुन्दर उदाहरणों से यह कृति भरी पड़ी है । सांकेतिकता और लाक्षणिकता के आग्रह के लिए ही डॉ 'आस' ने प्रतीकों का भी काफी प्रयोग किया है ।

जीवन दर्शन के दृष्टिकोण से कवि ने आधुनिक भाव बोध, विचार बोध का पूर्ण परिचय दिया है । यह रचना पूर्णत: एक अस्तित्वादी रचना है । इसकी खूबी यह है कि भारतीय संस्कृति की क्रोड़ में से इस नवीन विचारधारा के उदाहरण खोज निकाले गए हैं । महाकाव्य के परंपरागत लक्षणों का निर्वाह भी कवि ने किया है । अम्बा के चरित्र को कल्पना के रंगों से रंगते हुए एक सतरंगी इन्द्रधनुष बुन दियाँ है । जिसने इसकृति को प्रासांगिक बना दिया है । भीष्म की अँतर्वेदना, शान्तनु का विरह और पश्चाताप, शान्तनु का अध्यात्मिक चिन्तन भीष्म और देवव्रत का अन्तर्द्वन्द्व, अम्बा और पांचाली का विद्रोह इत्यादि में कवि ने यहां मौलिक उद्‌भावनाये की हैं वहाँ अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय भी दिया है । यह एक मानवतावादी महाकाव्य है जो भारतीय जीवन मूल्यों की आधारशिला पर खड़ा होकर व्यक्ति को अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देता है । यह प्रेरणा जहाँ व्यक्ति को है वहाँ राष्ट्र और समाज के लिए भी उतनी ही सार्थक है ।

डॉ॰ लाल चन्द गुप्त 'मंगल'
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

(ग) प्रबन्धकर्म के व्रत का सुफल

काव्य मानव मन की अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है । यह जीवन की वह व्याख्या है, जो कवि की कल्पना और संवेदना से निखर कर प्रभावशाली कला बनकर सामने आती है । कविता वह कला है जो चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और यथार्थ के अनगिनत अर्थ परोसती है । अपने आपको अभिव्यक्त करने की इच्छा और मानवी संवेदना के प्रति अनुराग की स्वाभाविक चेतना ही कवि को कविता रचने के लिए प्रेरित करती है । कविता लोकमंगल करती है, शाश्वत सत्य से परिचित कराती है, आनन्दित करती है और मानव व्यवहार से जोड़ती है । चाहे वह प्रबन्धरूप में हो या स्फुट कविताओं की शक्ल में, कविता के साथ मनुष्य का अपरिहार्य रिश्ता रहा है । कविता चाहे

किसी भी पक्ष को उजागर करें, किसी भी बन्ध में रची जाए, यदि उसमें जीवन के अनुभवों का साराश है और अपने पाठकों; श्रोताओं पर प्रभाव डालने की क्षमता है, तो ऐसी कविता अवश्य ही श्रेष्य है । कविता के श्रेष्य शिखर का स्पर्श करने के लिए हिन्दी कविता के एक हजार वर्षों के इतिहास में न जाने कितने लोग लगातार सक्रिय रहे हैं । आज की हिन्दी क'वेता विभिन्न स्तरों पर रहने वाले लोगों और विभिन्न काम करने वाले हाथों से लिखी जा रही है । स्वभावत: उसमें जीवन के बदलते हुए दृश्यों की अभिव्यक्ति है और ढेर सारी प्रवृत्तियों का कोलाहल भी । ऐसे में कभी कविता की वापसी का शोर मचता है तो कभी कविता के दिवंगत होने की अफवाह फैलती है । इस पृष्ठ भूमि में कविता की हर नई किताब एक सवाल उछालती है ।नई आशाएँ जगाती है ।

जबकि प्रबन्धकाव्यों की लोकप्रियता अपने नीचतम दौर में है ओर महाकाव्य पढ़ने-देखने की फुरसत किसी के पास नहीं रह गई है । भारतीय भाषाओं में महाकाव्य-खण्डकाव्य-एकार्थकाव्य रचने की ललक पूरी तरह समाप्त नहीं हो गई है । पुरानी पीढ़ी के अवशेषों से लेकर नई उमर की नई फसलों तक में प्रबन्ध काव्य के इलाके में हाथ आजमाने की भूख कहीं न कहीं मौजूद है । नतीजतन हिन्दी में हर वर्ष पाँच महाकाव्य और बीस खण्डकाव्य तो छपते ही हैं । यह अलग चर्चा और चिन्ता का विषय है कि इन प्रबन्ध रचनाओं में से कितनों की 'नोटिस' ली जा रही है । अधिकांशत: उपेक्षा और अलोकप्रियता को झेल रही प्रबन्धात्मकता को अपनाने वाले दु:साहसी कवियों की कतार में डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस' भी शामिल हैं । पहले खण्डकाव्य 'गंगा' और अब यह महाकाव्य देवव्रत' भीष्म' ! गीत और ग़ज़ल लिखते-लिखते प्रबन्धात्मकता की धार पर उतरे कवि डॉ० 'आस' का यह पहला महाकाव्य है-शास्त्र की पारम्परिक परिभाषाओं के निकष पर महाकाव्य की अर्हताओं के अनुरूप काव्यकृति ! लेकिन आज चौदह पर्वों में विश्रुत कथा, उदात्त चरित्र और महान विचारों को लेकर प्रबन्ध काव्य रच देना ही महाकाव्य की प्रासंगिकता और पठनीयता के लिए पर्याप्त नहीं है । देवव्रत भीष्म' के रचनाकार का मूल्यांकन सर्जना के नए प्रतिमानों और संकल्प की उत्तरआधुनिक दिशाओं के आलोक में करना होगा । छन्द विधान, वाक्यबन्ध, शब्द चयन और संरचना के कुछ अवगुणों पर चित न धरते हुए यदि कवि डॉ० 'आस' के सर्जनात्मक संकल्प का अनुशीलन किया जाय तो यह महाकाव्य प्रभावित करेगा ।

महाभारत कथाश्रित प्रबन्ध काव्यों में गंगापुत्र भीष्म के चारित्रिक औदात्य को बार-बार अभिव्यक्ति मिली है । इस नाते देवव्रत' भीष्म' का कथासूत्र नया नहीं है । नया है इसमें अंकित भीष्म का सोच और सघन अंतर्द्वन्द्व है । नया इसमें अंकित अम्बा का चिन्तन और संघर्ष है । इस महाकाव्य का प्रारम्भ गंगा के देवोपम देह-लावण्य की वर्णना से हुआ है, जिसने महाराज शांतनु को आकृष्ट किया । महाकाव्य का समापन गंगापुत्र भीष्म के स्वर्गारोहण के साथ हुआ है । बीच की सारी घटनाएँ महाभारत में हैं और महाभारत पर आश्रित अन्य काव्य कृतियों में भी । कवि डॉ० आस ने इस विश्रुत कथा में कुछ नए प्रसंग सम्पृक्त किए हैं । जैसे उनकी अम्बा सब ओर से निराश होकर कार्तिकेय की आराधना करती है और कार्तिकेय से कमल पुष्पों की माला प्राप्त करती है, जिसे पहनने वाला भीष्म वध का कारण बनेगा। अम्बा वह माला द्रुपद द्वार पर टांग जाती है और कालान्तर में द्रुपद-सुता के रूप में जन्म लेकर वही माला पहन लेती है। इसके बाद वह द्रुपद सुता तपस्या से शिखण्डी का पुरुषरूप प्राप्त करती है । यह कवि डॉ० 'आस' की मौलिकता ही है कि अम्बा गहरे चिन्तन के बाद भीष्म-वध का संकल्प नहीं लेती, अपितु भीष्म-प्रतिज्ञा से मुक्त करने का व्रत लेती है । इस नए महाकाव्य के भीष्म का मन अपराधभावना के धिक्कार से ओतप्रोत है । भीष्म अम्बा के सामने स्वीकारते हैं कि वह अश्रुसागर में डूब रहे हैं और ग्लानि से पिघल रहे हैं । व्यक्ति की जगह शासन मात्र बनकर रह गए भीष्म का सारा जीवन अपने ही द्वारा की गई प्रतिज्ञा कर दंश भोगता है । अपने भाग्य सूर्य को सबके समक्ष निगलने वाले व्रती भीष्म के अंतर्द्वन्द्व और संताप को नवीन जीवनबोध के साथ उभारने में कवि को सफलता मिली है । मन

के चारों और तैरती कामनाओं और आँसू बहाती इच्छाओं के बीच भीष्म का व्यक्तित्व कुन्दन की तरह निखरता है । महाकाव्य के अंतिम सर्ग में भीष्म और युधिष्ठिर का संवाद दिनकर के कुरूक्षेत्र की परम्परा में है, लेकिन यहाँ युद्ध और शांति की समस्या की जगह धर्म, सच्चरित्रता, नैतिकता जैसे शाश्वत मूल्यों की प्रश्नोत्तरी हैं । शाल्व और भीष्म के बीच में कन्दुक की तरह उछलती अम्बा की व्यथा भारतीय नारी की नियमित त्रासदियों की बानगी है । अम्बा के चरित्र को कवि डॉ० आस ने नया विस्तार दिया है । इसमें सन्देह नहीं । वस्तुत: चर्चित चरित्रों और बार-बार दुहराई गई कथा को एक नई प्रबन्धकृति का आधार बनाना अपने आप में एक चुनौती है । डा० आस ने इस चुनौती को स्वीकारा है और भीष्म-प्रसंग का यथाशक्य नवीकरण किया है ।

महाकाव्य 'देवव्रत भीष्म' हिन्दी के समकालीन प्रबन्धकाव्यों का नवीनतम उदाहरण है । डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस' की इस कृति में किस हद तक समकालीनता और नवीनता है, इसका निर्णय तो समीक्षक और पाठक ही करेंगे । कवि डॉ० नन्दा बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने डगमगाते कदमों से ही सही, प्रबन्धात्मकता की डगर पर चल कर एक मुकाम पाने का प्रयास किया है ।

बालेन्दुशेखर तिवारी,
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची ।

(घ) देवव्रत भीष्म का नारी संसार

'देवव्रत भीष्म'' डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नंदा "आस'' का चतुर्दश पर्वों में विभाजित ऐसा नायक प्रधान महाकाव्य है, जिसका केन्द्रबिन्धु नारी प्रेम, व्यथा, संघर्ष, विद्रोह एवं प्रतिशोध भाव है । नारी युगों से धर्म, साहित्य और इतिहास का मूलाधार रही है । भारतीय संस्कृति में पुरुष एक ओर मातृशक्ति के रूप में नारी की आराधना करता आया है । दूसरी ओर नारी का पातिव्रत्य धर्म, पति-पत्नी को संतुलित स्नेह सूत्र में बांधे रखता है । इस शब्द के सभी पर्याय गहन गम्भीर अर्थ रखते हैं । पुरुष उसका सम्मान करते हैं । इसलिए उसे "मेना'' कहा गया है "। नर की सहयोगिनी होने के कारण वह "योषा'' है । "वयति सौन्दर्यम्'' सौन्दर्य को बुनने या बिखेरने के कारण वह "वामा'' है । पुरुष को आह्लादित करने के कारण'' प्रमदा'' है । काम्या होने के कारण "कामिनी'' है । रम्या होने के कारण "रमणी'' है । सन्तति उत्पन्न करने के कारण वह "जननी'' या "जाया'' है । तेजस्विनी होने के कारण भामा है । माता,-पत्नी, भगिनी, पुत्री-सभी रूपों में पूज्य होने के कारण "महिला'' है । पति द्वारा उसका भरण-पोषण होता है, इसलिए वह भार्या है ।[1] भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार मानवता के सभी आदर्श एवं नैतिक रूप नारी में मिलते हैं हमारे यहां विद्या का आदर्श सरस्वती, धन का लक्ष्मी, पराक्रम का दुर्गा, सौन्दर्य का रति, पवित्रता का गंगा है । कहीं ईश्वर को जगत-जननी के रूप में देखा गया है और कहीं उसके अर्धनारीश्वर रूप के कारण सीताराम, राधेश्याम, उमाशंकर जैसे नामों की स्थापना हुई हैं ।

कवि 'आस' का महाकाव्य "देवव्रत भीष्म'' महाभारत कालीन अधें युग से संबंधित है । इस महाकाव्य का आरम्भ कवि ने विद्या और वाणी की देवी सरस्वती की वन्दना से किया है । "उदयपर्व'' में ही कवि माँ सरस्वती की वन्दना करता कहता है उसी के वरदान से उसे लेखन प्रतिभा एवं काव्यशक्ति मिली है । मैं तो तुच्छ जीव था । माँ सरस्वती ने ही दया कृपा करके अपने दुलार से वाणी बल का संचार किया है :-

कृपा अपार जो भाव मिला है,
सरस्वती से आलोक खिला है ।

---

[1] मुंशीराम शर्मा, वैदिक संस्कृति ओर सभ्यता, पृ. 10

हृदय सीप में मोती पनपा,
माँ का यह वरदान मिला है ।
वाणी बल संचार मिला है ।[2]

यह महाकाव्य तीन पीढ़ियों की कथासमेटे है । इसमे अनेक नारी पात्र मिलते हैं । ऐसे में प्रश्न उठता है कि इसकी नायिका किसे कहा जाए । महाराज शान्तनु की पत्नी और नायक की माता गंगा के चरित्र के दो पक्ष ही महाकाव्यकार ने मुख्यत: लिए हैं - सौन्दर्य एवं वात्सल्य । अत: हम उसे नायिका नहीं कह सकते । महाराज शान्तनु की द्वितीय पत्नी तथा नायक भीष्म देवव्रत की मां सत्यवती नायिका नहीं खलनायिका के रूप में उभरी है । सत्यवती के बेटे विचित्रवीर्य की पत्नियों अम्बिका एवं अम्बालिका के चरित्र को उभारा नहीं गया । विचित्रवीर्य की पौत्रवधू द्रौपदी यद्यपि सशक्त नारी पात्रा के रूप में उभरी है, किन्तु हम उसे भी महाकाव्य की नायिका नहीं कह सकते । नायिका को परिभाषित करती डॉ० प्रेमलता अग्रवाल लिखती हैं -

"पुष्ष पात्रों में प्रधान नायक होता है । उसी के समान प्रधान नारी-पात्र भी घटनाओं के घटित होने में प्रमुख भाग लेती हैं । द्रष्टा, श्रोता या पाठक उसी के उत्थान अथवा पतन में अधिक से अधिक रुचि रखता है । नाटक का उद्देश्य और अंत इसी प्रमुख नारी पात्र से संबंधित होता है और फलागम की स्थिति इसी प्रमुख नारी पात्र की होती है । इसी प्रमुख नारी पात्र को नायिका कहते हैं ।[2]

डॉ० कामेश्वर प्रसाद सिंह ने नायिका उसे माना है जो फल की अधिकारिणी हो । जिसके जीवन का समन्वित प्रभाव पाठकों पर पड़ता हो । जो मूल घटना की केन्द्रबिन्दु हो ।[3] संस्कृत काव्यशास्त्र में नायक की पत्नी अथवा प्रेमिका को नायिका कहा गया है । विनयशीलता, सौन्दर्य, त्याग, उच्चकुल, धीरता, साहस, कलाप्रेम, वीरता, और शास्त्र-ज्ञान आदि उसके प्रमुख गुण माने गए हैं ।

'देवव्रत भीष्म'' का नायक भीष्म ब्रह्मचारी है । राजा इन्द्रद्युम्न की बेटी अम्बा उसकी प्रेयसी है । वह प्रेयसी ही नहीं वसु भीष्म पत्नी भी है । मुनि वशिष्ठ के शापवश वह धरती पर आई है । महाकाव्य में इसका आगमन सातवें सर्ग से होता है । आठवें सर्ग का तो नाम ही "अम्बा प्रसंग'' रखा गया है । अगले जन्म में वह राजा द्रुपद के यहाँ शिंखण्डिनी के रूप में जन्म लेती है । वह उच्चकुलोत्पन्न, सौन्दर्य सम्पन्न, साहसी, वीरांगना, तेजस्विनी, तपस्विनी, युवा, धीर और सत्यवादिनी है । चार सर्गों के नाम उससे सम्बद्ध है । वह कथा का केन्द्रबिन्दु है । उसका मानस गहन अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्षभाव लिए है । वह आधुनिक युग की चेतना को आत्मसात करने वाली नायिका है । विपरित परिस्थितियों के प्रति विद्रोह एवं आक्रोश आदि गुण भी उसे नायिका पद पर आसीन कर देते हैं ।

यहां महाभारत कालीन पात्र अम्बा को पुनर्स्थापित, कर उसकी नवीन व्याख्या की गई है । साकेत की उर्मिला, यशोधरा की यशोधरा, विष्णुप्रिया की विष्णुप्रिया, प्रियप्रवास की राधा, वैदेही वनवास की सीता की तरह महाकाव्यकार ने उपेक्षित अम्बा का उद्धार किया है । यह महाकाव्य ही मानों मूल्य विघटन के शाप से त्रस्त अस्तित्व सजग नारी का चीत्कार है । कवि ने न रीतिकाल की तरह उसके नखशिख सौन्दर्य को मान्यता दी है और न ही उसके त्याग, क्षमा, आत्मसमर्पण जैसे भावों को चित्रित किया है । अम्बा अबला से सबला बनी नारी है । एक ओर सामाजिक बंधन है तो दूसरी ओर कर्मवाद । उसमें तपस्या का त्याग भी है और सर्प की फुंकार भी । वह तेजोदीप्त नारी है । अम्बा के रूप में युग-युग से अन्याय सहने वाली नारी ने पुरुष के अत्याचारों के प्रति विद्रोह का उद्घोष किया है । शाल्व और भीष्म का दुव्यर्वहार उसके आक्रोश को चरम सीमा तक पहुंचाने के लिए पर्याप्त हैं ।

अम्बा का प्रथम रूप प्रेमिका का है । वह न स्वकीया नायिका है और न ही परकीया । पिता

---

1. डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नंदा आस, भीष्म द्रवव्रत, पृ. 1 2. डॉ० प्रेम लता अग्रवाल, हिन्दी नाटकों में नायिका की परिकल्पना, पृ. 35 3. डॉ० कामेश्वर प्रसाद सिंह, कामायनी का प्रवृत्तिमूलक अध्ययन, पृ. 88

इन्द्रद्युम्न ने अपनी तीनों बेटियों के लिए जब स्वयंवर का आयोजन किया तो उसने सौभपति महाराज शाल्व को मन ही मन अपना पति मान लिया । किन्तु भीष्म ने माता सत्यवती की आज्ञानुसार छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए तीनों कन्याओं का हरण कर लिया । शाल्व तथा दूसरे राजाओं को परास्त करके वे जबरदस्ती तीनों को ले आए :-

पशुधन ही भीष्म ने मान लिया,
स्वयंवर का अधिकार उसने छीन लिया,
मानवता के प्राणों को ही खींच लिया,
भीष्म ने मर्यादाओं को था उलट दिया ।
जिसकी लाठी, उसकी भैंस सत्य किया,
भरी सभा में नारी का अपमान किया ।[1]

अम्बा को भीष्म द्वारा अपना शिकार करना नहीं भाया । क्योंकि उसका मन शाल्व-शाख पर बैठा था । अब धर्मशास्त्रानुसार शाल्व ही उसका वर था । विचित्रवीर्य के लिए वह स्वयं को अशुद्धमना समझती थी । वह सत्यमना नारी होने के कारण भीष्म से पूरी बात कह देती है । वेदज्ञ, ब्राह्मण, धर्मवित्ता सभी उस सत्य के साथ हैं । सभी कहते हैं-

"उसको ही जब वरा है मन से,
इसे तुम शाल्व तक पहुंचाओ,
इच्छावती नारी को बल से,
हर लाना तो पाप घना है ।
नर-नारी संबंध हैं मन के,
तन तो उसकी प्रतिच्छाया है ।[2]

शाल्व का मन स्वयंवर में मिले अपमान के कारण कुंठित है । कहते हैं कि लौटने पर कभी किसी का सत्कार नहीं हुआ चाहे वह सीता हो, पांडव हों या अम्बा हो । यहां उस पर पर-घर, पर-नर के संग रहने का कलंक भी लगाया जाता है:-

पर घर, पर नर संग रही-कुछ दिन तुम
नर-समाज स्वीकार करेगा न अब सुन ।[3]

शाल्व का पुरुषीय अहं यह भी पूछता है कि भीष्म-शाल्व युद्ध के समय उसने प्रतिरोध क्यों नहीं किया? वह चुपचाप भयभीत या व्याकुल भीष्म का हाथ पकड़ रथ पर क्यों चढ़ गई? शाल्व पुरुष है, क्षत्रिय है, राजा है । नारी उसके लिए मात्र युद्ध में जीतने की वस्तु है । सत्य, स्वप्न, इच्छा, संकल्प का यहाँ कोई स्थान नहीं । धारणा है कि लक्ष्मी, सत्ता और नारी क्षत्रिय अपने बल से पाता है । गंगा सी पवित्र प्रेयसी अम्बा पापाचार ढूँढने वाले शाल्व से अनुनय करती है । अग्नि परीक्षा का आग्रह करती है, किन्तु भ्रमर कब डाल से टूटे पुष्प पर बैठा है? मन के बंधन उसे त्रिशंकु बना देते हैं । प्रेमामृत विष बन जाता है । प्रताड़ित, लज्जित, अपमानित अम्बा भीष्म के यहां लौट आती है । भीष्म विचित्रवीर्य को उसे अपनाने के लिए कहते हैं। वह इन्कार कर देता है । प्रतिज्ञा भीष्म का कवच है । कहते हैं:-

बंधा पशु ही मैं हूं सिंहासन का,
"स्व" का नहीं रहा, मैं हूं प्रशासन का ।[4]

अम्बा मानिनी नारी है । वह सिंहणी है- जो सूखी घास नहीं चर सकती । वह श्वान की तरह पूँछ नहीं हिला सकती, चापलूसी नहीं कर सकती । वह उस ताड़वृक्ष सी है, जो प्रलयकारी आंधी झेल सकता है, पर झुक नहीं सकता । पूरे छः वर्ष अम्बा भीष्म और शाल्व के यहां टकराती रहती है । स्वयंवर में हुए अनर्थ और प्रेमसत्य ने उसे न घर का रखा न घाट का ।

---

1. देवव्रत भीष्म पृ. 118 2. पृ 103 3. पृ. 107 4. पृ. 120

अन्ततः अम्बा का मन विद्रोही हो उठता है । पितृगृह, शाल्व, विचित्रवीर्य, भीष्म को छोड़ वह विद्रोह एवं प्रतिशोध का मार्ग अपनाने का संकल्प करती है :-

मैं नारी अपमान का प्रतिशोध तो लूंगी,
बिजली बनकर नर समाज पर टूटूँगी ।
नारी बल का मैं तो संगठन करूँगी,
शक्तिवाहिनी बनकर, सूर्य सी जलूँगी ।[1]

अम्बा नाना होत्रवाहन को अपनी व्यथा कथा और संकल्प बताती है तो वे उसे आश्रय, सहानुभूति एवं सांत्वना देते हैं । भीष्म के गुरु परशुराम से भेंट होती है । परशुराम, होत्रवाहन आदि ऋषिगणों के साथ कुरुभूमि पहुंच सरस्वती तट पर डेरा डालते हैं । वे भीष्म को बुलाकर समझाते भी हैं और सजग भी करते हैं :-

नारी का प्रतिशोध ही तुमने जगा दिया है,
कमला से उसको चण्डी बना दिया है ।
घायल सिंहनी को जंगल में छोड़ दिया है,
भीष्म बिन विचारे तुमने अनर्थ किया है ।[2]

गुरु-शिष्य में भयंकर युद्ध होता है । अन्ततः परशुराम समझ जाते हैं कि अम्बा के हाथ में भीष्म रेखा ही नहीं है ।

अम्बा के अस्तित्व को जब-जब चुनौती दी जाती है, उसका क्षमताबेध भड़क उठता है । उसके अन्दर अति नारी, सुपर वुमैन बनने की आकांक्षाएं पनपने लगती हैं । वह जंगलों में जाकर तपस्या करती है । कार्तिकेय प्रसन्न होकर उसे माला देते हैं, जिसे पहन कर भीष्म पर विजय पाई जा सकती है । इस जन्म में यह कार्य असम्भव मानकर वह चिता जला कर भस्म हो जाती है । अगला जन्म द्रुपद के यहां होता है । नन्हीं सी बच्ची के गले में कार्तिकेय की माला देख पिता कुद्ध हो उठते हैं । उसे घर से निकाल दिया जाता है, क्योंकि उनमें भी भीष्म से टकराने की शक्ति नहीं । जीवनगत समस्त विसंगतियाँ, मोहभंग, एकाकीपन, अजनबीजन- उसे कहीं भी नहीं तोड़ पाते । विपरीत स्थितियां उसे प्रेरित करती हैं और अन्ततः महाभारत युद्ध में भीष्म का काल अम्बा यानी कि शिखण्डी ही बनती है ।

महाकाव्यकार ने नियति चक्र पर सारा दोष मढते हुए काव्य को आध्यात्मिक स्पर्श देते नारी के अवमूल्यित स्थान का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है । शिखण्डी को सामने देखकर भीष्म पहचान लेते हैं कि वह वसु पत्नी है । मुनि वशिष्ठ के शापवश वह भीष्म को जीवित नहीं पा सकती । महाभारत युद्ध के आठवें नवें दिन पांडवों की तरफ युद्ध कर रहे शिखण्डी शूर को देख भीष्म दुर्योधन से कहते हैं :-

पूर्वजन्म में अम्बा बनकर, मुझे यह वरने थी आई,
धरती से मुक्ति देने फिर बन शिखंडिनी आई ।
स्त्री रूप में ही जन्म लिया है-स्त्री वध करूं कभी न
शिखण्डी को न मारूंगा और किसी को छोड़ सकूँ ना ।[3]

दसवें दिन शिखण्डी एवं अर्जुन के बाणों से भीष्म का सम्पूर्ण शरीर छलनी हो जाता है । अश्वत्थामा के हाथों शिखण्डी
का वध होता है और देवलोक में पुनः भीष्म-अम्बा/शिखण्डी/वसु पत्नी का मिलन होता है ।

सभी पौराणिक आध्यात्मिक अर्थों के बावजूद बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में रचे गए इस महाकाव्य की नायिका अम्बा इक्कीसवीं शती की विद्रोहिणी नारी की प्रतिशोध भावना को वाणी भी देती है और उसकी सामर्थ्य का प्रदर्शन भी करती है । 'देवव्रत भीष्म'' की अम्बा ने निर्भीक स्वर में घोषणा कर दी कि

---

1. देवव्रत, भीष्म पृ. 118 2. वही पृ. 136 3. वही. पृ. 211

वह न वस्तु है और न पुरुष की स्वैराकांक्षाओं की पूर्ति का माध्यम । उससे टकराने वाले का वहीं हाल होगा, जो भीष्म का हुआ है । वह छोड़ेगी नहीं, जन्म-जन्मान्तर तक ।

अम्बिका और अम्बालिका पर कवि ने बहुत कम लिखा है । भीष्म उन्हें भाई के लिए हर लाये और विचित्रवीर्य ने उनको मात्र उपभोग की वस्तु माना । उसका व्यवहार उनके प्रति ठीक वैसा ही था-जैसे वे उसकी सम्पत्ति हो ।

महाकाव्य की परम्परित अवधारणा में नायिका के नखशिख सौन्दर्य पर पर्याप्त बल दिया गया है। कवि "आस" ने नायिका अम्बा के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण नहीं किया । उसका शृंगार वर्णन इस महाकाव्य का विषय भी नहीं है । यहां पर शान्तनु को आकृष्ट करने वाली गंगा और सत्यवती के सौन्दर्य का चित्रण मिलता है । गंगा स्वर्गलोक से उतरी है, किन्तु उसका सौन्दर्य अप्सराओं से सर्वोत्तम और कल्याणकारी है ।

तिलोत्तमा, रक्षिता, रंभा, विद्युतपर्णा,
अलंबुषा, मिश्रकेशी, प्रणय प्रतिमा ।
मेनका उर्वशी, इंदुमती, मायाविनी,
गंगा सौन्दर्य सर्वोत्तम कल्याणकारी ।''[1]

संसार की सभी सुंदर वस्तुओं से तिल-मिल भर सौन्दर्य लेकर रूपवती अप्सरा तिलोत्मा की रचना की गई । रंभा ने अपने सौन्दर्य से विश्वामित्र की तपस्या में विघ्न डाला । मेनका की सखी मिश्रकेशी ने तो हिरण्यकश्यप जैसे राक्षसी वृत्ति वाले मनुष्य को भी आकर्षित किया । मेनका ने विश्वामित्र सरीखे ऋषि की तपस्या को भी भंग कर दिया । उर्वशी ने पुरूरवा को मोहपाश में जकड़ लिया । ये सभी सौन्दर्य गंगा के सौन्दर्य के समक्ष तुच्छ है । गंगा न मात्र प्रणय प्रतिमा है, न मात्र माया । वह दैवी सौन्दर्य की स्वामिनी है । यह वह सौन्दर्य है जो ब्रह्मलोक को भी उजागर कर दे । कवि ने अनेकानेक उपमानों का प्रयोग किया है । गंगा नित्य यौवना है, विद्युत में नहाई मधुचन्द्रिका है । दर्पणगात है । पूर्णेन्दु सी जगमगाती देहलता है । कुन्दन तनमयी है । पाटलसदृश्य अरुण कपोल है । कपोल कंबु कंठ है । चकित मृगी सी ग्रीवा है । वृषभ स्कन्ध है । मदमाते नयन एवं कज़रारी चितवन है । शांतनु आज भी भूल नहीं पाते :-

ज्योति बालिका अधखुले अंग,
मुख चन्द्रकमल कदली स्तंभ ।
मृणाल दाड़िम के बीज कंबु कंठ,
केहरि कटि चित्रलिखित शृंगार अंग ।''[2]

यमुनातट पर मिलने वाली सुगन्ध गंधा सत्यवती के सौन्दर्य का भी कवि ने वर्णन किया है । यह सौन्दर्य ही प्रौढ़ शान्तनु के नयनों में नव महोत्सव जगा देता है :-

चन्द्रकांत मणिसे तन रंजिता,
चंपक-स्वर्ण मकरन्द अंकिता ।[3]

गंगा के चरित्र का प्रमुख पहलू उसका वात्सल्य है । गंगा का दूध पीने के कारण ही गांगेय को प्रचण्ड शक्ति का वरदान मिला है । गंगा का आगमन पृ.4 पर होता है, जहां बेटे के बाणों ने उसके करों और पगों को बांध लिया है । वह अपने मृगनयनों से संकुल-व्याकुल अपने तेजस्वी बेटे को देख हर्षित, उल्लसित हो रही है । विरोधाभास यह है कि बाणों के बंधन में बंधी मां मुक्ति अनुभव कर रही है । गंगा देवव्रत को सम्पूर्ण विधाओं तथा अस्त्र शस्त्र विद्या में निपुण कराके परशुराम एवं उश्ना से ज्ञान और अस्त्र-शस्त्र विद्या दिलवाती है । सत्यवती से शान्तनु की शादी होने पर वह बेचैन हो उठती है :-

---

1. देवव्रत भीष्म पृ. 27 2. वही, पृ. 24 3. वही पृ. 57

माता की अश्रुधारा यमुना तट पर बहती थी,
क्रोधित मन ही मन थी, यमुना पे टूट रही थी ।[1]

मां गंगा परशुराम, भीष्म युद्ध से पूर्व उद्वेलित हो उठती है । सोचती है कि बेटे को जाने कैसा अभिशप्त गात मिला है । उसे चारों ओर अमावस के फैले फन दिखाई देते हैं । भीष्म का रक्त से लथपथ माया कौंधता है । अनिष्ट की आशंका से घबराकर वह परशुराम से निवेदन करती है । भले ही उसका परशुराम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

पिता दाशराज की शर्तों का मौन समर्थन करने वाली सत्यवती महाकाव्य में खलनायिका की तरह आई है । पिता के कन्धों का आश्रय लेते हुए उसने भीष्म का विवाह करने और राजा बनने का अधिकार छीन लिया । ममतावश अंधी आंखों ने कभी भी अपने बेटों चित्रांगद और विचित्रवीर्य के अवगुण नहीं देखे । वह बार-बार अयोग्य पुत्रों को ही गद्दी पर बिठाती रही । सत्यवती ने ही भीष्म को विचित्रवीर्य के लिए कन्यायें हरने की अनुचित आज्ञा दी :-

सत्यवती के कारण भीष्म पथराया,
कुस्वामी की सेवा का यह फल पाया ।''[2]

सत्यवती भीष्म को वैसे ही दौड़ाती रहती है, जैसे सारथी रथ दौड़ाता है । सत्यवती का वात्सल्य अंधा वात्सल्य है ।

महाभारत काल की एक अत्याचार पीड़ित नारी द्रौपदी भी है । राजा द्रुपद की बेटी, पांच महायोद्धओं, धर्मनेताओं, राजपुरुषों की पत्नी द्रोपदी जितनी असहाय है, अपमानित, अवमूल्यित एवं मानखंडित है इतिहास में इसका कोई द्वितीय उदाहरण नहीं मिलता । जैसे ही द्रोपदी को सूचना मिलती है कि राजसूय यज्ञ के अधिकारी ने उसे चौसर में हार दिया है अब वह राजमहिषी न रह कर दुर्योधन की दासी बन चुकी है । वह घायल सिंहनी की तरह तड़प उठती है :-

नारी कब से वस्तु हुई चौसर की?
रथवान् ! जाकर हारने वाले से पूछो,
पहले जुए में स्वयं हारें या मुझको ।
भरी सभा में इस प्रश्न का उत्तर लाओ?
नारी को पराजित नर की न वस्तु बनाओ ।[3]

तेजस्वनी राजकन्या, राजवधू, विसंगत स्थिति के इस अति बौनेपन को झेल पाने की विवशता से पूर्व भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य शकुनि, पांडवों, कौरवों-सभी को बगुला भगत कह प्रश्न करती है-

यह क्या न्याय, पराधीन की पराधीन नारी?
नर की सम्पत्ति क्यों स्वीकारी सबने नारी?
कुरूकुल के बुजुर्ग सभी, यहां मौन न धारो,
जो न्यायोचित कथन, धर्मानुसार उसे विचारो ।[4]

द्रोपदी का सारा आक्रोश स्वतंत्र अस्तित्व के लिए है । भले ही कृष्ण ने उसकी उस कुअवसर पर सहायता की, किन्तु शरशैय्या पर पड़े पितामह को उसके व्यंग्य बाण बेंधते हैं । अन्ततः उन्हें मानना पड़ता है कि दूषित वायुमण्डल के कारण उनकी बुद्धि कुण्ठित हो गई थी ।

देवव्रत भीष्म' में कवि ने पतनोन्मुख महाभारत काल की नारी का चित्रण किया है । इस महाकाव्य की नारी न शास्त्रीय आधार की मुखापेक्षी है, न सामाजिक, पारिवारिक आदर्शों की अनुगामिनी । न पुरुषीय धर्मग्रंथों के नियमों में उसे बांधा जा (पृ. 192-193) सकता है और न ही वह राजनैतिक मान्यताओं की अनुचरी है । वह अस्तित्व सजग नारी है। उसे अबला मत कहो। प्रतिशोध

---

1. देवव्रत भीष्म पृ. 64 2. वही पृ. 99 3. वही पृ. 192 4. वही पृ. 193

अन्याय और क्रोध उसे पुरुष सा परुष बना सकता है । अम्बा से शिखण्डी बना सकता है । उसके दया-माया ममता के सांस्कृतिक मानदण्ड को पुरुषीय मान्यताओं ने निचोड़ लिया है । वह शरशैय्या पर पड़े पितामह से भी व्यंग्य कर सकती है । यही इस महाकाव्य का इक्कीसवीं शती की नारी को संदेश है ।

डॉ. मधु सन्धु
रीडर, हिन्दी विभाग, गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर

(ङ) पाठकीय संवेदना का सफल महाकाव्य

डॉ० सत्येन्द्र नन्दा 'आस' की महाकाव्यात्मक उपलब्धि से आनन्दानुभूति हुई । हार्दिक बधाइयाँ देता हूँ । सृजनधर्मिता का अपना महत्त्व है । 'देवव्रत-भीष्म' महाकाव्य को पढ़ कर बहुत अच्छा लगा । इसमें पौराणिकता के साथ ही आधुनिकता बोध का सम्यक् निर्वाह हुआ है । आद्योपांत सरसता बनी रहती है । डॉ० 'आस' ने युगीन समस्याओं को काव्यात्मक आयाम प्रदान किया है । चारित्रिक निरूपण सम्यक् आधार पर हुआ है । पर्व-विभाजन से पाठक को पूरा महाकाव्य एक पद्धति में- कथानक में तारतम्य बना रहता है- इसी लिए पाठकीय संवेदना की दृष्टि से यह महाकाव्य सफल रहा है । इस कार्य को मैं श्रमसाध्य मानता हूँ । डॉ० नन्दा ने भीष्म के चरित्र के प्राय: सभी पक्षों का सस्पर्श किया है तथा उन्हें नवीन धरातल प्रदान किया है । इस महाकाव्य के आधार पर मैं डॉ० 'आस' को सरसता एवं चिरआस्था का कवि मानता हूँ । कवि काव्य की अपेक्षा श्रद्धा-अपनी परम्परा को विशेष महत्त्व देते हैं । इसकी सरसता, सहजता एवं गेयता (संगीतात्मकता) का मैं कायल हूँ । महाकाव्य रचयिता ने बड़े ही मनोयेग से-विषय को समझा है-गहन अध्ययन किया है, पौराणिकता को युगीन संदर्भों में सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान की है । मूल्यहीनता के युग में मूल्यों के प्रति पूर्ण निष्ठा इस महाकाव्य में प्रतिध्वनित होती है । एक साथ अनेक समस्याओं को कवि ने काव्यात्मक धरातल प्रदान किया है । इस महाकाव्य की एक अन्य विशिष्टता सहज प्रस्तुति है दूरूहता, बोझिलता, शुष्कता से बचा गया है । कवि का लक्ष्य जन-सामान्य-कों सरल, बोधगम्य भाषा में भीष्म पात्र संबन्धी अनेक नई धाराओ से परीचित कराना है। इसे मैं सार्थक प्रस्तुति मानता हूँ ।

देवव्रत-भीष्म' के काव्य-रूप के बारे में कोई मतभेद नहीं है । निश्चित रूप से यह एक महाकाव्य है । इसकी कथा को 14 पर्वों में बांटा गया है-प्रथम पर्व-उदय-पर्व में महाकाव्यकार ने मां सरस्वती की वन्दना के साथ इसका आरम्भ किया है । इसके उपरान्त कवि ने सूर्य की वन्दना की है, तेज की पूजा की है; 'जिसकी नियति है अग्नि सा जलना', सृष्टि के निर्माण काल से सूरज ने बस जलना ही सीखा है, यह अपने लिए न होकर 'पर' विभू की खातिर जलना है । आग में कभी शीतलता नहीं होती पर ज्योति तो जलती ही रहती है । यह जीवन सूर्य की तरह ही होना चाहिए 'स्व' के हित जीवन क्या है? अन्धकार में ही रहना है ।'' सूखे पत्तों-सा ही जलना है, पुष्पों का रस हीन होना है । 'पर-हित' ही जीवन निधान है, 'पर सन्तोष' में ही इस जीवन की सार्थकता है । रवि कब से तपन को सह रहा है नित्य-प्रति जलता रहता है । सूर्य का जीवन निरन्तर त्याग से भरा हुआ है, अंगारों को पीने में है, ग़रल नहीं अनल पान है । तेज-पुंज की पहचान है?'' के द्वारा कवि ने भीष्म के सूर्य समान चरित्र का संकेत कर दिया है । जिसके 'रोम-रोम में तेज भरा है, सूर्य ही उसमें सिमटा हुआ है ।' उसे सूर्य ही माना है-तेज 'गांगेय' को वरदान रूप में मिला है- 'गंगा' का दूध पिये है-इस प्रकार इस महाकाव्य के आरम्भ में काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह भी अपने ढंग से कवि करता है । कथा के सूत्रों को भी बड़ी कलात्मकता के साथ खोला गया है 'वसुओं के अवशेष बहे थे, इन लहरों से ही गुजरे थे'; देवव्रत के व्रत सरीखा, 'गंगा लहरें देख रहीं थीं, वसुओं की शक्ति प्रचण्डता ।'' लहरों का सुन्दर मानवीकरण

करते हुए 'गंगा' का परिचय दिया है-उसके महत्त्व को, बड़े ही अनूठे अन्दाज से महाकवि ने चित्रित किया है :-

देव, दैव-कर्म घुनता था, कर्म से भाग्य रेखा बुनता था,
भाग्य कर-बद्ध नतशिर् था, पुरुषार्थी समक्ष हताश पड़ा था?

साथ ही इस महाकाव्य के महत्त्वपूर्ण उद्देश्य का संकेत भी मिलने लगता है'

भाग्य पर पुरुषार्थ हावी था, मनु विराट-शक्ति रूप प्रखर था,
दृढ़ संकल्प-प्रचण्ड रूप धरा था, लहरों को बाँधे देव खड़ा था,

इस महाकाव्य में देव पूर्ण यौवन में पदार्पण करता है । जब वह गंगा की पावन लहरों को अपने प्रचण्ड-तेज से रोक कर खड़ा हो जाता है, इससे पूर्व की कथा का संकेत महाकाव्यकार ने बड़ी ही कुशलता से कर दिया है-भीष्म का प्रभास, द्युनाम का वसु होना, मुनि वशिष्ठ से कामधेनु के अपहरण के कारण अभिशप्त होना, अम्बा का भी पूर्व वसु पत्नी होना जिसके कहने से प्रभास ने कामधेनु का हरण किया था, कथा के साथ साथ भाव, विचार तत्व-भी निरन्तर चलते दिखाई देते हैं ।

मेरी दृष्टि में इस सशक्त महाकाव्य की एक उपलब्धि है 'शान्तनु अन्तः वेदना और पश्चाताप' दिखाना । गंगा-वियोग से पीड़ित शान्तनु के लिए जीना अत्यधिक कठिन हो जाता है । पुरुष-विरह की सभी दशाओं का इसमें वर्णन देखा जा सकता है :-

'मूक-रूदन दारुण ज्वाला है, प्रियता का वश महाकाल है ।
सुमन भी कंटक बन चुभते, व्यथा विरह की जब सहते ।''

शीतल पवन जलाने लगती है/सुगन्धि-विष फैलाती है । विरह-सिंह ने हिरण को दबोच लिया है, विरह-मगर सब निगल रहा है, जीवन-तट तक घायल पड़ा हुआ है, नींद कहाँ गई? स्वप्न कहाँ गए? वेदना बढ़ रही है, उच्छ्वास उठ रहे हैं, चन्द्र भी काला लगने लगा है, दुर्दिन ने ऐसी अंगड़ाई ली है, मधुबाला भी विष-भर लाईं हैं, मधुरस के झरने सूख गये हैं, धरती का हृदय भी सिकता से भर गया है । प्रेम गंगा से ऐसे करते जैसे गौ-बछड़े से करती है । प्रणय-में ही ममता समा गई है वत्सलता भरती सुख सागर' कभी अंगुलि को चोट लगने पर जैसे माँ बच्चे को सहलाती है वैसे ही शान्तनु ममत्व-भाव से गंगा के प्रत्येक कष्ट को अनुभूत करते हैं । यहाँ प्रणय की पराकाष्ठा हो जाती है, उसको शाश्वत् आयाम मिल गया है । शृंगार के सभी पक्षों का निरूपण इसमें हुआ है विप्रलम्भ शृंगार के साथ साथ संयोग शृंगार के भी मर्यादित पक्ष उभारे गए हैं । 'गंगा' अनुपम सौन्दर्य शालिनी है । उसके नख-शिख का भी वर्णन कवि ने किया है । शान्तनु की स्मृति पटल पर उसके रूप के असंख्य चित्र उभरते है-गंगा ज्योतिर्मयी है, ज्योत्स्ना का निर्झर है; मधु-चन्द्रिका है, लघु-ज्वालामुखी है, नित्य यौवना है, उसकी आभा चन्द्र किरणों से मंडित है, दर्पण गात है; शरत् चन्द्रिका, स्नात-मल्लिका है; पूर्णेन्दुमुख मंडल है, अलौकिक छविमान है; मायामयी-अप्सरा प्रणयिनी है; ग्राम्या नारी की तरह स्वप्निल, उन्मादिनी है, कुन्दन तनमयी है; किरण-मज्जित हैं; ज्योति बालिका के अधखुले अंग है, कदली स्तम्भ हैं; मृणाल दाड़िम के बीज, कंबु कंठ, केहरि कटि, चित्रलिखित शृंगार अंग हैं; पाटल सदृश्य अरुण कपोल अरुणिम-गोल-उज्जवल हिलोर, नयन नीलिमा के मधु-घन-मुकुलित बंकिम, विशाल नयन, नीरज-नलिन नयन, जो की मानिक-मदिरा-यौवन-मद भरपूर हैं; शान्त-भृकुटि, चारु चिबुक-अंकित, बालारुण-शशि मुख पर तिल, सौन्दर्य का स्वर्गिक स्थान, नयनिमा नयन लगे अभिराम कर्ण-पुष्प-कुण्डल-गुञ्जरित-आरक्त विस्तीर्ण सहज मुखरित, तेज भरा उन्नत ललाट है; मुकुलित-सरोज पूर्ण मृदुहास; चकित-मृगी ग्रीवा, वृषभ-स्कंघ,गौर वक्ष-शोभा के युग घट, वसुधा के रस भरे कलश; सौन्दर्य शिखरों में उभरे राजहंस, मातृत्व से भरा सुधा-सागर; शाश्वत-यौवन के रजत-हंस, शाश्वत-आभा सर्वोत्तम सुन्दर, मृदु अलबेली बाहुलता प्रलंब, सीप छटा सा उदर गजदंत; तिलोतमा, रक्षिता, रंभा, विद्युतपर्णा, मिश्र-केशी, मेनका, उर्वशी-इत्यादि

सभी सौन्दर्य प्रतिमाओं से "गंगा सौन्दर्य-सर्वोत्तम कल्याणकारी है । सत्यवती के सौन्दर्य का भी वर्णन कर महाकाव्यकार ने शृंगार-रस के सफल चित्रण में अपनी दक्षता प्रमाणित की है । सौन्दर्य के दोनों रूपों के चित्रण में महाकाव्यकार सफल रहे हैं । अम्बा के भाव-विचारगत सौन्दर्य के दर्शन इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर हुए हैं ।

वीर रस के दर्शन हमें परशुराम-भीष्म युद्ध; महाभारत के युद्ध में होते है :-

"भीष्म संग्राम छिड़ा फिर-शास्त्र प्रहार घना था,
बाण सहस्रों छूटे युद्ध का जब शंख बजा था,
भीष्म-रथ-अश्वों पर तो अंगारे-बरस रहे थे,
प्रतिकार कर रहे साहसी-सागर को रोक रहे थे । (पृ. 145)
नित्य-घात-प्रतिघात होते थे-पराजित तो कोई नहीं था,
वसुओं की शक्ति प्रचण्डता तो भीष्म लिये खड़ा था,
दिन बीत रहे थे, सिंह गरज रहे थे दोनों'',
हस्ती चिंघाड़ रहे थे, कुरुक्षेत्र-रण में तो दोनों''

त्रयोदश-पर्व तो है ही "महाभारत-भीष्म का युद्ध'' निरन्तर दश दिनों तक युद्ध हुआ । वीर रस के साथ ही अद्भुत, भयानक और रौद्र रस के भी दर्शन होते हैं :-

"श्वेत-अश्वों-रथों पर दोनों सिंह-श्वेत भिड़ते थे;
वेश से टकराते आपस में पहचान न कुछ पड़ते थे;
मानव तो रहे दूर स्वयं देवगण विस्मय में पड़े हुए थे;
उधर आचार्य द्रोण-घृष्टद्युम्न पर तीखे प्रहार करते थे ।''
घृष्टद्युम्न ने पांडू सैना का सतर्क-व्यूह रचा;
भीष्म-बल-रण कौशल के आगे सब टूट गया;
हाहाकार मचा पांडव दल, तितर बितर गई सेना;
भीष्म-तेज अग्नि के आगे कोई भी ठैंहर सका न ।''

शान्त-रस का भी सम्पूर्ण निर्वाह महाकाव्यकार ने किया है । भीष्म बार-बार कृष्ण की महिमा का गुणगान करते हैं । दशम पर्व में शिव-पूजन है, प्रथम पर्व में सरस्वती वन्दना है नवम-पर्व 'अम्बा' परशुराम भीष्म संवाद' में धर्म की व्याख्या है । परशुराम धर्म के स्वरूप की व्याख्या करते हैं :-

"धर्म भीष्म मात्र व्यक्ति का आचरण है?
मानवता का भला सदा इसका केन्द्र है;
किसी स्वार्थ से भी यह कभी नहीं बँधता,
नर नारी को कभी पशु नहीं होने देता !
धर्म त्रास हरने में ! स्व सुख खोने में,
धर्म पर सुख में; कभी न स्वार्थ ढोने में;
धर्म-विशाल सागर असंख्य जीवन पाते;
मृत्यु वरण जब करें, तटों पर फैंके जाते;/ (पृ. 140)

कृष्ण भक्ति के अनेक पद इस महाकाव्य में है:-

असंख्य गुणों के स्वामी यहाँ और कहाँ है?
यह सबको प्रिय, सब के सब कुछ कृष्ण हैं
यह वत्स, आचार्य पिता, बन्धु-गुरुवर हैं,
इसी से हमने पूजा की यह सर्वोत्तम नर हैं ।''

श्री कृष्ण की पूजा सबकी है पूजा,
नर होता प्रसन्न महानर की पूजा,
जगत् को उत्पन्न करते हैं ठहराते
उसे संवारते रहते सत्य को अपनाते ।
जगत् रूप में प्रकट तो वही हो रहे
प्रकृति पुरुष दोनों हैं वही हो रहे
सबके अन्तर्यामी घट-घट वासी हैं ।
जगत् जीव-प्रकृति में सर्व व्यापी हैं । (पृ. 198)

श्री कृष्ण नारायण हैं जिस पक्ष में वह हैं उसकी ही विजय होगी भीष्म ने बार बार यह बा दोहराई हैं । प्रभु लीला है, कृष्ण की कृपा ने द्रौपदी को अपमानित होने से बचा लिया । भीष्म उपदे स्वर्गारोहण' चतुर्दश पर्व में तो शान्त रस अपनी चरम स्थिति में व्याप्त है :-

निराकार-साकार बस उन्हें जपो तुम,
प्रकृति और विकृति में उन्हें पायो तुम,
माता-पिता, भाई-बन्धु तुम जानो,
सुहृदय-सखा, पति-पुत्र उसे ही मानो !
वही पुरुष हैं, पुरुषोतम है, स्वामी,
वही जीव हैं, ब्रह्म, वही-अन्तर्यामी;
श्री कृष्णा ज्ञाता, औ ज्ञेय वही हैं ।
वही ज्ञान युधिष्ठिर ब्रह्म वही हैं ।

भीष्म अन्तिम उपदेश के रूप में कहते हैं :-

यही स्वार्थ - परमार्थ हो तेरा,
यही सुनो उपदेश, आदेश है मेरा
यही सार-आदेश और उपदेशों का
कृष्ण से बढ़कर और कोई न मेरा
सभी करो आराधना, और उपासना,
उत्तरायण की दिशा में अब जाना । (पृ. 242)

अम्बा के चरित्र में, शान्तनु के विरह-वर्णन में और भीष्म की दारुण स्थिति में करुण-रस भर पड़ा है । अम्बा का भटकाव-बिखराव-आत्मदाह पूणर्जन्म, पिता द्वारा घर से निकाले जाना, इत्यादि अनेक स्थलों पर अम्बा का चरित्र बहुत ही दयनीय और करुण दशा तक पहुँच गया है । भीष्म की परवशता प्रतिज्ञा-बद्धता; बलि-पशु जैसी स्थिति, मानसिक-पीड़ा; अवहेलना, दासवत-जीवन, अभिशापित-जीवन सभी उस के चरित्र में करुणा भर देते हैं । इस तरह रस परिपाक के दृष्टिकोण से यह एक सफल महाकाव्य है ।

विषय की व्यापकता इस रचना में है व्यक्ति, उसकी सामाजिक, पारिवारिक स्थिति, उसकी मनोदशाओ का चित्रण, इच्छा, तृष्णा, द्वेष, घृणा; मन की चंचलता, अनेक पात्रों का पूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर महाकाव्यकार ने उनके बाहरी और भीतरी दोनों रूपों का उद्‌घाटन किया है । चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी यह एक सर्वोत्तम महाकाव्य कहा जा सकता है, देवव्रत-भीष्म के द्वन्द्व ने सब कुछ स्पष्ट कर दिया है, अर्जुन, कृष्ण, युधिष्ठिर, दुर्योधन, परशुराम, शान्तनु, गंगा, सत्यवती, अम्बा इत्यादि के चरित्रों पर भी सम्यक् प्रकाश पड़ता है । कवि ने इन चरित्रों की पौराणिक स्थिति को सुरक्षित रखते हुए उन्हें आधुनिक युग से जोड़ने का सफल प्रयत्न किया है ।

इस महाकाव्य में मानव प्रकृति के साथ-साथ बाह्य-प्रकृति का भी सुन्दर निरूपण मिलता है । प्रथम-पर्व में गंगा की लहरों का मानवीकरण कवि की सूक्ष्म-दृष्टि की सौन्दर्यानुभूति को स्पष्ट कर जाता है ।

इस का उद्देश्य है भारतीय जीवन-मूल्यों की स्थापना के साथ साथ उनका आधुनिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करना । महाकाव्य बहुमुखी दृष्टिकोणों को लेकर लिखा जाता है इस महाकाव्य में भी जीवन के लगभग सभी पक्षों पर ध्यान डाला गया है । अनेक सन्देश लेखक ने देने चाहें हैं- नारी की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है । उसकी गरिमा को स्थापित किया है । उसके सभी रूपों को सामने रख कर अम्बा के रूप में अबला से सबला, सबला से अतिनारी बन कर अपने लक्ष्य तक पहुँचने की असीम शक्ति से उसे सम्पन्न किया है । युद्ध और शान्ति की समस्या पर भी प्रकाश डाला गया है । व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को भी स्पष्ट किया गया है ।

कवि ने इस रचना में अपनी प्रतिभा का भी पूर्ण परिचय देते हुए अनेक मौलिक उद्भावनाएं की हैं-शान्तनु अन्त: वेदना; पश्चाताप पर्व; शान्तनु आध्यात्मिक चिन्तन-पर्व, देवव्रत-भीष्म-द्वन्द्व-पर्व'-'भीष्म पसंग', 'एकादश पर्व 'अम्बा आत्म-चिन्तन'. 'द्वादश-पर्व 'भीष्म अम्बा प्रसंग', इन सभी पर्वों में कवि ने अनेक मौलिक उद्भावनाए की हैं-अम्बा एक ऐसी नायिका है जो पूरी तरह अस्तित्ववादी-प्रगतिशील विचारों की पोषक है, नारी की क्षमता और शक्ति की प्रतीक है जो पुरुष-प्रधान समाज में अपना अधिकार पाने के लिए दो जन्मों तक संघर्ष कर सकती है । अम्बा और भीष्म का कथा-सूत्र भी कवि की कल्पना पर आधारित है । शान्तनु का पारलौकिक जीवन, भीष्म-का ब्रह्मलोक का जीवन एवं सम्बन्धों को भी कवि ने इस ढंग से प्रस्तुत किया है जिससे उन पौराणिक प्रसंगों में भी आधुनिक-युग-बोध सहज ही मुखरित हो उठता है । धर्म की, राज्य की, भारतीय जीवन मूल्यों की, मानवीय-हृदय की अवस्थाओं का, इच्छाओ, तृष्णाओं, महत्त्वकांक्षाओं का सम्पूर्ण चित्र महाकाव्यकार ने उभार कर इसे जन-जन के साथ जोड़ने का भागीरथ प्रयास किया हैं । भाषगत सहजता इसके कथ्य को बड़ी कुशलता से पाठक तक पहुँचाने में समर्थ हुई है । संगीतात्मकता इस महाकाव्य को गेय बना देती है-एक तीव्र प्रवाह लय का बह निकलता है, छन्दों बद्ध रचना का यही गुण है । इसमें भाव-विंचार के अनुगामी बनकर छन्द चलते हैं । ग़ज़लकार होने के कारण इस महाकाव्य के अधिकाँश पद दो-दो पंक्तियों को साथ एक 'शेयर' की तरह जोड़ते हैं । दोहा पद्धति और चौपाई की तर्ज पर ही इस महाकाव्य की रचना हो सकी है । समग्र रूप में यह महाकाव्य शिल्प, भाव एवं विचार के दृष्टिकोण से एक सफल महाकाव्य है । जिसको भारतीय संस्कृति और आस्तित्ववाद के आधारों पर खड़ा किया गया है । इसकी अपनी सीमाएं भी है यदि उस और ध्यान न दें तो यह एक महत्वपूर्ण कृति कही जायेगी । इसके लिये डॉ० 'आस' को मैं बधाई देता हूँ । निश्चय ही यह रचना उन्हें महाकवियों की पंक्ति में लाकर खड़ा करेगी ऐसी मेरी मान्यता है ।

डॉ० हुकुम चंद राजपाल

प्रोफैसर, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला ।

(च) देवव्रत भीष्म एक राष्ट्रीय महाकाव्य है ।

डॉ० सत्येन्द्रप्रकाश नन्दा 'आस' द्वारा विरचित महाकाव्य 'देवव्रत-भीष्म' को आद्यन्त पढ़ा । सम्भवत: महाकाव्य के रूप में भीष्म पर यह लिखा जाने वाला पहला महाकाव्य है जो मनुष्य के जीवन इतिहास, परम्परा, सभ्यता और संस्कृति से जुड़ा हुआ है । 'महाभारत' के भीष्म की अपेक्षा इस महाकाव्य में उनके उदात्त उज्जवल चरित्र को एक प्रतिनिधि पात्र-नायक के रूप में प्रतिष्ठित एवं वर्णित किया गया है । 'नियति' यानी दिग्-काल मनुष्य के चरित्र को निखारने के बजाय बिगाड़ भी देता है । भीष्म में

'सूर्य-सा-तेज है' । 'सूखे-पत्तों' सा ही जलना उनका जीवन है । स्वार्थ-मोह से वे परे हैं । अपने आप को अर्पण कर ही वे संतुष्ट हो जाते हैं । 'परहित' ही उनके जीवन का निधान है और पर संतोष ही उनकी अपनी पहचान है । (पृ. 2) । वे रवि के समान एक धैर्य पुरुष हैं । गंगा के पुत्र होने के कारण ही उन्हें 'गांगेय' से संज्ञायित किया गया है ।

भीष्म का चरित्र एक अद्‌भुत सृष्टि है । उनके चरित्र में धर्म-कर्म-त्याग-संयम-ज्ञान का अनूठा संगम दिखलाई पड़ता है । वे 'स्व' की अपेक्षा पर को महत्त्व देते हैं । उनका मन निश्छल प्रेम और विश्वास से भरा-पुरा है । जिस तरह 'अनुभव की भट्‌ठी पे चढ़कर; सोना कुन्दन तो बनता है । (पृ. 29) ठीक उसी तरह भीष्म का जीवन भी अनुभव से तप्कर कंचनमय बना हुआ था । उसे न तो राजा बनने की चाह है और न अधिकारी । राज्य लक्ष्मी भी उन्हें अपनी ओर आकर्षित न कर सकी । वे वचन के पक्के हैं जिन्होंने पिता को दिए गए वचन को जीवन-पर्यन्त निभाया । माता गंगा उनकी प्रेरणा है । उनके चिन्तन में भी उसी का बसाव है । जब भी वे अपने आपको दु:ख-कष्ट-द्विविधा की स्थिति में पाते, माँ को स्मरण करते और माँ उन्हें तुरन्त राह दिखा देती । बस, वे उसी राह पर चल पड़ते। माँ के प्रति इतना अगाध विश्वास श्रद्धा भला कहाँ देखने को मिलती है । सचमुच वे एक कर्म सन्यासी हैं । जन-हित उनका उद्देश्य है । पिता शान्तनु के संस्कारों से परिपूर्ण वे एक ऐसे ज्ञानी हैं जिनको 'दिव्य-ज्ञान' प्राप्त है ।

भीष्म देवव्रत का जीवन द्वन्द्वों से परिपूर्ण है । पिता की प्रतिज्ञा से बद्ध उनका 'तन-मन-आत्मा' चंचल-व्याकुल और प्रताड़ित है । विवेक उनका साथी है जो द्वन्द्व के समयों में उन्हें स्थिर बनाये रखता है । वे एक सहज और विवेकी पुरुष हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद-मत्सर आदि वेगमयी घोड़ों को वे विवेक की लगाम से अपने काबू में रखते हैं । 'चट्टानों के भीतर के जल' के समान उनका हृदय तरल और सहज है । वे मर्यादा और आदर्श के पुजारी हैं। वे मर्यादा-पालन के लिए अपने आप को न्योछावर करने को सदैव तत्पर रहते हैं । वे अपना जीवन 'स्वामी' बनकर नहीं बिताते । उनका जीवन दास यानी सेवक का है । जन की सेवा करना ही उनका प्रतिपाद्य है । क्योंकि 'स्वामी' बन जाना कठिन नहीं' लेकिन 'सेवक-बनकर जीवन है दुष्कर' (पृ. 90) । राज्य की सेवा को जिस तत्परत्ता, निष्ठा, त्याग और मर्यादा से भीष्म ने निभाया वह आज भी स्मरणीय है ।

सत्यवती की आज्ञानुसार जब भीष्म ने काशीराज सुताओं अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका का हरण किया तब भी उनका मन द्वन्द्व से आपूरित था । अम्बा ने उनसे जब अपने प्रेम का खुलासा किया उन्होंने विवेक से निर्णय लिया और दल-बल के साथ सौभपति महाराज शाल्व के पास पहुँचा दिया । लेकिन पर-गृह से लौटी अम्बा को शाल्व ने स्वीकार करने से मना कर दिया । वह भीष्म के पास लौट आयी । पर भीष्म ने फिर समझा-बुझाकर उसे शाल्व के पास भेजा । शाल्व विवशतापूर्वक कहता है-'तरुणी कैसे अपनाऊँ, युद्ध में हार चुका हूँ /भीष्म पराक्रम के आगे, पराजय मैं मान चुका हूँ (पृ. 119) । इस तरह अम्बा भीष्म को ही अपने नाश का मूल कारण मानती है । उनके विनाश का श्राप देती है । इस श्राप को भी विचित्रवीर्य के लिए धारण कर लेते हैं । ठीक वैसे ही जैसे शंकर समुद्र मंथन से निकले विष को धारण कर 'नीलकण्ठ' बन गए थे ।

रचनाकार ने अम्बा के माध्यम से भारतीय समाज में नारी की क्या स्थिति है? नारी कैसे पुरुष के शोषण-चक्र में फँसती है? अन्तत: यह कैसे और किन परिस्थितियों में आत्म दाह करती है? इन सारे सवालों को वह पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है और भारतीय समाज की विसंगतियों, विरोधाभासों, द्वन्द्वों को उजागर करता है । आज भी कहने के लिए महिलाएँ पुरुषों के समकक्ष मानी जा रही हैं पर अभी भी यह शोषण कर्म बन्द नहीं हुआ है । उसका स्वरूप जरूर बदल गया है । मृत्युवरण करना उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है । इसको नियति मानना समीचीन नहीं है । अम्बा भीष्म के सामने

जिन प्रश्नों को रखती है उसका समुचित उत्तर उसे नहीं मिल पाता । अन्तत: आत्मदाह कर वह शिखण्डी रूप में अवतरित होकर भीष्म के काल का कारण बनती है । ऐसा नारी-व्यक्तित्व पहली बार इस महाकाव्य में अवतरित कराते देखा गया है ।

रचनाकार ने अन्तिम पर्वों में महाभारत के युद्ध-प्रसंगों की विशद् चर्चा करते हुए भीष्म के क्रिया-कलापों को वर्णित किया है । इस महाकाव्य में वे सभी प्रश्न उभाड़े गए हैं, जो महाभारत में वर्णित हैं । दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि रचनाकार ने भीष्म के चरित्र को जिस विस्तार-फलक पर प्रस्तुत किया है वह अतिरंजित नहीं प्रतीत होता । चित्रण की सहजता, मौलिकता और उदातत्ता के कारण यह महाकाव्य एक राष्ट्रीय महाकाव्य बन गया है । इस महाकाव्य को आज इसी रूप में देखने की आवश्यकता है ।

मैं इस कृति के रचनाकार डॉ० सत्येन्द्रप्रकाश नन्दा 'आस' को इसके निर्माण के लिए बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे इस तरह की कृतियाँ रचते रहेंगे ।

डॉ० हौसिलाप्रसाद सिंह

प्रोफेसर हिन्दी-विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, म० प्र०।

(छ) 'देवव्रत भीष्म' एक मील-पत्थर हैं ।

नवम दशक में महाकाव्य लगभग लुप्त हो गया था । ऐतिहासिक हष्टि से आठवें दशक के बाद कोई बड़ा सर्जनात्मक संकल्प हिन्दी कवियों के सामने नहीं रहा । कविताओं के माध्यम से कुछ पौराणिक प्रसंग काव्य की विषय-वस्तु अवश्य बने परन्तु उसका कथ्य-रूप गौण रहा इस सन्दर्भ में देवव्रत-भीष्म' महाकाव्य डॉ० सत्येन्द्र नन्दा 'आस' कृत कई प्रश्नों का उत्तर देता है ।

महाभारत और रामायण के अमर पात्रों को लेकर भारतीय साहित्य में सदैव कुछ न कुछ लेखन कार्य होता रहा है । हिन्दी में यह कार्य नरेन्द्र कोहली, डॉ० योगेश्वर, 'डॉ० बच्चन सिंह आदि की कृतियों से आलोकित होता रहा है ।' डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नंदा पिछले तीन दशकों से हिन्दी में निरन्तर कविता की रचना कर रहे हैं । देवव्रत-भीष्म' कई दृष्टियों से हिन्दी पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है ।ऐलन ने कहा था-"पोराणिक कथा का पुनर्सजन इसलिये महत्वपूर्ण होता है कि वह कथा लोकमानस के सामूहिक संस्कारों में बसी होती है ।" 'भीष्म पितामह की यह कथा भारतीय जनमानस के अंग-संग रही है । डॉ० सत्येन्द्र नन्दा ने इस कथा की मूल मनोभूमि को मनोवैज्ञानिक ढंग से उभारा है । यह मनोवैज्ञानिक इकाईयाँ देवव्रत से भीष्म पितामह तक अपनी प्रासंगिकता को सिद्ध करती है । भीष्म का अन्तर्द्वन्द्व, अम्बा, अम्बिका'अम्बालिका प्रसंग, एवं परशुराम भीष्म संवाद जैसे अध्याय देवव्रत भीष्म-महाकाव्य की उत्स भूमि का वह जीवन्त घटक हैं जिसके माध्यम से सम्पूर्ण कथा विशेष दर्शन एवं चिन्तन को ग्रहण कर लेती है ।

'भीष्म-पितामह' भारतीय वीरों के लिये प्रेरणा का स्रोत रहे हैं । 'महाभारत' के प्रसंगों द्वारा इस महाकाव्य में वह चेतना भी आई है जिसकी शाश्वत छवि भारतीस साहित्य में बरकरार रही है । जैसे दिनकर के महाकाव्यों में (कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी आदि) यह सांस्कृतिक चेतना अविरल प्रवाहित होती रही ।

काव्य शास्त्र में 'महाकाव्य' का अपना निश्चित स्वरूप होता है । डॉ० नन्दा उस स्वरूप की बराबर इस महाकाव्य में रक्षा करते दिखाई देते हैं । महाकवि कालिदास ने महाकाव्य पर चिन्तन करते हुये यह स्वीकार कर लिया था कि काव्य पहले काव्य रहेगा बाद में महाकाव्य आधुनिक युग के कवि 'मेघदूत' ॠतु संहार आदि महाकाव्य भले ही भूल गये हों, परन्तु महाकाव्य की काव्यात्मकता की यह माँग है कि काव्य की संवेदना अपनी सार्थकता ना खोये । मुझे आशा है कि, नन्दा जी आगामी कृतियों में भी यह सब विस्मृत नहीं करेंगे जैसा इस रचना में नहीं किया ।

पौराणिकता, काव्यात्मकता, कथात्मकता के साथ साथ डॉ० नन्दा ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं

को भी उभरने का पर्याप्त अवसर दिया है । जीवन-दर्शन, नैतिक-मूल्य, अस्तित्ववाद तथा नारी के प्रति अपने दृष्टिकोण को वे यत्र-तत्र स्पष्ट करते हैं । 'भीष्म-देवव्रत' द्वन्द्व में मानव विकृतियों का चित्र खींचते हुये वे कह उठते हैं :- "काम, क्रोध, मोह आदि छः शत्रु मन के;

धैर्य कहां इतना सदा सामना करते?
संवेदना-अनुराग-इच्छायें कब मरती मन से;
श्रद्धा-त्याग, आसक्ति यही लक्षण मानव के ।"

इन विकृतियों के मूल रहस्यको भी भीष्म के मुख से कहलवाते हैं:-

"मनोरथों की परिधि से कुछ बाहर न;
कामनाओं के अतिरिक्त जीवन क्या है?
सुख लिप्सा ही दुःखदायी होती है;
इच्छा के मूल को जान लिया है ।"

देवव्रत के 'भीष्म' में परिणत हो जाने के अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति में कवि का हृदय पिघला सा जान पड़ता है:-

"दिल से धड़कने क्यों माँगी?
जीवन से साँसे क्यों माँगी?
बाहों से कर काट लिये क्यों?
पंखों से गति थी क्यों मांगी?

धर्म की व्याख्या करने की डॉ० नंदा की शैली उनके प्रौढ़ अध्ययन की परिचायक है :-

"धर्म श्यामलता बन सृष्टि जीवन बनता
वह कृषक बनकर जगत की भूख हरता"

नारी सम्मान, अस्मिता के प्रति भी डॉ० नंदा एक विशेष दृष्टिकोण रखते हैं :-

व्यथा, वेदना पीड़ा क्यों उसको देते हो?
करुणा, ममता, त्याग, प्रेम, क्यों लेते हो?
कमला, उमा, सविता, मधु उसे रहने दो;
गंगा, यमुना सरस्वती ही बन बहने दो ।

पथभ्रष्ट समाज की विकलांग प्रथायें ही पुनः कुण्ठित समाजोत्पादक बन जाती हैं, अतः ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति 'मानव' की सार्थकता उसके चरित्र निर्माण में ही है:-

"चरित्र बल है जहाँ वहाँ धर्म, सत्य रहता है,
शक्ति वहीं है बसती लक्ष्मी भी पाता है;
सच्चरित्रता यश, कीर्ति अमरता लाती;
क्षण-भंगुर मानव को है कल्प दिलाती ।"

इसी मंगलकामना और समष्टि हित की उदार विचारधारा को लेकर लिखा गया यह महाकाव्य निश्चित रूप से मील का पत्थर है ।

श्री नंदा अहिन्दी प्रदेश के हिन्दी कवि हैं । इस खूबसुरत महाकाव्य के लिये मैं उन्हें साधुवाद कहती हूँ । मुझे आशा है कि हिन्दी कविता में नंदा जी की यह कृति अपना स्थान बनायेगी ।

डॉ० शोभा पाराशर
'हिन्दी प्रवक्ता,' आर्य विद्यालय, पठानकोट

ॐ

भीष्म देवव्रत

प्रथम पर्व

सूर्य उदय

कृपा अपार जो भाव मिला है,
सरस्वती से आलोक खिला है ।
हृदय - सीप में मोती पनपा,
माँ का यह वरदान मिला है ।

दया-कृपा की मुझ अनाथ पर,
तुच्छ-जीव संस्कार मिला है ।
अंक में भर दुलार किया है,
वाणी बल संचार मिला है ।

अँगुली पकड़ यहाँ पहुँचाया,
पुष्प शाख पर स्वयं खिल आया ।
पवनों के फिर, तेज के झोंके,
जड़ जाने से कौन जो रोके?

तेज की पूजा जग करता है;
सूर्य-तपन को देख न पाते ।
उसके मानस् की ज्वाला से-
जड़-चेतन हैं जीवन पाते ।

रवि अंगार ही तो पहने है;
रवि-मण्डल ही तो गहने हैं ।
तेज - पुंज बस जलना सीखा,
जीवन-रहट माला पहने है ।

ठहर नहीं पाता है जग में;
बादल कभी जो उसे ढाँपते ।
अन्धकार धरती में है छाता,
शीतलता मानस कुछ पाता ।

नियति है अग्नि सा जलना;
हेम-कुण्ड में ही तो गलना ।
सृष्टि के निर्माण काल से;
सीखा सूरज ने बस जलना ।

यह जलता पर की खातिर;
यह जलता विभु की खातिर ।
जलने में सृष्टि विकास है;
जलने में सृष्टि विनाश है;

सृजन - विनाश के बन्धन,
डाल चला फिर सूर्य-मण्डल।
उत्तरदायित्व ओढ़ लिया है,
अग्नि संबंध जोड़ लिया है ।

आग में शीतलता कब होती?
जलती तो रहती है ज्योति ।
जलने पर सृष्टि - प्रकाश है;
जलने वाला तो विशाल है ।

व्यथा-पीड़ा में सत्य छिपा है;
रवि, त्याग का मोह बड़ा है ।
'स्व' के हित जीवन क्या है?
अन्धकार में ही रहना है ।

सूखे - पत्तों सा ही जलना;
पुष्पों का रस - हीन होना है ।
फूल कभी तो रस नहीं पीते?
फल तो अपना स्वाद न जाने ।

सुवर्ण पात्रों से सत्य ढँका है;
सूर्य - तेज से खुल जाता है ।
समर्पण - सत्य - मार्ग दिखलाता;
घोर अन्धकार से बाहर लाता ।

स्वार्थ - मोह को कभी न ढोता;
अपर्ण कर, सन्तोष, न खोता ।
'पर - हित' ही जीवन निधान है;
'पर-सन्तोष' में ही पहचान है ।

रवि तपन को कब से सहता;
नित्य-प्रति जलता ही रहता ।
अंगारों को पीता ही रहता;
हर पल यूँ जीता ही रहता ।

ग़रल नहीं अनल पान है !
तेज-पुंज की पहचान है !
तेज कभी कुण्ठित न होता,
तेज कभी बन्धित न होता ।

ब्रह्मा का यह ही आधार है,
रचना-क्रम रचना के पास है ।
तरल - जल शक्ति अपार है,
हिम--नद तो इसमें लाचार है ।

यह बहना, रिसना है सूखना,
विकास, निरोध-अन्धकार हूकना ।
आत्म बल निरोध मृत्यु छुड़ाता,
धैर्य-पुरुष - रवि, मुक्ति पाता ।

सूर्य तेज से है जल जाता,
वाष्प - अहं बना उड़ जाता ।
मेघ - गर्ज विकराल तड़ित बन;
हृदय फिर अग्नि दिखलाता ।

शान्त - प्राण आत्म में खोता,
अज्ञान-निशा-अन्धकार में सोता ।
बरस पड़े अमृत धारा फिर,
जीवन, बन जाती, कारा फिर ।

स्मरण, अल्प - जीव न रख पाता,
संकल्प, कर्म विधि न टल पाता ।
सूर्य ज्योति में छिपे सितारे,
अन्धकार में, खो जाते हैं सारे ।

शक्ति तो प्रचण्ड ज्वाल है;
स्वर्गिक-शक्ति तो अपार है ।
'गांगेय' को वरदान मिला है,
'गंगा' का जो दूध पिया है ।

रोम रोम में तेज भरा है;
सूर्य ही तो इसमें सिमटा है ।
तप कर कुन्दन बन आया है,
तेज - पुंज ही तन पाया है ।

तप - श्रम - विवेक आभा है,
शक्ति-व्रत को अजमाता है ।
स्व-परीक्षा प्रचण्ड लहरों में;
रवि धधकता टकराता है ।

एक एक कर बाँध रहा है,
सब तीरों से थाम रहा है ।
सिमट रहीं उच्श्रृंखल लहरें;
दहल गईं बाणों में ठहरें ।

निर्मम-ध्वनि - शर सुन ठहरीं;
प्रत्यंचा की हैं कम्पन्न लहरी;
उछल सकंपित हर्षित लहरें;
उर्ध्व, नतशिर अचंभित लहरें ।

कर बन्धन से बाँध लिये थे,
पग बाणों ने थाम दिये थे ।
अनिल - सलिल मृगनयनों से-
साकुल-व्याकुल देख रहीं थीं ।
तेज - प्रखर की प्रतिमा को हीं;
रवि - मण्डल अग्नि को हीं ।

नयनों से मुख चूम रहीं थीं;
हर्षित, हुल्लसित घूम रहीं थीं ।
आगे बढ़ना भूल गईं थीं;
सौंदर्य-तेज समक्ष खड़ीं थीं ।

बाण - धनुष से छोड़ रहा था;
वक्षास्थल-नद खोल रहा था ।
वसुओं के अवशेष बहे थे;
इन लहरों से ही गुजरे थे ।

गंगा लहरें देख रहीं थीं;
वसुओं की शक्ति प्रचण्डता ।
प्रथम बार अवरुद्ध कर गया;
मोहती यौवन की उद्दण्डता ।

ममता का प्रसाद लिये था;
मांसलता-ने रूप धरा था ।
देवलोक के व्रत सरीखा;
पावनता के सत्य सरीखा ।

सृजन क्षमता ही बन आई;
धरा चुनरी थी लहराई ।
आँचल में यह सुमन खिला था;
धरती का हृदय गद्-गद् था ।
अंक में भर दुलार किया था;
ममत्व का प्रसार किया था ।

बन्धन में ही सानन्दन मानें;
बाणों में बिंधी मुक्ति जानें ।
सूर्य उदित, अर्पित - तन लहरें;
आत्मा ने पहने ये गहनें ।

नृत्य-नुपूर - ध्वनित नर्तन था;
लहरों के हृदय सुकम्पन था ।
रूप-दिव्य - तेज भर गया;
तीरों से सब कलुष छन गया ।

लज्जा कुछ संकोच भरा था;
वस्त्र-हीन अंग-मन निखरा था ।
बाण - पथों साड़ी पहना दीं;
ममता ने चुनरी ओढ़ा दीं ।

धवल - सुकोमल मन्थर चितवन;
भाव-करों बाणों के बन्धन ।
क्रोधित - आनन चूम रहीं थीं;
सब तरंगित झूम रहीं थीं ।

सुख की एक गहरी निद्रा में;
रमणियाँ तो लेटीं लगती थीं ।
स्वप्न - उमंगों की मौजों पर;
पलकें-ओंठ, मुस्कान भरी थीं ।

उर्मियों ने श्रृंगार किया था;
शर-शय्या-तन छोड़ दिया था ।
शिथिल - गात परिधान उड़े थे;
तीरों में ही सिमट रहे थे ।

गोधूलि सी बिखर रहीं थीं;
चंचल-चपला-धवल बन्धित थीं ।
शर - छाया में हीं लेटीं थीं;
पुरुष-शक्ति पर ही निर्भर थीं ।

ध्वनि - प्रत्यंचा को कम्पातीं;
दन्त-पक्तियाँ भी खुल जातीं ।
लालिमा फैल गई फैनिल बन;
सूर्य-रश्मियाँ उदित क्षण-क्षण ।

किरणें फूटें मन्थर - शीतल;
बन-फूलों-सी लहरें हुल्सित ।
नुपूर टूट रहे किरणों के;
दाड़िम-बीज उछलते जल के ।

देव - प्रचण्ड - प्रकम्प छोड़ता;
चारों ओर कम्पन फैली थी ।
वेद ऋचायें ध्वनित हो रहीं;
तेज बाण-मृदु स्वर-लहरी थी ।

सूर्य उदित हुआ हंस सहसा;
भय-व्याकुल सब देख रहा था ।
देव बाण उस ओर भी छोड़ा;
राजन् ध्यान मग्न, था तोड़ा ।

दाड़िम - फूट पड़े बिखरे थे;
कचनारों के सुमन तिरते थे ।
श्वेत चाँदी पर रक्तिम लहरें;
क्रोधाग्नि-के बिम्ब चमके रे ।

चक्रायित रथ के पहिये थे;
देव-शरों पर ही घूम रहे थे ।
गति हुई अवरुद्ध गंगा की;
बाणों से बन्धित अटकीं थी ।

सहसा गति रुकी सुरसरी की;
जन-मानस कुछ समझ न पाया ।
सूख गई गंगा की लहरें;
मानव - हृदय भयभीत-थर्राया ।

'गंगा' के तट पर जब आता;
राजन् - विवेक भी है कुण्ठाता ।
रुके अश्व भागीरथी के रथ के,
भय - सँकुल रोमाँच रहे थे ।

लहरों का अन्त: हुल्सित था;
फेन-श्वेत में प्रकट रहा था ।
उर्ध्व-उत्तंग में बदल रहीं थीं;
बाण-शृंखलाएं पहन रही थीं ।

शिव - हिम - तरंग तांडव था;
कामधेनु का पेय - लेहन था ।
शेष - नाग के फन टूटे थे;
ब्रह्मा कंपित - हर्षित दीखे थे ।

भाग्य पर पुरुषार्थ हावी था;
मनु-विराट-शक्ति रूप प्रखर था ।
दृढ़-संकल्प-प्रचण्ड रूप धरा था;
लहरों को बांधे देव खड़ा था ।

देव, दैव - कर्म धुनता था,
कर्म-से भाग्य रेखा बुनता था ।
भाग्य कर - बद्ध नत शिर् था;
पुरुषार्थी समक्ष हताश पड़ा था ।

सृष्टि पुरुषार्थ की पूजा है,
कर्म-तेज-बल - इसमें शाश्वत है ।
कर्म - भाग्य रेखाएं लिखतीं;
दृढ़ संकल्प सभी पूरे करतीं ।

प्रयत्न - क्रियाशील - अविश्रान्त,
पुरुषार्थ - फल है कहाँ उद्भ्रान्त?
स्व - पुरुषार्थ 'भुव' प्रकट होते हैं,
नत-सिर, शक्ल-सिद्धियों को ढोते हैं ।

सुसमय - कुसमय दुविधा न होती;
प्रचण्ड - रश्मि घनों को छानती ।
दुर्भाग्य मेघ सा बरस है जाता;
नीलाम्बर में कब तक ठहर है पाता?

देव - सूर्य - तेज लिये धमका है,
'गंगा' लहरें को बाँध अड़ा है,
तेज-समक्ष अन्धकार न ठहरा,
सूर्य-रश्मि - बाणों ने निगला ।

राजन् - मन नई ज्योत्सना फूटी;
गहन-गुफाओं की वेदना यूँ छूटी ।
नव-प्रभात लिए सूर्य आया फिर;
कुसमय-देव कलि थर्राया फिर ।

मन - पीपिलका नया मार्ग देखा,
अन्तरीप द्वीप नया सागर-देखा,
इच्छा नौका फिर चप्पू दौड़ाए;
नीरव-गगन नव तारे चमकाए।

धरा ने शक्ति - रत्न, जना फिर,
प्रसव - वेदना का कम्पन्न-झेला फिर,
गंगा - लहरों ने शिशु नहलाया,
हृदय की पीड़ा को अपनाया ।

देवलोक से टूटा यह धर्म - पुजारी,
वसुओं से वसुधा ने गोदी की भारी ।
महाभिषक् कर्म - फलों का अधिकारी;
गंगा मांसल - पावनता का धारी ।

प्रतीक कर्म , शक्ति - नाम, धैर्य,
तेज - रश्मि पुंज, अपरिमित कौमार्य,
'थाम' खड़ा गंगा को, देखे
राजन्, व्याकुल गंगा के तट थे ।

द्वितीय: पर्व

शान्तनु अन्त: वेदना; पश्चाताप्

शान्तनु व्याकुल मन पीड़ित था,
'गंगा' चिन्तन पर जीवित था ।
मधु, मधुर मनोरम छाया को,
मरुभूमि में मन सींचित था ।

हूक उठाता पागल - हृदय;
'गंगा' फिर पाना चाहता था ।
ज्ञात हुए थे शाश्वत बन्धन;
मन-सागर में भीष्म - क्रन्दन ।

माँसलता के आत्मिक सम्बन्ध,
जग कितनी पीड़ा ले आते?
सुख, शिखर पर बरसे जल से,
कभी हृदय में ठहर न पाते?

शरीर की लघु सीमा निश्चित;
नर इस तक ही आ पाता ।
वियोग प्रिय का सह न पाता;
राजन्, मृत्यु से मृत्यु को चाहता ।

शान्तनु:-"मूक - रुदण दारुण - ज्वाला है;
प्रियता का वश महाकाल है ।
सुमन भी कंटक बन चुभते;
व्यथा - विरह की जब सहते ।

शीतल पवन जलाने लगती ;
सुगन्धि-विष फैलाने लगती ।
सूर्य प्रकाशित न हो पाता,
चन्द्र-तारकाएँ न लाता ।

दावानल ही मलयानिल से;
हृदय - वन में दहक उठा है ।
विरह - सिंह ने हिरन दबोचा;
रक्त से रक्तिम तन घायल है ।

मीन तड़पती तृष्णा-जल में;
जल में भी अब बड़वानल है ।
विरह-मगर सब निगल रहा है;
जीवन-तट भी तो घायल है ।

मन में चित्र गंगा के उभरें,
आँसुओं से ही धुल जाते हैं ।
पत्र लिखे जितने भावों में,
वाष्प कणों से उड़ जाते हैं ।

नींद कहाँ हो, स्वप्न कहाँ हो?
आतुरता ने जाल बुने हैं !
मिलने का आधार खो गया,
वेदना फिर, उच्छ्वास उठे हैं !

काम - मिलन के बाण छोड़ता,
मेघ दिखाई जब पड़ते है !
डाँवाडोल हुई अभिलाषा;
नीरद बिजली बन जलते हैं ।

तड़ित-मिलन की चमक रही है,
मिलनातुरता है और जलाती ।
सम्बल - प्रेम - बन्धन का टूटा;
'गंगा' तुम क्यों लौट न आती?

सूर्य गंगा में छिपा हुआ है;
कमल यह शोभाहीन पड़ा है ।
ग्रीष्म की ही तपन सरीखा;
विरह-दग्ध हृदय करता है ।

अब पछताता सोच रहा हूँ;
क्यों न मन विश्वास किया था?
मैंने किया अपराध भयंकर;
सौन्दर्य का तिरस्कार किया था ।

स्वर्ग लोक त्याग आया था,
शाश्वत-प्रेम बन्धन लाया था ।
पार्थिवता क्यों मन तू ओढ़ी?
वचन निभाने की जिद छोड़ी ।

प्रिया से अब नाता टूटा है;
जीवन जंगल ही बन आया।
हृदय-पत्थर तोड़ न पाता;
प्रिया वियोग संताप ही लाता ।

मन में रुदण निराशा जागी,
मिलने की आशा कब त्यागी?
पर कोई आधार नहीं है,
दीपक ज्योति तार नहीं है ।

बाँध तो सारे टूट चुके हैं,
सभी किनारे छूट चुके हैं ।
आशा का बन्धन जो होता,
विरह-दु:खी हृदय क्यों रोता?

वियोग की आतुरता सहभागी;
कहाँ कहाँ गंगा न व्यापी?
महल-उत्सव में रहे सामने;
श्वास-प्राण में कहाँ पालने?

शर - शय्या पर लिटा रही है,
आँचल-घन में छिपा रही है।
पलकों पर वही बिराजमान है;
चेतन को उसका ही ध्यान है।

हर पथ चलती सकुचाती,
हर पग पर मन को दुलराती ।
उच्छ्वासों से वही निकलती,
सिसकी भरती पल-पल मिलती ।

चन्द्र भी काला लगता है,
दिन में भी अन्धकार भरा है ।
मधु पात्र अब सब रीते हैं,
मधुगृह तो वीरान पड़े हैं।

थककर चूर हुई मधुबाला ।
लुढ़का मेरे जीवन, मधुप्याला;
मानस क्यों तूफान उठा है?
आँसू में, सागर डूबा है?

डूब गए मधु मदिरा प्याले;
सुख-सुधा के जो मतवाले ।
सूखा दिए झरने मधुरस के;
हृदय - सिक्ता भरे धरा के ।

हीरों से जो स्वप्न चमके है,
पत्थर बन कर सभी बुझे हैं ।
मधुबाला क्यों विष भर लाई?
दुर्दिन ने ली क्यों अगड़ाई ?

मादकता क्यों चूर हो गई ?
मदिरा में क्या नशा नहीं था ?
मधुबाला के सुधा सागर में,
जीवन क्यों आनन्द नहीं था ?

विष पात्र क्यों पकड़ लिया मैं?
गंगा धारा को ठुकरा कर।
अपने पावों पर ही शंका से,
मन तूने कुल्हाड़ा मारा?

इन्द्र धनुष अब नहीं हैं बुनते;
जो थे स्वप्न रंगीले लगते ।
लुप्त हुए विरह - विष पीकर,
मन के महल ढहे हैं भीतर ।''

शान्तनु ; हूँ गंगा को आतुर,
प्रमोसिक्त हृदय करुणातुर ।
रह - रह कर झरने दुःख - फूटे,
पत्थरों से क्रन्दन - शर छूटे ।''

तरल सुकोमल बन्धित झरने;
व्यथा नहीं, स्मृति-आनन्दित ।
प्रेम - सागर में बड़वानल था;
राज़न स्वयं उसमें जलता था ।

हालाहल में विष नहीं है?
लक्ष्मी ही तो विष - सागर है,
व्यवधान - सत्ता से पाते,
विष पीकर शिव तो हो जाते।

''लक्ष्मी स्पर्श से विष्णु निद्रारत,
मूर्च्छा से रहते हैं व्याकुल ।
लघुता ही प्रभुता बन आई !
'गंगा' हृदय क्यों लौटाई?

लघुता में प्रभुता रहती है,
प्रभुता लघुता में रहती है,
दूब विनायक माथे चढ़ता,
ताड़ वृक्ष को कौन पूछता?

लघुता प्रभुता न पहचाना,
इसका पर परिणाम न जाना ।
लक्ष्मी दुर्लभ मर न मिलती,
नीतिज्ञ जीव के पास पहुँचती ।

धनादि विषय, सुख सम्पन्न;
नदी की धारा - चंचल अनुपम।
उत्साही, आलस्यहीन, निष्कलुष-
जनों को मिलती निधि सर्वोत्तम।

हृदय ! सर्वोत्तम सुख न भाया;
गंगा - लक्ष्मी को क्यों लौटाया?
प्रेम ! हाय ! हृदय क्यों न जाना?
गौ-बछड़े का रिश्ता अनजाना ।

प्रेम गंगा से ऐसे हूँ करता,
जैसा गौ - बछड़े से करती,
बाँध प्रणय ! ममता का सागर;
वत्सल्ता भरती सुख - गागर ।

चोट कभी अंगुलि खा जाये,
मन बच्चे की तरह सहलाये ।
प्रेमातुर हृदय फिर चीत्कारे;
ममत्व-भाव से ही पुचकारे ।

करुणा की धारा बह निकले,
प्रणय'सागर की लहरों से ही।
ममत्व भाव की गहराई;
गंगा-हृदय अनुराग से पाई ।

चंचलता - प्रणयी हृदय में,
व्याकुल करती पर सूने में ।
एकान्त तड़पन में सुख पाता,
चन्द्र किरणों को अब पछताता ।

मन-कुसुम की चंचल सुगन्धि;
कुमुद खिले चन्द्र किरणों से ।
सूर्य किरण से हैं झुलसाते,
पुष्प-सुगन्ध को हैं मुरझाते ।

प्रेम - कुमुद गंगा चन्द्रसे-
खिला कभी है अब मुरझाया ।
नदी विषय - शिला ने थामी,
जल - हृदय और गहरायां ।''

गंगा, मन की व्यथा नदी में,
गति - पूर्ण तूफाँ आये थे ।
थाम नहीं पाता क्यों मन,
बहते, गंगा - तट आये थे ।

गंगा का स्वरूप अनोखा,
क्षण-क्षण नया रूप धर आता ।
शाश्वत आभा ! वह लावण्य,
चारों ओर वही छा जाता ।''

हृदय प्रेम कोश राजन के
नित नूतनता भरती गंगा थी;
गुण-लहरों के मोती-मानिकए-
हृदय-हार बढ़ा जाती थी।

पूर्व जन्मो की गाथा को,
शाश्वत-प्रेम के बन्धन को,
हृदय-आत्म तोड़ न पाते,
नर विवेक अश्वों पे दौड़े,
इस सत्य को हैं ठुकराते ।

हृदय अपनी सहज गति से,
जीवन जीने का आदि है ।
विवेक तर्क - जालों में फंसकर,
स्व-बन्धन का अपराधी है ।

शरीर की माँसलता को जीते;
बीत गये युग भटक रहा है ।
हृदय के अलौकिक सृजन में,
अद्भुत, तो आनन्द भरा है ।

प्रेम इन्हीं महलों में रहता,
राजन् अब तो जान चुके थे ।
हृदय - पीड़ा के आन्नद को,
गंगा - वर पहचान चुके थे ।

प्रथम दर्शन में राजन ने,
उपहार रूप समर्पण किया था ।
काम पंच बाणों को छोड़ा;
राजन-हृदय सम्मोह लिया था ।

विरह - सैनिक अब राजन के,
हृदय द्वार पर अडिग खड़ा था ।
काम बाणों को कुंठित करता,
विरह से, चूर चूर बड़ा था ।

जन्मान्तर कर्म के विपाक से,
अनुराग हृदय पर चोट कर रहा ।
दुःख प्रेम के साथ साथ ही,
छाया - अश्व पे दौड़ रहा था ।

विरह के बीजों से ही तो,
निश्छल प्रेम पुष्प खिलता है ।
आशा - लताएं फिर लहरातीं,
सुमन अलौकिक रूप धरता है ।

राजन मनकी सब मांसलता
गंगा - प्रेम - धारा धो डाली ।
अन्तिम मिलन की उर्ध्वता तो
शाश्वत प्रेम बन्धन ने पाली ।

"उर आतुर में बसी है गंगा,
प्राणों में बहती बस गंगा ।
चित को कुछ भी नज़र न आता,
पल पल तो उस ओर ही जाता ।

विवेक विचार भावों की लहरें,
उठती हैं हर घड़ी बराबर;
पीड़ित हृदय रोक न पाता,
विरहाकुल आँसू धार बहाता ।

प्रकृति वृति बन चुकी है गंगा,
उस बिन निरर्थक-जीवन बेढंगा ।
उसे छोड़ कुछ नज़र न आता,
आँखों का मोती पथराता ।

समस्त सृष्टि में एक वही है;
एक वही तो जगत है सारा ।
छोड़ उसे जीवन यह क्या है?
बस यह तो बन्धन है कारा?

व्यथा - सागर बँध हैं टूटे,
हृदय से आँसू हैं फूटे ।
सारा जग सूना है लगता;
भीड़-भाड़, एकान्त भटकता ।

परिजन - प्रजा न अच्छे लगते,
मन की ज्वाला से हैं जलते ।
शासन राज्य सत्ता नीरस है;
प्यासे - हृदय दुःखी हैं करते ।

घनी अरुचि हृदय जागी है,
गंगा बिन तो सब खाली है ।
मन ने तो चीत्कार उठाया;
आहों का सागर गहराया ।

क्षण क्षण तो युग बन बीते,
आशा के प्याले सब रीते ।
कहाँ तक दुःख सहन करूँगा?
मृत्यु तेरा ही वरण करूँगा?

लोक छूट न क्यों पाता है?
हृदय - विरह क्यों तड़पाता है?
भीतर में गंगा बहती है,
बाहर भी वह ही रहती है ।

हृदय क्यों उसे छोड़ न पाता?
कैसे शाश्वत - प्रेम सताता?
छोड़ उसे नहीं मस्तक पाता ।
प्राण उसी से जीवन लाता ।

प्राणो में है गंगा थर्राती,
श्वासों में बही है आती ।
प्राण क्यों तुम न मुझे छोड़ते?
माँसल नाता क्यों नहीं तोड़ते?

चन्द्र सूर्य ही बन आया है !
कोमल-पुष्प को झुलसाया है !
शीतल पवन जलाने आई !
पत्थर कुछ बरसाने आई !

पुष्प नुकीले दाँत चुभोते,
पंखुड़ियों को रहे कुचलते ।
चन्दन लेप जलाता तन है,
बिच्छू ढंक सरीखा पल है ।

चिंगारी, कुसुम जलाते सारे?
सर्पों से, विष भर लाते तारे?
क्षण क्षण कल्प हुआ क्यों मेरा?
रात्रि - दिवस अन्धकार बिखेरा?

गंगा जीवन अमृत की धारा,
सुख - आनन्द समेटे सारा ।
मुक्ति दु:ख - कष्ट थे पाते,
जब भी कर स्पर्श सुहाते ।

नेत्रों की ज्योति थी गंगा,
अब अन्धकार दिया हैं गंगा ।
अमृत अब विष बन आया,
सुख - आनन्द ने रूप छुपाया ।

उस बिन सूने आँगन - कानन,
गलियाँ, मन्दिर-प्रसाद, क्रीड़ातन ।
हृदय मन्दिर जलता क्यों है?
अब जीवन भी खलता क्यों है?

भाग्य की रेखाएं ही मेरी थी,
उस बिन अब उजड़ी नगरी थी ।
जीवन की सुगन्ध वही थी,
पल - पलकें आनन्द भरी थीं ।

गंगा ही मेरा सुहाग था,
उससे ही जुड़ गया भाग्य था ।
हत - भाग्य अब कांटो पर लेटूँ;
स्वयं को दूब सा जलते देखूँ ।

डूब गई मँझधार में नैया,
गंगा तो थी बनी खवैया ।
चप्पू - मस्तूल टूट गए हैं,
सभी किनारे छूट गए हैं ।

साँसों से ही रेंग रहा हूँ;
जीवन कीड़ा खींच रहा हूँ ।
शक्ति हीन हूँ बिन गंगा के;
प्राण-हीन हूँ बिन गंगा के ।

स्वर्ग धरा मेरे हित आया,
तूने तो दुर्भाग्य, लौटाया ।
पक्षी-सारस बन उड़ जाता,
गंगा को हालात दिखाता ।

धवल-स्फटिक दमक रहा मन,
सूर्य-प्रेम बन चमका क्षण-क्षण ।
प्रतिबिम्ब-किरणें करतीं आतुर;
प्रेम-रूप लखने को व्याकुल ।

प्रीति के बन्धन कब ढीले,
बैरिन बन गए हैं रंगीले ।
भीतर भीतर जला रहे हैं;
दुःख अनुभूति बढ़ा रहे हैं ।

धुआँ आग का नज़र न आता;
आँसू का बादल छा जाता ।
एकान्त-में उड़ना अच्छा लगता;
गंगा - चिन्तन जीवन बनता ।

यौवन की सेना चढ़ आई,
विरह कोकिला बीन बजाई ।
पपीहा प्रिया प्रिया रटता है;
विरह-युक्त हृदय फटता है ।

जीवन रात हुई और काली;
चाँदनी न लौटी मतवाली ।
बिना चाँद रात डराती;
घोर निराशा बढ़ती जाती ।

सजनी - सजनी हूक उठाता;
मधु-रस-प्रेम विष ले आता ।
टूट नहीं पाता यह नाता
आत्म कैसा, बन्धन आता ?

तिनका होता तोड़ मैं देता;
यह तो जीवन की शक्ति है ।
प्राण-प्राण में लीन हुए हैं;
लेकर गंगा दूर चली है ।

प्राण - हीन पंजर, सा जीना;
हर पल आँसू, हँस है पीना;
कितने दिन और रातें बीतीं;
ऋतुएं आईं चलीं सालतीं ।''

सुन्दर का सम्मोहन भारी,
ब्रह्म की यह शक्ति सारी ।
सृष्टि - सृजन का आधार है,
रचना क्रम का सूत्रधार है, ।

जीव सदा परवश हो चलता;
ब्रह्म का आदेश ही पलता ।
विधि को टाल नहीं यह पाता;
एक पतंगे सा जल जाता?

''समय ही ऐसा टूट पड़ा था,
'स्व' से ही अन्याय किया था ।
ठीक समय पर ही उपकारी,
अन्यथा बहुत होता अपकारी?

मेरा जो अपकार हुआ है;
मैंने तो ये स्वयं किया है ।
समय लौट कर कब आता है?
मानव-मन बस पछताता है ।

तीव्र गति से समय बीतता;
पर मुझ पर क्यों ठहरा है ?
एक-एक कर रात्रियाँ बीतें;
दिवस-रात के प्याले रीते ।

फल रहित वृक्ष ही मैं था,
सब पक्षी भी छोड़, उड़े हैं ।
जो दिनों में ज्ञात नहीं था;
वर्ष बहुत कुछ सिखा गए हैं ।

समय ही चढ़ आया मुझपर;
जन्म से ही दौड़ा तो मैं था ।
समय पोत पर ही बैठा था;
दुर्भाग्य से ही भिड़ा तो मैं था ।

सागर का वक्षास्थल चीरता;
मैं तो था इतरा कर बढ़ता।
वह पोत अब डूब गया है;
'गंगा' की धारा में बढ़ता ।

समय को न पहचान सका मैं;
विक्षिप्त हुआ मोहांध दौड़ा था।
धूल बिखेरता समय खडा था;
प्रतिज्ञा बद्ध समय किया था ।

गंगा में विश्वास घटा था;
समय टूट पड़ा था मुझपर।
मेरा सब विवेक - हरा था;
विष का मैनें पान किया था?

गंगा से क्यों प्रश्न किया?
सात बार बाँधा था धैर्य;
अष्ट बार यह क्यों टूटा?
कैसा मोह ने जाल बुना।''

मानव तो मानव रहता है,
देवत्व से वह कैसे टकराता?
मेघों के भीतर चपला है,
चंचल अल्पज्ञ समझ न पाता?

गंगा हृदय समझ न पाता;
तट पर ही पानी गहराता?
कल्पना , सौन्दर्य - आसक्त,
सत्य कभी मन, ज्ञान न पाता।

सृष्टि में फैला है कण - कण,
हृदय क्यों भटकाया बन बन ?
रत्न-कोष स्वयं चल आया था.
अज्ञान-आँख ने ठुकराया था ।

सुत - स्मृति स्वरूप लिए है,
यह भी तो अन्धकार लीन है ।
वेग कामना का बलशाली,
उच्छृंखल तट तोड़ लीन है ।

प्रतीक्षा, जीवन-झर झर काया,
मधु-पात्र, कर रीता पाया।
मधु ही कर से बहुत दूर है;
मन-मादकता में ही चूर है ।

समय समझ कुछ भी न आता;
सीपी में मोती पथराता ।
जल कण, रत्न लौटा लाते हैं,
व्यथा सागर से टकराता ।

मुख खोले तो निकल पड़ेगा;
अचानक ही तो चमक पड़ेगा ।
'गंगा' का उपहार मिलेगा.
कब जीवन तुम्हें सार मिलेगा ?

आँसू, विरह, जलन, निराशा,
मन मोती से, फूट हैं निकले ।
इनमें छिप जाती घटाएँ;
अनुभूति - तड़ित चंचल है ।

अनुभव की भट्ठी पे चढ़कर,
सोना कुन्दन तो बनता है ।
गंगा ने पहुँचाया इसको.
जीवन सार समझाया मुझको।

आँसू - व्याकुल सूख गये हैं;
'गंगा - के सन्देश मिले हैं ।
मन - तारें तो अब झंकृत हैं
शान्तनु-भाव अब चमत्कृत हैं ।

विरह में भी आन्नद भरा है,
प्रेम को यह वरदान मिला है ।
प्रेम वेदना पीड़ा ही लाता,
उच्छवासों से मेघ जलाता ।

सृष्टि के अरमान उजड़ते,
प्रेमी-हृदय जो कभी बिछुड़ते ।
दर्द-अनोखा, आनन्द लिये है,
प्रेम तो आँसू धार पिये है ।

हृदय से होकर बहती है,
व्यथा - पीड़ा बहा लेती है ।
इस जीवन का सार ये आँसू;
मधु-अमृत धार हैं आँसू ।

उच्छवासों पे चढ़ आते हैं,
प्रेमी मन को समझाते हैं ।
सान्त्वना यह विरह-तप्त को;
आश्वासन, देते अनुरक्त को ।

सत्य-प्रेम की परख यही है,
दिल में आँसू धार बही है ।
वियोग ही अमृत बन जाता,
भव-सागर तत्त्व समझाता ।

चट्टानों में भी लहर उमड़ती,
शक्ति-अनुरक्ति, फूट निकलती।
हिम - नद भी पिघला देती है;
शिला - शिखर बहा लेती है ।

सृष्टि-सौंदर्य इस में सिमटा है,
संवेदना का सागर उमड़ा है ।
तरुण - करुण लहर बहती है,
स्मृति अमिट अंकित रहती है ।

चारों ओर चित्रित, बुनती है,
हृदय-रंग, रंगित-झंकृत है ।
भाव-लहर पर न मन्थर है;
हंस-कलहंस ही मिलते है ।
सुखप्रद यह अहसास घने हैं;
कैसा यह वितान तनते हैं?

लता - पुष्प लिपट खिलती है,
चन्दन की शोभा बढ़ती है ।
अनुभूति को शृंगार मिला है;
प्रेम लता - पुष्प पलता है ।

तरल सुगन्धित पवन ले आता;
काँटों - सुमनों में मुस्काता ।
मेघ उमड़ आते सावन-वन;
मन कैसा बन्धन है पाता?

चन्द्र तो आकाश में उठता,
सागर की लहरें चंचल हैं?
शशि समक्ष रहता है जब जब;
'भाटा' की लहरें हैं मन्थर?
'ज्वार' उठाती ओझल होता;
कैसा अद्भुत, बन्धन पाता ।''

शान्तनु-मन ऐसे व्याकुल है,
'गंगा' को पाने पागल है ।
'गंगा' गांगेय रूप में आई,
सान्त्वना मन में अंगड़ाई ।

चाँद बाँटता शीतलता था,
चन्दन का अनुलेप लगा था ।
'गांगेय' की मनोहारी चितवन,
चाँद प्रमुदित देख रहा था ।

चाँद भी आँखें खोल रहा था,
वरे पीतम्बर - अम्बर में से ।
धीरे धीरे उमड़ रहा था,
मन ही मन कुछ घोल रहा था।

एकान्त-मधुर नीरवता बहती,
मन पगवाटें साथ चलीं थीं ।
स्निग्ध-रश्मियाँ चूम रहीं थी,
अलिंगित होती घूम रहीं थीं ।

शान्तनु व्यथा कुछ होती शान्त,
मधुर-सुकोमल हो रहा एकान्त।
धीमें धीमें चली आई साँसें;
प्रकम्पित रोमांचित थी पदचापें।

प्रणय पंख क्यों फैला रहा था?
चन्द्रमुखी चाँदनी सहला रहा था ।
अंगों की सुगन्धि फिर जागी;
मिलन - रात्रि व्याकुल फिर थी ।

भ्रमर गुञ्जार, पुष्प-मुकुलित थे;
चाँदनी-तन स्पर्श सधन थे ।
नुपूर-ध्वनित, लहरें गूँजीं थी;
राज-राजेश्वर तो व्याकुल थे।

राज्य - लक्ष्मी छोड़ गई थी,
राजेश्वरी की कुर्सी खाली थी ।
चन्द्र गगन में उदय होता था,
चाँदनी 'गंगा' संग चली थी ।

"अन्तिम - दृश्य उभर आते थे,
अंगारे-मन पर बरसाते थे ।
वरदान, अभिशाप किया था?
स्व हाथों पग काट लिया था ।

विवेक, समय जब हर लेता है,
भाग्य और धक्का देता है ।
अज्ञान प्रचण्ड भीष्म ज्वाला है,
सुख-अनुराग ही जल जाता है ।"

राजा, धर्म तत्व को छोड़ा,
क्रोध, लोभ, भय नाता जोड़ा ।
नशे में हुआ सिंह मतवाला;
पागल, भूखा हुआ उतावला ।

"असावधान - कामी बन कर,
धर्म-अधर्म मन नहीं विचारा ।
संसार भावना से प्रेरित मन,
आत्म-भाव को नहीं पुकारा ।

अज्ञान ज्ञान को ढाँप लेता है,
दुःख सुखों पर छा जाता है ।
मोहित-सुत-सुख का आकांक्षी,
पुण्य-फल को भी ठुकराता है ।

"मेरा मोह-सुत दुःख लाया है,
आशाओं ने बाँधा मन को ।
भटक रहा मृग जंगल में,
विरह-सिंह पीछा करता है ।

कर्म से नहीं, ज्ञान से होगा,
अज्ञान राग-द्वेष में पनपे ।
अज्ञान-दुःख बहु भयंकर होता,
अन्ध, प्रमाद काँटे ही बोता ।

धीरे धीरे घटा सवेरा,
माँसलता ने वरा अन्धेरा ।
देवाधीन कर्म हैं सारे?
शंका तो पुरुषार्थ बिगाड़े ।

मन पतंग मोह का दीपक है,
बार-बार जलता व्याकुल है ।
मछली-मन मोह - मांस को,
कांटे में फंस तजे प्राण को ।

मोह-मकड़ी तो जाल है बुनती,
स्वयं-ही बन्धन को है चुनती?
मोह-विष विषय रूप धर लेता,
चेतन गहरी निद्रा लेता ।

सुत-मोह जागा, व्रत टूटा है,
वाणी-बल स्व से छूटा है ।
कामनाओं के दीप जलाए,
मोह-वश आँसू ही ले आए ।

स्व अनिष्ट का मूल मोह है,
दु:ख-निद्रा ही लाता मोह है,
मोह सौभाग्य जला देता है,
काटों में पग उलझा देता है ।

स्वर्ग - लक्ष्मी कृपा न जानी;
स्वाति-बूंदें भी, समझा पानी ।
हृदय सीप को खोल सका न,
'स्व' को स्व ही तोल सका न।

हृदय अब क्यों पछताता है?
धूल-विरह क्यों बिखराता है?
गंगा, सुत दोनों ने त्यागा;
राजेश्वर तो रहा अभागा ।''

सुत की सुधी उभरी थी,
हृदय व्याकुल ही करती थी,
भ्रमर-कमल में ही बंदी था;
मोह-रस-पीड़ित मद अंधी था।

गंगा का लावण्य सुनहला,
प्यार धरा पर उसका पहला ।
अन्तिम - रूप ही लाया था;
शान्तनु हृदय अकुलाया था ।

"टीस-भयंकर रह रह उठती,
विरह-ज्वाला दारुण चुभती ।
पीर मिलन की रही जलाती,
भूल कभी गंगा न पाती ।

ज्योतिर्मयी, ज्योत्सना निर्झर है,
चंचला स्नात मधु-चन्द्रिका है ।
लघु - ज्वालामुखी, नित्य यौवना;
अमर-अमिट छवि ज्योतिष्मना ।

चन्द्र किरणों से मंडित आभा,
स्वर्णोज्जवल - पूर्णेन्दुमुख मंडल ।
दर्पण-गात कनक द्युति निर्मल,
शरत्-चन्द्रिका, स्नात मल्लिका ।

पूर्णेन्दु - जगमगाती देह-लता,
लावण्य भार में ज्योतिर्मयी लता,
ब्रह्म लोक की दीप-शिखा है,
इन्द्रधनुषी छविमान प्रभा है ।

चन्द्रकान्त मणि जाज्वल्यमान,
चन्द्र ज्योत्सना में अंग स्नात,
केशर - द्युति चंपक - गात्र अरुण;
स्वर्ण-मकरन्द, अलौकिक छविमान ।

मायामयी अप्सरा प्रणयिनी,
ग्राम्या नारी स्वप्निल, उन्मदिनी;
सकरुण, सलज्ज, उल्लसित,
कुन्दन-तनमयी किरण-मज्जित ।

ज्योति - बालिका अध - खुले अंग,
मुखचन्द्र, कमल, कदली स्तंभ,
मृणाल, दाड़िम के बीज, कंबु कंठ,
केहरि-कटि चित्रलिखित-शृंगार अंग ।

शशि मुख अलक-घटा ओढ़े,
चौंदवी - चाँद खिला आनन,
सुरा - सुरभित बालारुण,
ऊषा-स्वर्णोदय सौम्य यौवन ।

पाटल सदृश्य अरुण कपोल,
ऊषा - रवि स्वर्ण सुडोल ।
लज्जारुण, चंचल, कोमल, तृप्त,
अरुणिम-गोल उज्ज्वल हिलोर ।

खंजन, मीन, चातक, मृग नयन,
भृंग-चकोर, नीरज नलिन नयन,
मानिक-मदिरा-यौवन-मद भरपूर ।
लोहित लोचन मधुकरी चितवन ।

नयन नीलिमा के मधु घन,
मुकुलित बंकिम, विशाल नयन,
लाज भरे, स्वप्न जड़ित तारक गण,
वारुणी विलसित चंचल चकित नयन ।

काली - कजरारी - मदमाती चितवन,
अर्द्ध निमीलत किरणोज्जवल नयन,
मीन - लहर आंखों का बचपन;
मेरे हृदय में भर गया सम्मोहन ।

चारु चिबुक अंकित, चंचल,
बालारुण-शशि मुख पर 'तिल',
सौन्दर्य का स्वर्गिक स्थान,
नयनिमा नयन लगे अभिराम ।

शान्त-भृकुटि पर शान्त लहर,
'गंगा-स्वर्णिम शुभ्र - सुन्दर;
काली घनी तूलिका-धनुषाकार,
बांकी चितवन उर करे पुकार ।

कर्ण-पुष्प - कुण्डल - गुञ्जरित,
आरक्त विस्तीर्ण सहज मुखरित,
'गुलदाऊदी के श्वेत-अरुण तार,
मुखाम्बुज को और रहे सवार ।

तेज भरा सा उन्नत ललाट;
मुकुलित - सरोज पूर्ण मृदुहास;
रवि खंड - सादृश्य छविमान;
जीवन-विकास सा ही द्युतिमान ।

चकित - मृगी ग्रीवा, कंबुकंठ,
मधु - सुराही भरी मकरन्द,
वृषभ स्कंध, कपोल कंठ,
पतली लम्बी हिरणी गरदन ।

गौर वक्ष शोभा के युग घट,
वसुधा के रस भरे कलशों में,
सौन्दर्य शिखरों में उभरे राजहंस;
मातृत्व से भरा सुधा - सागर ।

शाश्वत यौवन के सुन्दर उभार,
रजत-हंस तन के कंदम गोलार्ध;
चंपक-कमलों के गौर उभरे वक्ष;
शुभ्र कुईं से उरोज स्वर्ण-जलद ।

चोली में उभर - उभर मलमल,
खिचते संग-संग उर भरे कलश;
चारु - हंस छवि उदार श्वेत-हंस;
स्पंदित नव इन्द्रजलद कंत ।

सरोवर में तिरते अरुण-कमल;
सूर्य-किरणों में स्वर्णिम विकल ।
स्वर्ण कुंदको से सर सरोज;
चुभते मुग्धा के स्तन गौर ।

उच्छवासित वक्ष की हलचल,
उन्मुक्त श्वासों की मधु शर-शर;
दिव्य-आभा की वह चका चौंध,
विस्मृत न हो, उर में थर-थर ।

स्वर्ण प्रभ प्रिय-परस कठिन सरोज;
चिर यौवन के मद भरे कलश;
स्वर्गिक-सुधा लिए पयोधर - कान्त;
धरती पर आये मेरे हित-शान्त ।

सुख लहरों पर तिरते राज हंस,
शाश्वत-आभा सर्वोत्तम सुन्दर;
मोती चुगते थे शावक - मराल,
कमल-तैरे थे उर के अन्दर ।

पथराती स्वयं आंखें - कुकाल;
कुचक्र बुन गया स्वयं दुष्काल;
स्वर्गिक-सौन्दर्य करता नर्तन ताल;
विपरीत बुद्धि-दिया विनाश काल ।

तनिमा केहरि कटि बाला,
रस कलशों से भरी मधुशाला,
मृदु अलबेली बाहुलता प्रलंब,
सीप छटा सा उदर गजदंत ।

भुजमूलों का नग्न मृदु मांसल,
आमंत्रित करता उर आलिंग्न,
शोभा-निर्झर बाहों में बद्ध,
स्वर्गिक-सुख मिलता जब-जब ।

कोमल मखमल कर स्पर्श,
अलौकिक आनन्द भरता सहर्ष,
किश्लय कोमल उगंलिया चंचल,
गौर-पंखुड़ियों की मर - मर ।

सरिता सी लहरित भाव लहर,
नयनों में भरती सुधा-सागर,
चंचल तरंग पर कमल चरण,
पल्लव सदृश करतल-पदतल ।

अप्सरा नित्य यौवन मयी सजनी,
रूप मदिरा से उन्मद-मनमोहनी,
स्वप्नों की प्रतिमा शोभा देही,
सुरजा सुप्रिया मनोहारी केशिनी ।

तिलोत्तमा, रक्षिता, रंभा, विद्युतपर्णा;
अलंबुषा, मिश्र - केशी, प्रणय, प्रतिमा;
मेनका, उर्वशी, इंदुमती मायाविनी,
'गंगा' सौन्दर्य-सर्वोत्तम कल्याणकारिणी ।

मांसल - मोह में तल्लीन हुआ,
सौभाग्य स्व कर्म से मलीन हुआ,
ब्रह्मा की सर्वोत्तम सृष्टि मैंने पाई,
दुर्बुद्धि - मनुज बन ठुकराई?

रश्मिमयी वसंत निसर्ग विहारिणी,
वर्ण-गन्ध से युक्त कल्याणकारिणी,
लहराती - मलय पवन स्व हित आई,
स्वाति-मेघों की घटा क्यों लौटाई?

उर-हंस मेरा पत्थर चुगता है,
नन्दन-नन्दिनी-ज्योत्स्ना चुनता है,
तन्वी हो 'गंगा' धरती पर आई,
चीत्कारो उर, कुसमय लौटाई?''

सुत को पाने की अभिलाषा,
मन आनन्दित कर जाती थी,
'गंगा' की मधुर स्नेहिल वाणी,
रश्मि घटों को भर लाती थी ।

जीवन की काली छाया में,
रह-रह सूर्य-गंगा उगता था ।
गंगा - सागर के तट बैठा,
मन मराल मोती चुगता था ।

सुत मिलने की तीव्र इच्छा,
धर्म - निष्ठ राजन् करते ।
जीवन रात्रि के अन्तिम पहर में,
ओस की बूंदों से बरसे ।

शीत - लहर हृदय कंपाती,
अहो-रात्र में हिम गिरती थी;
सूर्य-किरण - गंगा लहरों में,
प्रातः का सुख दे जाती थी ।

निशा में आतप का ही सुख था,
'गंगा' - सूर्य हृदय चमका था,
गहन - अन्धकार, शून्यता लाता,
मानव स्व प्रतिबिम्ब है पाता ।

धर्मनिष्ठ भगवत् परायण राजन् को,
ज्वार दिशाओं में भरता जाता ।
पूर्ण क्यों अन्धकार न छँटता?
प्रति-पल है कुछ और गहराता ।

भावुक राजन्, राग-पाश बन्धित;
प्रेम-सागर में ही लहर-चक्रयित ।
पत्थर न बन पाता हृदय;
यही विडम्बना फिर अपरिमित ।

अन्तरीप पीछे को लौटे,
तीनों ओर जल-ही जल था;
सेतुबन्ध फिर कहाँ ठहरता?
आधार-हीन बस अन्धकार था।

गंगा के स्मृति सागर में,
लहरों से ही बिछे थे राजन्;
मन-मीन सागर चंचल था;
तट छोरों को तोड़ रहा था ।

सुत में गंगा की प्रतिच्छाया,
पाने को व्याकुल विलम्ब से;
अधीर-जोर से काँप उठते थे,
व्याकुल-चिन्तित तो राजन् थे ।

गंगा तट सान्त्वना देता,
भटक रहे गंगा के तट पर ।
गंगा - दर्शन सिमिटा सब सुख,
कट जाता मन का सब दुःख ।
उसी ओर तो बढ़ आये थे,
तेज - सूर्य प्रकम्पित करता ।

जब राजन् इस ओर थे आये;
रुकी लहरों में भंवर चकराये ।
थमीं, डरीं, सहमीं थी लहरें;
तीरों के परिधान थी पहनें ।
हर्षित, कम्पित-झर झरती थीं;
इस बन्धन में रोमाँच रहीं थीं ।

तृतीय पर्व

गंगा आगमन देव समर्पण

चिन्तन में गंगा है बसती,
हर-पग, समक्ष ही रहती;
राजन-मन उस ओर झुका,
गंगा-रूप सदा निखरा ।

मन चंचल मीन-शिशु-सरीखा,
उसने तैरना स्वत्व से सीखा ।
स्मृति - रश्मि तम चमकाती,
तड़ित मेघों को हैं कम्पाती ।

गुरूतर शिला झरने फूटे,
राजन् के आँसू फिर छूटे ।
एकान्त में बन्धन सब टूटे,
उच्छ्‌वासों के प्रपात अनूठे ।

रोकता रहता है जिसको नर,
चित वे ही तो भारी-गुरूतर,
प्रहार, पीसता, चले रौंदता;
नयन-धनों में चले कौंधता ।

प्रिया-गंगा, दर्शन अमृत थे,
आँसू-गरल पिया समझे थे,
विपत्ति भी उत्सव बनती,
गंगा-मन-दर्पण, में रहती ।

स्वप्न सदा परत्व अवलंबित,
दर्पण में रूप प्रतिबिम्बित,
दर्पण जब खण्डित हो जाता,
स्वत्व भी कण-कण छितराता?

अतिशय प्रेम, अनिष्ट सताता,
पर पे पूर्ण अधिकार जताता,
स्व केन्द्र पर ही चकराता,
अहं बिन्दु छोड़ना न चाहता ।

स्व-प्रयोजन के केन्द्र पर ही,
मन चंचल हो घूम रहा है,
पर - प्रयोजन को अनबूझे,
स्व-अहं को यह चूम रहा है ।

नर-शाख काँटों से तर है,
नारी सुमन खिलता मन्थर है,
नर - समाज सम्मान है पाता,
विनय-लज्जा-कोमल न ठुकराता ।

अर्धचेतना में रहता मन नर,
स्वत्व अधिकार के मद पर,
पुष्प-सुकोमल बन कर बिछता-
तो, काटें नर-मन क्यों चुनता?

सागर में जब चंचल लहरें?
उमड़-उमड़ कर तट बढ़ती हैं;
ठोकर जब तट ही देता है,
टूट-शिथिल लौट पड़ती हैं ।

चोट गुरू लोहा फैलाती,
ढाल-तभी तो बन कर आती,
दु:ख-असि को रोक है पाती,
तेज-शरों से है टकराती ।

कर्म-'सान- पर धार-लगाता,
दुर्भाग्य-दैत्य ही कटता जाता,
देव अमरता, रस झरता है,
क्रियाशील-विहग उड़ता है ।

राजन्-व्याकुल भटक रहे थे,
स्व-मन्थन से टूट रहे थे,
हताश, लौट गंगा तट आये,
प्रिया-निकट लखी, सुख पाये ।

सत्ता, हृदय-हीन किया था,
संवेदना के सब पंख थे टूटे;
शासन-उत्तराधिकारी, चाहता,
'गंगा-से कैसे फिर पाता?

शासन व्यक्ति से बढ़कर है?
व्यक्ति सदैव बलिदान है देता,
निर्मम-शासन, स्वार्थ बंधा-पशु,
व्यक्ति का ही ग्रास है लेता ।

शासन-अश्व के रथ रुकते जब,
अनाचारी व्यक्ति बन जाता ।
शासन-रथ में जुता ही रहकर,
व्यक्ति जीवन मार्ग पाता ।

शासन सदा उसे रोकता,
पशु होने से डरता मानव,
दण्ड-नियम की लगाम से,
भयभीत-सीधे-पथ अन्त:दानव ।

राज्य पशुबल पर ही जीता है,
मानव-बल में पशु छिपा है,
उसे जाग्रत ही करता रहता,
शासन को नर ऐसा चाहिए ।

संन्यासी न शासन बनता,
धर्म पशु-बल पर चलना है,
शास्त्र का निर्माता बन कर,
विद्वता को वश में करता है ।

जीवन के बस लिए नहीं है,
अच्छे जीवन पर जीवित है ।
अस्तित्व पशुबल से रक्षित है;
स्व-अंश से ही पालित है ।

शासन उत्तम, मानव पर है,
जो इसको संचालित करता है ।
मानव-पशुबल-अश्वों सा जोते,
सद्-जीवन-पथ को भरता है ।

पशुबल के बिना कभी भी,
रक्षित, पालित कब होता यह?
सहृदय विवेक, त्याग-बल से,
धर्मोचित मार्ग चलता है यह ।

प्रजा योग्यायोग्य कहाँ देखती?
हिताहित कब उसे ज्ञात है?
अनुगमन-भयवश करती है?
शासन-अश्वों के पीछे दौड़े ।

योग्य-आचार का प्रेरक राजा,
वही नियति बनता जनता की,
नीति, बल का धनी राजवंश,
सुख-सुविधा बनता जनता की ।

राजदण्ड के ही भय से,
स्व मार्ग पर चलता पशु है,
धर्म निभा पाता है मानव,
दबा सदा रहता जो पशु है ।

शासक भी प्रतीक सरीखा,
प्रजा अनुसरण असका करती,
कुमार्ग पर जब दौड़ता,
प्रजा विपत्ति में फिर फँसती ।

धर्म-अधर्म के भेद को,
शासक-चरित्र है सिखलाता,
नीतिमान अराधना पाता,
अनीतिवान दुःख-वर्षा लाता ।

प्रजा भीगती अंधी होकर,
स्व शासन पर छोड़ जो बैठी,
मन के मत्ताधिकार से जनता,
स्व-शासन को मान है लेती ।

शासक-वर्ग प्रभुत्व जब पाता,
राजधर्म - कुण्डित होता फिर,
यौवन, जीवन, धन, सत्ता मद में,
'पागल' तो हो जाता है फिर ।

'स्व-शासन' प्रजा जन पाएँ,
राजा सेवक जब बन आए,
'गंगा-अंश' सुसंस्कारित-ही है,
जगती क्यों न जीवन पाए?

'पुत्र- मोह तो नहीं था केवल,
प्रजा सुख की थी अभिलाषा,
गंगा-सुतों को मरण न चाहा,
सुहृदय-कुंवर पाने की आशा ।

राज्य ने पुत्र आशा की मुझसे,
मैंने पुत्र की आशा की, कुल से,
कुल ने आशा की यश-राज्य से,
राज्य ने श्रेष्ठ मानवता से ।

"देवांश युग सदा धर्म निष्ठ राजा,
शासनाधिकारों में धर्मपरायण,
सर्वोत्तम ले सकेगा उत्तराधिकार,
नर होकर भी होगा नारायण ।"

जन-हित ही की अभिलाषा,
'गंगा' पुत्रों की जब आशा,
देवांश ही चाहा मानव-बन,
क्यों नष्ट कर रही जीवन-तन?

जन-हित की खातिर वचन-भंग,
शासन पर न्यौछावर है जन,
राजा का कर्त्तव्य, जन हित निभाया,
प्रतिक्रिया में प्रिया-विरह ही पाया ।''

थमीं-रुकीं गंगा की लहरें,
तीरों के परिधान थीं पहनें;
हर्षित कम्पित पर लगती थीं,
बंन्धन में रोमांच रहीं थीं ।

फेन उगलती थीं सानन्दित,
राजन को मिलने थीं व्याकुल ।
मधुर उल्लास लिए थमी थी,
राजन को ही देख रही थी ।

जब राजन गंगा तट आये,
लहरें मधुर उच्छ्वास उठाएं ।
लहरों की आँखों में आँसू,
हृदय आनन्द को ही दर्शाएं ।

गंगा के जल की धाराएं;
सूख रहीं प्रचण्ड ज्वारें,
गाङ्गा तट के साथ साथ ही,
राजन तो बढ़ते थे जाते ।

देख अचानक थे हैराये;
बालक धनुष कमान उठाए ।
तीरों से सब बाँध रहा था,
स्व-बल को पहचान रहा था ।

नशों में आभा फूट रही थी;
तेज़ की अग्नि बन जलती थी ।
बालेन्दु ही बाण छोड़ता;
बृहत लहरों को खड़ा रोकता ।

विशाल-सूर्य वक्षास्थल था !
मस्तक से था तेज़ टपकता ।
पल में अन्तर्धान हुआ था !
राजर्षि हैरान हुआ था ।

उत्सुकता नूतन फिर जागी,
कुतूहलता करती रखवाली ।
तड़ित चमक कर लुप्त हुई फिर,
अन्धकार मन में उतरा फिर ।

"गंगा" पे अमानुषिक लीला,
बालक की अद्‌भुत थी क्रीड़ा,
समक्ष कभी अन्तर्धान था,
मेघों में छिपता तो चाँद था ।

बलशाली नर सिंह सरीखा,
आश्चर्य चकित था रह-रह;
राजेश्वर समझ नहीं आता था;
बालेन्दु कहाँ छिप जाता था?

इन्द्र-तेज़ धरे बालक था,
गंगा-दिव्य-बाणों से रोके था !
विवेक - चेतना थे चकराये,
सुत को तो पहचान न पाये?

अंकुर - रूप में देखा था,
पर अब तो पूरा उपवन था ।
सूर्य-पुष्पी ही सुमन खिले,
बाणों से गंगा में बिखरे थे ।

एक बाण राजन के पग में,
चरण वन्दना करता आया ।
शान्तनु पर था घबराया,
मन ही मन प्रणाम किया ।

देव्रवत पहचान चुका था,
पिता को विस्मित करता था ।
प्रत्यक्ष अभी, ओझल होता,
राजन-आश्चर्य चकित खड़ा ।

गंगा को हृदय पुकारा,
विरह प्रेम बही अश्रुधारा,
देंवी, अभी जो अन्तर्धान हुआ;
शर-दण्डवत मुझे प्रणाम किया ।

सूर्य-बाल रूप धर आया कैसे?
दिव्य-बाणों का जाल बुना है ।
गंगा की लहरें अवरुद्ध हैं,
सहजगति जीवन कुन्ठित है ।

देवी, तुम्हीं गंगा तट आओ,
मेरी शंका आन मिटाओ !
उसे मेरा मन लखना चाहता,
सूर्य का जो तेज़ दिखाता !

प्रार्थना मेरी सुन ·तो आओ,
हृदय का संताप मिटाओ !''
लहरों की मुस्कान थी फूटी,
गंगा-लहर-बन्धन से छूटीं ।

गंगा - की अधिष्ठात्री देवी,
पूर्ण - सज्जा साथ बाहर थी;
चारों ओर आलोक बिखरा था,
तेज-अलौकिक न बह निकला था ।

हर्षित - हुलसित - राजन्,
मुकुलित-रंजित-प्रेमातुर मन ।
गंगा - लहरों से थी बाहर,
सौन्दर्य - ब्रह्मलोक उजागर ।

तृप्त-हुए - हृदय के नयन,
रोमांच रहे उसके अंग-अंग,
धवल् वही अंचल-पहने थे,
ब्रह्मलोक जो कभी उड़े थे ।

स्वर्गिक-सौन्दर्य-समक्ष खड़ा था,
राजन्-खड़ा-मगर-हतप्रभ था ।
नयनों को आधार मिला था,
ईप्सित-रूप साकार-हुआ था ।

आनन्द की कोई रही न सीमा,
व्यथा-विरह-भी हो गया धीमा ।
'धीरे-धीरे - चली आ रहीं,
हिरण-चाल थी तो लज्जाई ।

देवव्रत का दाहिना कर पकड़े;
स्त्री - रूप धरे गंगा थी ।
राजन् का हृदय गद् - गद् था,
मन का सब सन्ताप मिटा था ।

भूल गया उसे प्रश्न किया जो;
गंगा ने उनको बतलाया ।
गंगा:- आठवाँ वसु प्रभास - द्यु आया,
वही देवव्रत यह बालक है,
वसुओं से मांगा था मैंने ।

प्रेम - प्रतीक अमर रूप में;
साथ चली थी मैं लेकर जो ।
सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययनकर,
शास्त्र-शस्त्र में हुए निपुण वर ।

युद्ध में यह सूर्य - सम है,
वीर-धरा के तो तृण-वत हैं ।
इसका वीर्य-विक्रम अपार है;
धरा सूर्य-रथ से उतरा है ।

महर्षि-वसिष्ठ से ग्रहण किया है,
वेदों-वेदांङ्गो का ज्ञान सब ।
असुरों के गुरु शुक्राचार्य,
जिन-जिन विद्याओं को जानें-

देव - गुरु बृहस्पति - पूर्णज्ञ से,
इस बालक ने जान लिया है ।
देव - दैत्य दोनों को प्रिय है,
परशु अमोध अस्त्र-शस्त्र दिये हैं ।

बड़ा संयमी, यह सदाचारी है,
भगभद्-भक्ति-निष्ठ तत्त्व ज्ञानी है,
सौंप रही हूँ इसे मैं तुम को,
वचन देकर जो गई थी सुनलो ।

प्रतीक मेरे सम्बन्धों का है,
उज्जवल-प्रेम-तरंगों का है ।
हे भारत: सुर-असुरों का प्रिय है,
असुर-गुरु उशना ने भी तो-

सभी शास्त्र तो हैं सिखलाए,
अंगिरा-सुत- सरासर वन्दित ।
बृहस्पति, भार्गव अपार ममत्व से,
ज्ञान-फूलों को सौप दिया है ।

शत्रु अपराजित ऋषि जामदग्न्य राम,
अस्त्र विद्या का कोष लुटाया ।
सुत समक्ष खेला रहस्य सब,
राज-धर्म, अर्थज्ञान निपुण बनाया ।

महाधनुर्धारी वीर - पुत्र को;
सौंप रहीं हूँ राजन तुमको;
प्रभास-द्यु-नाम वसु ही है यह,
वसुओं का शक्ति - पुञ्ज है,
सूर्य लो देदीप्यमान है ।''

वन्दन कर गंगा जब लौटी,
शान्तनु की संज्ञा फिर लौटी ।
हो रोमांचित देख रहे थे,

स्वर्ण-ज़टित गंगा लहरों को ।
ब्रह्मा के सर्वोत्तम श्रम को,
सौन्दर्य के चरम शिखर को ।

हृदय की निश्छल लहरों को;
त्याग-दया-ममता की मूरत ।
गंगा अन्तर्धान हुई थी,
सुन्दरता की अनुपम सूरत ।

राजन् देव साथ ले आये,
सम्पद् युक्त सिद्धकाम हो पाये ।
प्रजा - हर्षोल्लास भरी थी;
देवव्रत को देख रही थी ।

सूर्य ही तो उग आया था ।
आनन-कानन मुस्काया था ।
लता-विटप सब हरियाते थे,
वन-चर आनन्दित घूम रहे थे ।

देवव्रत यति - सुचरित्र धारी,
सब के ही तो हितकारी,
कोमल-अनुलेप सम ही लगते थे;
दु:ख-सभी के हर लेते थे ।

पिता-पौरवगण उत्सव मना रहे थे;
प्रजागण - हृदय बिठा रहे थे;
चारों ओर तेज फैलाया;
अलौकिक-गुणों को साथ ही लाया ।

'गांगेय' ही तो कहलाता था,
नित्य गंगा-तट आता था ।
गंगा ही शक्ति थी उसकी,
गंगा ही भक्ति थी उसकी ।

गांगेय गंगा तट आते,
नित्य नई शक्ति थे पाते ।
'तप' तो आधार बना था,
ब्रह्म-बुद्धि को प्राप्त किया था ।

तप ही परम कल्याण माना था,
इसमें सारा सुख जाना था ।
मन-इन्द्रियों की एकाग्रता भंग न,
शूर वीर को उद्वेग कोई न ।

देवता, ब्राह्मण, गुरु औ ज्ञानी पूजें,
पवित्रता, सरलता-सहृदयता न छूटें ।
सत्य - प्रिय - हितकारक - भाषण;
अग्नि तप से, जीते जन-जन ।

मन, प्रसन्नता - सौम्यता भरती,
मौन-आत्म-निग्रह-शुद्धि भरती ।
शरीर से ही तप न करते थे,
आत्मिक मानसिक भी तपी थे ।

शरीर सूखाना ही तो तप न,
ब्रह्मचर्य का ही पालन न ।
अहिंसा, सत्य, आत्म संयम,
मन-वाणी-कर्म से पाप कभी न ।

सत्य-दया - सेवा तप ही था,
गांगेय - का आधार यही था ।
यहाँ तप वहाँ नियम से संयम;
जहाँ संयम वहाँ नियम से तप है ।

श्रैय तप के अधीन ही माने,
प्रेय को भोग-रोग ही जानें ।
चारों ओर सुकाल ले आये,
पौरव वासी प्रसन्न-मधुर थे ।

चतुर्थ-पर्व

शान्तनु आध्यात्मिक चिन्तन

प्रभु लीला का ओर शोर,
मन-विवेक पाता नहीं जान ।
कौन प्रेरणा दे जाए कब,
कर्म ही कर लेता पहचान?

कर्म विधि जब होते हाथ,
मन पतंग उड़ती है साथ ।
पवन दिशा निश्चित करती;
नीलाम्बर का वितान लगती ।

देवव्रत युवराज बनें सुख भोगें,
शान्तनु पुत्र मिलन, आनन्दित थे ।
बानप्रस्थ का समय कुछ बीता,
शासन-मद का प्याला अब रीता ।

सौंप पुत्र को सत्ता जाने का पल था,
राजर्षि-तप-साधना-धर्म पालन था ।
अस्थि-मज्जा कब तक चलते हैं,
दूब-तृणों से सूख अन्त जलते हैं?

माँसलता का वर्ण कहाँ तक रहता?
पदार्थत्व का भोग कहाँ तक चलता?
आत्मा की अनुगूँजें सुन पड़ती हैं,
मन-तारों से ही फूट पड़ती हैं ।

मन संसारी और संन्यासी तो पलता है,
समय गर्भ में क्या है, कहाँ पता चलता है?
विषयों के मधु पात्र विरक्ति भी लाते हैं,
सत्ता मतवाले, ही सत्ता ठुकराते हैं ।

देवव्रत रत्न - कोष राजन् ने पाया,
भगवत्-भजन का अन्तिम समय आया ।
साम्राज्य विस्तार चतुर्दिक कर पाये,
युद्ध - लिप्सा त्याग अहिंसा अपनाये ।

जन सभा का आयोजन था,
सत्ता त्याग, चलना, प्रयोजन था ।
भरी सभा में सुत देव से बोले,
अध्यात्म-दर्शन के रहस्य सब खोले ।

शान्तनुः- "मनुष्य जीवन ही यज्ञ है जानो,
तीन-सवन का यह निश्चित क्रम है ।
गायत्री प्रातः सवन वसुगण अनुगत हैं,
माध्यांदिन-सवन रूद्रगणों विगत है ।

तृतीय सवन से आदित्यगण अनुगत है,
प्राण-आदित्य रूद्र-तट पार किया है;
मनुष्य जीवन 116 पूर्ण कर पाऊँगा,
यदि आदित्य-तृतीय सवन अपनाऊँगा ।

प्रथम सवन और द्वितीय भोग चुका हूँ,
तृतीय की प्रथम सीढ़ी, आन खड़ा हूँ ।
राज-भोग से मुक्त, मुक्ति योग वरुँ,
राज्य सिंहासन देवव्रत मैं तुम्हें अर्पण करुँ ।

एक देव जो सब भूतों में छिपा हुआ,
सर्वव्यापी, सब भूतों का अन्तर्यामी है ।
कर्मों का अध्यक्ष, प्राण में ही रहता है,
निष्क्रियों पर जग शासन करता है ।

उस तन्मय, अमृत, ज्ञाता रक्षक को,
जगती के शासक पूर्ण समर्थ को ।
जिसने पूर्ण विश्व नियंत्रित रखा है,
पृथ्वी, जल, तेज, पवन आकाश-प्रकटा है ।

कालों का भी काल ब्रह्म का चक्र घूमें,
नियंत्रित कर्म से बंधा जगत चरणों को चूमें ।
गुणवानों से गुणवान् तथा सर्ववित्ता है,
अन्तःकरण के सूक्ष्म गुणों का चिन्तन है ।

गुणों से युक्त कर्म है करवाता,
सब पदार्थों की योजना है कर जाता ।
स्व गुणों का अन्त कर कर्म-नाश करवाता,
कर्म क्षय हुआ तत्वों को छुड़वाता ।

जो सबका है आदि - अंत विधाता;
शरीर संयोग का निमित्त कारण बन आता,
त्रिकालातीत, कालातीत कारण बन आता,
विश्वरूप, सृष्टि-मूल, स्तवनीय हृदय पाया ।

उस देव की करूँ उपासना बन्ध छुड़ाऊँ,
उस धर्माधार, पाप नाशक की शरण में जाऊँ,
उस हृदस्थ को जानू अमृत - फल अब पाऊँ,
'स्व' अनुभूति हुई मुमुक्षुत्व तक जाऊँ ।

वृद्ध-बुद्ध-सदाचारी परम महेश्वर जाने,
देवताओं के परम देव-गायत्री अनुमाने ।
सब पतियों का पति जो विश्वपति है,
पर से परे भुवनेश स्तनवीय यति है ।

जिसे नहीं, कुछ करना, निर्गुण है,
जगती के सभी साधनों से परे है ।
उसके समकक्ष कभी कोई नहीं पाया?
सब से बढ़कर देव सब पर उसकी छाया ।

संसार वृक्ष और काल रूप से भिन्न है,
उसी से यह सारा प्रपंच अभिन्न है ।
उत्कृष्ट शक्ति - पुंज जन्म-मृत्यु देता,
पांच तत्वों को रूप, वायु-प्राण है देता ।

उसमें बल-क्रिया ज्ञान सहज नहीं है,
जगत में कोई उसका पालनकर्त्ता नहीं है ।
उसपर किसी राजन की सत्ता नहीं है,
न रेखा न रूप कोई चिन्ह नहीं है ।

वही सबका है कारण, इन्द्रियों का स्वामी,
उसका न उत्पन्न कर्ता न कोई अधि-स्वामी ।
मकड़ी-तंतुओं से अपने को लपेट लेती है,
प्रकृति, उत्पन्न कार्यों से स्व लपेट चलती है ।

करे ब्रह्म में लीन शरण में जाता,
अनुभूति के केन्द्र मे बिराजता ।
पाँच तत्वों में छिपा प्राण धड़कता,
श्वासों, परश्वासों में निरन्तर वह बहता ।

वे देव, सभी भूतों में छिपा हुआ है,
सृष्टि सृजन में ब्रह्मदेव को उत्पन्न करता ।
उसने ही वेदों को सौंपा, वाणी, स्मृति से,
उस आत्म बुद्धि-प्रकाशक देव की लूँ शरण मैं ।

निरवयव, निष्क्रिय, शाँत, निर्दोष, रंजन-
निरंजन, अमृतत्व-सेतु, जगती-इंधन ।
अग्नि सम देदीप्यमान नज़र आता है,
उस देव की शरण मन अब जाता है ।

चमड़े की तरह मानव जब आकाश लपेटे-
सकेगा, देव को जान दुःख अन्त समेटे ।
तप के प्रभाव से, देव कृपा से जानो,
श्वेताश्वतर ऋषि सम ब्रह्म पहचानों ।''

'महाभिष्क- का रूप वरा राजन् ने,
संस्कारों से शब्द-रूप धारण कर ।
सृष्टि के मूलतत्व को पहचान लिया फिर,
पर्यंक-विद्या के सूत्र का स्मरण कर ।

"ब्रह्म द्वार तक वही पहुँचता,
सप्त ऋषियों को जो समझ है पाता ।
वाणी बल से आत्म-रस को,
मुक्ति द्वार तक है ले जाता ।

दो कर्ण और दो आँखें है,
दो नासिका के रंध्र हैं ।
एक मुख वाणी का कारण है,
इसी में तो सिमटा अग-जग है ।

गौतम - भरद्वाज दो कान हमारे,
विश्वामित्र और जमदग्नि आँखों के तारे ।
दो नासिका रंध्र वसिष्ठ, कश्यप हैं,
वाणी - अत्रि से ही सभी प्रकट हैं ।

क्योंकि रसना ही चखती खाती,
अत्रि, अत्ति, से ही बन कर है आती ।
सब ज्ञानो का जो है सेवन करता,
सब उसका ही अन्न हो जाता ।

'अन्न' सृष्टि का ही ज्ञान है,
ब्रह्मा की इसमें पहचान है ।
मूर्त - अमूर्त, मर्त्य - अमर्त्य,
स्थित और यत् न अनजान है ।

मधुविद्या को बेटा जानो,
पृथ्वी सब भूतों की मधुजानों ।
सब भूत इस पृथ्वी का मधु हैं,
यही ब्रह्म, अमृत हैं सर्व हैं ।

यह आकाश सब भूतों का मधु है,
सब भूत इस आकाश के मधु हैं ।
यह तेजोमय, अमृतमय पुरुष आत्मा है,
यही अमृत, ब्रह्म है सर्व है ।

यह धर्म सब भूतों का मधु है,
सब भूत इस धर्म के मधु हैं ।
धर्म में तेजो, अमृतमय आत्मा है,
यही अमृत, ब्रह्म है यही सर्व है ।

मानवता धर्म का प्रकट रूप है,
यही सभी भूतों का मधु है,
सभी भूत मानवता के मधु हैं;
मानवता में तेजो-अमृतमय आत्मा है,
यही देव, पुण्य-धर्म, ब्रह्म सर्व है ।

यह आत्मा सब भूतों का मधु है,
सब भूत इस आत्मा के मधु हैं ।
आत्मा में तेजों-अमृतमय पुरुष आत्मा है,
यही अमृत है, ब्रह्म है, यही सर्व हैं ।

देव यह ब्रह्म कार्य - कारणातीत,
जिसके पूर्व कुछ नहीं अपूर्व है;
जिसके पश्चात् कुछ नही अन्परं है,
जिसके अन्दर कुछ न ही बाहर है ।

यह आत्मा ब्रह्म, सब का सब-
रूपों से, अनुभव लेने वाला है ।
सभी वेदान्त-दर्शन है सिमटा,
सारे वेदान्त की यही शिक्षा है ।

जो सब भूतों में रहता है,
जो आकाश में भी रहता है ।
जो पृथ्वी में भी रहता है,
पृथ्वी, आकाश, भूत पर नहीं जानते ।

पृथ्वी के भीतर रह नियमन करता है,
आकाश के भीतर रह नियमन करता है ।
भूत के अन्दर रह उसे नियमन करता है,
यही, आत्मा, अन्तर्यामी - अमृत है ।

पृथ्वी का शरीर किये धारण रहता है,
यही आकाश रूप-शरीर दिखता है ।
सब भूत जिसका शरीर बनता है;
यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है ।

दिव्य - ज्ञान देव वाणी प्रकटाया,
सहज गति से शब्दों से मुखराया ।
धारण करो, वरो सृष्टि-रहस्य को,
आत्मा-अमृत पर पलो व्रतकामी ।

जाने दो, प्रजा जनो साधन को,
तृतीय-सवन को अपनाने को ।
चतुर्थ-फल पूर्ण तभी पाऊँगा,

सत्ता-मध-से दूर मैं यदि जाऊँगा?

देव:- "तात चिर-वियोग उपरान्त, पाया है,
पिता-सेवा का सुअवसर अब आया है ।
राज्य करेंगे आप-सेवारत मैं हूँ,
निश्चिन्त करूँगा -तात, धर्म धरूँगा ।

पुत्र तभी सुपुत्र कर्म-अनुकूल करे जब,
'स्व' से ऊपर प्रियजनों को धरे जब ।
प्रजा ही बन कर, प्रजा-सेवक हूँगा,
आपकी छत्र-छाया में सकुशल बनूँगा ।

अगम-अगोचर - अतिकारी-पावन नाम,
ध्यान धरूँगा-स्वीकार करूँगा परिणाम ।
आदि-मध्य और अन्त वे ही प्रभु-तात हैं,
प्राण-आत्मा करे उस में विश्राम ।

तात्, ईश्वर, सत्य, आत्मा सत्य है,
जीवन दु:खमय है यही तथ्य है ।
रोग, शोक, ज़रा इसे घेर चलती है,
असन्तोष, मृत्यु अग्नि जलती है ।

दु:ख का कारण, तृष्णाएं छलती हैं,
जीव जगत से यूँ जुड़ना चाहता है ।
अस्थि-मज्जा की गति - चलती है;
इन्द्रिय-जन्य-आनन्द-दु:ख चाहता है ।

मन मैला ही रहता तन धोता है,
पुष्प, कांटे बीज कभी न मिलते?
कठनाईयों से मुक्ति की इच्छा,
उसे साले जीते रहने की इच्छा ।

ईश्वर कृपा से ही इच्छा-मुक्ति है,
दु:ख के मूल स्रोत में तृष्णा-भुक्ति है ।
तृष्णा-निरोध, दु:ख का निरोध है,
महासागर तरने की यही तो युक्ति है ।

इच्छा को नष्ट करना ही सत्य है,
कायानुराग अनुरागों की अति है,
सांसारिक जनों में तो सदा रहता है,
काया कष्ट-रागात्मक सहता है.''

रागात्मक जीवन, कायाकष्ट है,
सभी अतियों का मूल, पथभ्रष्ट है ।
कलिकाल में राजन इसे कैसे छोड़ूँ,
अल्प आयु में कैसे बन्धन तोड़ूँ ।''

शान्तनुः-

राज्य, देव तो इसे ही बल माने,
काया कष्ट देकर' शासन परिमाणे ।
सम्यक् दृष्टि कभी नहीं है पाता,
अपनी दृष्टि से सब नज़र है आता ।

'वत्स सत्य को सत्य कर ही जानो,
सत्य कभी कल्पित न, मत अनुमानो ।
चिंतन में सदैव पावनता तुम लाओ,
काम, ईर्ष्या, क्रूर-कर्म को सदा झुठलाओ ।

यह पुरुष-पूर्णता में बाधक हैं,
तृष्णाओं के देव के आराधक हैं ।
छलती तृष्णा पल पल, है भटकाती,
सत्य मार्ग, मन-अश्व नहीं, है लाती ।

पावन चिंतन से ही मन पावन होता,
'स्व' हित को त्याग 'पर-हित' को ढोता ।
पावनता मन-वचन-कर्म में तुम लाना,
चिंतन मल-रहित स-प्रयत्न बनाना ।

असत्य, चुगली, बेकार बातों को त्यागो,
अर्जित वचन उर्जा करो, मल त्यागो ।
सहृदयता पूर्ण वचन लेप सम लगते,
कठोर वचन विवेक-मन पीड़ा से भरते ।

सम्यक् वचन सदा वत्स उच्चारो,
उतेजित, तीव्र, दुराग्रह पूर्ण सब त्यागो ।
कभी उत्तेजित किसी मत जन को करना,
मधुर-सुकोमल मर्म, मर्मों को भरना ।

कर्म-गति की ओर सचेतन तुम रहना,
सभी जीवों के हित कष्ट तुम सहना,
दया-भाव और उदारता हृदय-गहने हैं;
महामानवों ने सदा से ही पहने हैं ।

'परमार्थ' पर 'स्वार्थ' सदा निछावर हो,
'प्रवृत्ति' से 'निवृत्ति' को बढ़ो, उजागर हो ।
काम - राग - मुक्ति को तुम अपनाओ,
सभी कलुषों, से, पुरुषार्थ-बल उपर आओ ।

मानवता संकल्प रूप में तुम धारो,
शिला रास्ता रोके न तेजस्वी घबराओ ।
सूर्य तेज के धारक, प्रचण्ड शिखर तुम,
मानवता की विजय पताका फहराओ तुम ।

वाणी में हो सत्य-प्रिय मधुर-संकल्प,
प्रज्ञा में हो अमृत लगे सबको प्रबुद्ध ।
सत्कर्म के लिये करो दीप्त संकल्प,
मानवता का बल हो पूर्ण प्रज्वलित ।

संकल्प हृदय तत्व को निखरा जाता,
सत्य-वाणी से मन, व्यवहार पा जाता ।
जैसा तुम चाहो, वैसा हो बन सकते,
यज्ञ, व्रत, यम-धर्म इसी से हैं चलते ।

महापुरुषों में संकल्प , दुर्बल करें इच्छा,
फल पूर्ण पाते सत्य, दुर्बल मांगे भिक्षा ।
संकल्प-शक्ति ही सदा मनोराज करती है,
कर्म-शीतलता अश्वों पर विजय वरती है ।

शक्ति की कब कमी, मानव में होती,
संकल्प-शक्ति इसे पर बल है देती ।
मानव-हित संकल्प, वत्स तुम्हारें हों,
'स्व-हित' से कहीं न मंद सितारे हों ।

'स्व कर्मों' पर शंका, कड़ी नज़र रखना,
जहां शंका है वत्स, वहीं सत्य है, छलना ।
शंका से ही ज्ञान मानव है पा जाता,
शंका करने वाला मन सजीवता लाता ।

सभ्य वही है जो स्व-कर्म शंकित चलता,
शंका का ही अन्त शान्ति-कर्म बनता ।
स्व-विश्वासों का वत्स सदा आदर करना,
शंका-शिक्षा देती कभी न इनसे डरना ।

हम पाते सभी सत्य, देव प्रसन्न होते,
कठोर-परिश्रम के बल, सर्वानन्द होते ।
उद्योग से पाते विजय, अपराजितों पर,
उद्योग से बढ़कर और मित्र, सहायतों, कर ।

सत्य-आजीविका पर ही, धर्म होता,
अन्याय-अनीति - अनाचार न कर्म होता ।
छल-बल - दण्ड से जो विजय होगी,
अन्त काल में वे ही अनिष्ट-कारण होगी ।

साधन-साध्य कभी नहीं उचित होगा,
साध्य-साधन पावन कर्म निर्भर होगा ।
उचित उपाय से ही उचित-फल मिलता,
वरन् सभी पुरुषार्थ व्यर्थ मिट्टी मिलता ।

सम्यक्-कर्म-अर्थ सभी पावन लाता,
वरना, मन संताप-दुःख देकर है जाता,
दुर्गुणों से होना मुक्त, होना है मानव,
इनमें रहना, लिप्त, यही करता दानव?

सम्यक् हो स्मृति, आध्यात्मिक सुख लाती,
सतत् जागरूकता से जीवन, मन भर जाती ।
मन-विवेक न हो विकार, स्वार्थ-मोह त्यागे,
यथार्थ पर रखना पांव, कल्पना को त्यागे ।

मन-विवेक और कर्म एकाग्रता भरना,
तन-मन-मेधा के रोगों से तुम लड़ना ।
मस्तिष्क-मन हो स्वस्थ, भाव जगाना तुम,
पुरुषार्थ, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि पाना तुम ।

चित पाता आनन्द, सत्य-आत्म जगता,
'स्व' पर फिर विश्वास, निरन्तर बढ़ता ।
धर्म-अर्थ - काम - मोक्ष का अधिकारी,
मन-विवेक व्यवहार-पावन अमृतधारी ।''

पिता शान्तनु के सभी पूर्व संस्कार जागे,
दिव्य-ज्ञान भर गया आलोक, सौभागे ।
'कलिकाल' भूला था परम-आख्यानों को,
धक्के-मिलने थे लगे, सभी विद्वानों को ।

शान्तनु :-अर्थ - काम पर धर्म - मोक्ष न्योछावर थे,
माँसल सुख पर अध्यात्म न भारे थे ।
विस्मृति में डूबा जगत , स्मृति भूल गया,
'श्रुति' का अब न श्रवण, जगत से चूक गया ।

दुर्लभ-रत्न सदा तलहटी पर भी रहता,
उथले-जल में ही जन तिरता रहता ।
इच्छा-तृष्णाओं में ही सत्य-सुख चाहता,
संकल्पी-असि, अश्वों पर मगर विजय पाता ।

बालू से ही तेल निकालते जन रहते,
विवेक-सत्य-मन-बल सदा कुण्ठित करते ।
छोटे-विचार के बड़े-जनो से कब होगा?
बड़े-विचार के छोटे जनो से सब होगा ।

वत्स, विचार-मन-सकंल्प बड़ा बनाना तुम,
अहंकार-मद-सत्ता, मे न इतराना तुम ।
अर्थ-काम का भोग, सर्व है दु'ख लाता,
देखो, 'कलिकाल' का मानव- पीड़ित तड़पाता ।

इच्छाओं के अश्व न कभी दौड़ाना तुम,
शुभ-संकल्पी-मन से कर्म कमाना तुम ।
यश, कीर्ति, सुख का मूल स्रोत है यह,
विवेक-श्रद्धा-विश्वास सत्य पर टिका है यह ।

राज्य-प्रजा-सुख से ही संचालित कर,
चतुर्दिक स्व-कीर्ति को तुम जाना भर ।
सत्ता का उपयोग कभी न अन्धा हो,
अधर्म पाप अनाचारी को न कन्धा दो?''

सुन पिता की बातें सगर्व मुस्काया,
स्वर्गिक ज्ञान आलोक धरा पर छाया ।
पकड़ लिये, बढ़ चरण, शीश झुका रहा,
देव:- "तात् मुझे न स्व चरणों से अलग करो ।

अभी दिशा का ज्ञान कराना सब होगा,
राज्य संचालन का भार उठाना अब होगा ।
हो जाऊँ निष्णात खुशी से जाना तुम,
तृतीय सवन का पुण्य वपु कमाना तुम ।

प्रजा-हिताहित को जान सकूँ नरवर,
अल्प आयु हूँ, करुँ न स्वेच्छाचार भटक?
मन-विवेक-संकल्प विश्वास ये पाने दो,
मानवता को धर्म-अधर्म सिखाने दो?''

चिर वियोग से पीड़ित तात सुख से,
प्रजा गणों से बोला देव दु:ख से:-
"पिता-आकाश-प्रशान्त, विश्वस्त करता,
स्वर्ग-मार्ग भी गृहस्थ कर्म में चलता ।''

जन-जन उठाई पुकार, "वत्स, छत्र धरो,
पुत्र-वियोग की पीड़ा, राज़न शान्त करो ।
प्रवृति से निवृति का है मार्ग जाता,
तृतीय सवन का समय बहुत लम्बा रहता ।

राजकुवंर और राजा दोनों ही चाहिए ।
जन हित है इसमें, अभी प्रवर मत जाइये,
सबकी यही पुकार, इसे स्वीकार करें,
राज्य-सिंहासन का भार कुवंर पर डालें ।

गुरु बनकर शिष्य को दिशा निर्देश करें,
राज्य तिलक उपरान्त, राज्य-गद्दी छोड़ें ।
राज्य-कर्म में कुवंर प्रभु निष्णात करो,
सब का करें कल्याण इतना सामर्थ्य भरो ।''

अश्रु पूर्ण जन जन देख राजन काँपे,
भाव-विह्वल हुए देव उठा कर थामें ।
अंक भरा, दुलार, शुभ आशीष दिया,
सुत ने जन-हित का प्रतीक लिया ।

शान्तनुः- "जन-इच्छा का सम्मान है संकल्प मेरा,
अन्यथा, कुवंर पूर्ण निष्णात तुम्हें शंका घेरा ।
कुछ समय उपरान्त जन सभा बुलाऊँगा,
तृतीय-सवन की अनुमति मैं सब से चाहूँगा ।''

पंचम-पर्व

देवव्रत भीष्म प्रतिज्ञाबद्ध

1

पृथ्वी-गर्भ भूकम्प छिपा है;
तरल-लहर में बड़वानल है;
भीमकाय-हिमनद गल जाते;
भरकम प्रस्तर सब बह आते ।

विषय-जल में भँवर दहराते;
रह रहकर सत्ता आजमाते ।
शार्क-निगलती, लहरें टूटें,
आसक्ति के तट बंध न टूटें ।

मानव-मन नट समान है,
क्षण भर मुख की मुस्कान है ।
क्षण-भर में विषाद ग्रस्त है,
क्षण में फिर सौम्य लगता है ।

मन, मनुष्य बन्धन का कारण;
यही बनता मुक्ति आवरण;
विषयासक्त बन्धन ही लाता;
निर्विषय-मन, मुक्ति प्रदाता ।

मन समर्थ 'कल्प' 'पल' करता;
'पल' ही पल में कल्प है भरता;
जगत् सत्य मन-विलास है;
मन-उत्थान, जग का विकास है ।

मन-प्रभुता, संचालित है तन,
विषय-रोग को भोगे रे मन।
सृष्टि-पूर्ण, सुन्दर मन कारण,
करें जीव मन का आराधन।

मन चंचल प्रमथन स्वभाव का,
चकफेरा अति अंधे प्रवाह का ।
यह अति बली विषयाचारी है,
सूर्य-तेज, कभी प्रलयंकारी है ।

सहज गति, रथ नहीं रुकता,
विषय-अश्व है ज़ोर पकड़ता ।
पवन-बाँधना तो दुष्कर है?
सूर्य-अनल सा मुश्किल है?

वाणी मन समक्ष झुकती है,
इसे पकड़ने की न युक्ति है ।
अपरिमित, अनेक संकल्प लिये ।
स्वयं को स्व-समर्थ किये,

मन में व्याप्त हुआ सब जानो;
मन बलवान सभी से मानो ।
विचार-संयम-अभ्यास रोकते;
पैनी-धार है कुंठित करते ।

यही प्रजापति विश्वकर्मा है,
ज्ञान-बल-जीवन, सूर्य धर्मा है ।
मन से परे न कुछ पहचानों,
मन-ज्ञाता, मन स्वामी जानों ।

षट-विकार में रहता रे मन,
गति, चेष्टा, नेत्र मुख, वचन;
स्व-जीत जो जीते मन को,
सदा विचारो, सत्य मनन जो ।

इसमें विष, अमृत पलते हैं;
अमृत उन्हें जो वश करते हैं ।
शिखर-दुःख दे जाता है मन,
प्रपात, गिरा पर डालो बन्धन ।

सचेत किया आत्म रह रह,
मनोयोग दीपक दहका कर ।
नग ऊँचा, सिंधु सम गहरा,
प्रयत्न सहित मन पर हो पहरा ।

कार्य-विघ्न, तुम बच चलना;
सुख-दुःख मनस्वी सम विचरना ।
आसक्ति प्रबल प्रहार करेगी,
विरक्ति के सुख को लूटेगी ।

अडिग, लोक सिर पर धारेगा;
अन्यथा लोकान्तर धिक्कारेगा ।
वाणी बल, पुरुषार्थ किया है,
मन-बल-प्रहार अर्थ दिया है ।

कुसमय न मन को ललकारे;
वशीभूत किये न नग - फुंकारे;
फल का दमन, काँटे ही देगा;
मन-राजन, वशीभूत करेगा ।

मन सरसों के दाने न बिखरें,
सम्भालो तुम, दिन न बिगड़ें ।
मन ही मन का द्योतक जानो,
यही साधक, राजन्, पहचानों ।

मन ही मन-बाधक बनता है;
मन ही मन-घातक बनता है ।
मन-निरोग, तन रुग्ण न करता,
यह जीवन है उज्वल करता ।

सभी धर्मों का अग्र-गामी है;
अधर्मों का भी अनुगामी है ।
संयमित हो विचार करेगा,
नरवर अश्वों को साधेगा ।

मन बन्धन सब लेकर आता;
सब-बन्धन यह खोल भी जाता ।
मांसल-दृष्टि बड़ी विचित्र है,
आत्म-की शत्रु, कभी नहीं मित्र है ।

मन-दुबिधा, संन्यासी - संसारी,
समय-गर्भ छिपा यह व्यभिचारी ।
विषासक्त - नहीं राजेश्वर लगते,
सौंन्दर्य - मधु पात्र कब थकते?

विधि का लेख कहाँ मिटता है,
पूर्व-कर्मों का दण्ड मिलता है ।
क्या मंजूर उसे नर न जाने,
मन-प्रभुता न वाणी पहचाने ।

दिव्य-अपूर्व सुगन्ध बही थी;
विरक्ति का सुख लूट रही थी ।
यमुना-लहर मन्थर मतवाली,
मन-तृष्णा करती रखवाली ।

केवल शब्द न फूल खिलाते;
पूर्व - सफलता, कांटे तड़पाते ।
राग-पिक आम्र भौरों में गूंजे;
भ्रमर-पराग, सरसों से उड़ते ।

सुगन्धित-तन आसक्त मनों पर;
प्रहार करे सशक्त जनों पर ।
सौंदर्य तो उपहार है मनको;
वशीभूत करता राजन् को ।

सुगन्धित पवन, पागल मन था;
संचालित फिर करता यह तन था ।
रूप की लहरों में उछलन थी,
ज्ञान-संकल्प भरी फिसलन थी ।

मन्मथ - पवन बढ़ा रहे थे,
राजन् विधि के ही कैदी थे ।
पूर्व-कर्म - हथकड़ी पहनाई,
पार्थिवता चुनरी फहराई ।

स्रष्टा का सृष्टि से नाता;
कर्म-बाँध नर तोड़ न पाता ।
सर्प-केंचुलि जब उतराता,
माँसलता नव-यौवन पाता ।

मन्थर-गति यमुना लहरों में,
सम्मोहन-ध्वनि-झँकृत तारों में;
पशु-बाँध है समय हाँकता,
रूप तनमयी हो मन बाँधता ।

शान्तनु-भ्रमर, सुगन्ध मंडराया,
प्रणय-रति-पुरुष-धूँघर छनकाया ।
आगत राजन् जान न पाये,
समय काष्ठ-पुतली नचाये ।

भोग-घनों में बिजली कौंधी,
भाव-सागर में वासना उमड़ी ।
काम-कणों को था बरसाता,
राजन् मन था भीगता जाता ।

मलय-पवन बादल घिर आये,
सूर्य-तेज, घनी घटा छुपाये ।
तप-ज्ञान, इन्द्रिय संयम छूटा,
रूप-सम्मोहन, दर्पण-मन-टूटा ।

कर्म-सर्प विषय-विष छोड़ा;
उन्मत्त मन: यमुना तट दौड़ा ।
काम-अश्व तन दौड़ाये,
सुगन्ध-व्यसनी नृप भौराए ।

विषयों का अनुराग प्रबलतम,
बंधन ग्रस्त होता निर्बल मन ।
तृष्णाएं-रेश्मी तार बुनती हैं,
मन-कुरंग को बांध चलती हैं ।

विषयों का बाजार, आकर्षण-
धर्म-श्रद्धा-संयम छोड़े मन;
सन्तोष को पथ-भ्रमा देता है,
सम्यक्-चिन्तन छुड़वा देता है ।

सुख-मधु-बूंदो को न चाहता,
दु.ख-मेरू-पर्वत, मगर भागता,
तन-जर्जर नौका विष खींचें;
मरु-भूमि को चाह जल सींचें ।

दूध-छोड़ मन मंथता जल है;
सुकर्मों के फल करता निष्फल है ।
विषय-वधू विवाह कर लाता;
वासना-तृष्णा-उलझ मर जाना ।

विषय-कीट जब विष भरता है,
उन्मत्त हुआ ग़ज उच्छृंखल है ।
विषय-पंक-सूँड भरता फिर,
विषय-अंक शिशु ही चढ़ता फिर ।

जड़ी-बूटी मंत्र नहीं कटता,
ज़हर-वासना का जो चढ़ता ।
मोह-दीपक मन ही जलाता,
स्वयं पतंगा ही जल जाता ।

विषय-बाज सुकर्म-खग खाता,
भोग-आकाश ऊँचा उठ जाता ।
उर्ध्व-शिखर पे ही रहता है,
धरा उतरना न चाहता है ।

मोह-सुप्त हुआ कहाँ चेते?
विषय-पंक के पंकज देखे ।
यह तन विषयों की गठरी है,
खाली हो, बनती ठठ्री है ।

विरह-दग्ध मन सम्बल चाहता,
मन-भ्रमर कहीं बैठना चाहता ।
मिलनातुरता गंगा तड़पाती,
रूपासक्ति है राजन् भटकाती ।

सुगन्ध - भ्रमर चाहे पराग,
उन्मत्त हुआ मांगे-शबाब ।
यमुना-मन्थर-मधु - स्वर लहरी,
राजन्-मीन मन जलज सुनहरी ।

गंगा-मोहासक्त राजन् मन था,
सुगन्धवती, बन्धन कारण था ।
गंगा-हरित वस्त्र पहने थी,
यमुना जल में लगे खड़ी थी ।

धवल-वस्त्रों ने रंग बदला था,
सूर्य-किरणों से प्रतिबिम्बबित था ।
हरिताम्बर-कुसुम लहर महका था,
कामुक-सुगन्ध, भ्रमर बहका था ।

रूपासक्ति नयनों को भरमाती,
सूर्य-समक्ष हिम को पिघलाती ।
यह प्रपात सा है लुढ़काती है,
यमुना तट लेकर है आती ।

विधि भी तो गतिमान होना था,
अनागत छिपा प्रकट होना था ।
देवव्रत कैसे भीष्म बन पाता?
शान्तनु न यमुना तट आता?

विधि का मन आदेश मानता,
नर-अल्पज्ञ पर नहीं जानता ।
सृष्टि विकास का तन-केन्द्र है,
यही एक ब्रह्म का यन्त्र है ।

शान्तनु को सम्मोहित कर लाया;
सुगन्धवती समक्ष पहुँचाया,
'गंगा'-आकर्षण का रुख पलटा;
राजर्षि खड़ा यमुना तट था ।

उषा के अरुणिम प्रकाश में;
अरुणोदय खिले मधुर हास में ।
उषा-हँस अभिनन्दन करती थी,
मणिबाला चपल सुगन्धवती थी ।

उषा की सलज्ज नायिका सुडोल;
मुखारविंद की लालिमा-अनमोल;
सुनहरे पराग भरे मृदुलओंठ;
फैला यौवन का दिवालोक ।

नभ वेणी के उभरे वक्र जाल;
रोमांचित स्वर्णिम नव प्रभात;
संगल दो कनक कलश चमके;
राजन् मन-मोती ये छनके ।

यमुना लहरों में कोमल हास;
मधु-संगीत निनादित प्रभात;
मन्मथ-तरंगिणी चंचल तरंग;
सर्पित-हिल्लोल, उठती उमंग ।

मधु-लहरों में मधुर विलास;
सजल-कल्पना मे हर्ष-उल्लास।
लहरों में धुलते श्वेत सरोज;
मन्थर-कंपित मांसल उरोज ।

मधु-पवन विलोड़ित सर्प-लहर;
सुवासिनी रस भरती कलश ठहर;
यमुना लहरों में भरा यौवन,
अदभुत लावण्य का सम्मोहन ।

रूप नयन का है इन्द्र जाल;
रमणी-लता, है स्वप्नों का हार;
विवेक स्थलित, चिंता विस्मृत;
अहं पराभूत, धमनियाँ उत्तेजित ।

तन तो था शोभा का मन्दिर;
काली आँखों में बवंडर,
राजन्-कण से चकायित थे;
नयन-महोत्सव, रोमांचित थे ।

सुषमा का मंडल ही मुख था;
रूप सम्मोहित, मिलता सुख था,
पूर्ण चन्द्र वैभव - यौवन में;
लहरें उमड़ी मधु-लघुतन में ।

नयन रूप प्रतिष्ठा पाते,
हृदय को सन्देश पहुँचाते;
रूप ग्रहण-सामर्थ्य मन में,
भ्रमर गूँजते हैं उपवन में ।

अधर कांपते, तन में थिरकन;
तीव्र हो रही हृदय धड़कन,
शब्द मधु-रस में है धुलते;
ज्योत्सना में स्नात है मिलते ।

शान्तनु :- ''काली-आँखें, हैं अलकें काली,
रजत - चांदनी करे रखवाली;
लहर-सर्प - गति री मतवाली,
चन्दन लिपटीं लगें तन-मनशाली ।

पाटल - मुख, हंसनी - ग्रीवा,
मोम से निर्मित अंगी - प्रिया ।
देह लता लिपटी अमराई,
नयनिमा, तनिमा तुम मनचाही ।

तन तो है सुन्दर का मन्दिर,
सुगन्धवती करती मन चंचल;
रूपसी तुम आनन्द निकेतन,
नवल हेम लेखा सी, चेतन ।

अमर-अमिट छवि नित्य यौवना,
केशर द्युति-इन्द्र धनुष-ज्योत्सना;
चन्द्रकांत मणि से तन रंजिता,
चंपक-स्वर्ण-मकरन्द, अंकिता ।

यमुना जल स्पर्श सुगन्ध हर्षाता,
हृदय है क्यों अपनाना चाहता?
तरी में चपल लहर लगती हो;
रूप की दीप-शिखा जलती हो ।

कौन पिता हैं कौन है माता?
धन्य किया किस गोद विधाता?
सुगन्धसुधा का है आयोजन,
यमुना तट पर क्या प्रयोजन?

सत्यवती :- "मंगल हो, यमुना तट आये;
दाशराज-सुता के नयन सुहाये,
पिता-आज्ञा पालन करती हूँ;
आंगातुक; यमुना पार करती हूँ ।

इस धर्म निमित्त नाव चलाती,
इस तट से उस को मैं जाती;
नरवर इस तरणी पर आओ,
रमणी से सेवा सुख पाओ ।''

नयन मिले उमंग जगी,
पुरुष-रूप से कली खिली;
कुसुम-दशन मुस्कान-अधरामृत,
गूंजारित, चमके-रश्मि-भ्रमर ।

सरस नीलिमामय हँसे दृग,
नयन-नलिन में उमड़े भृंग;
मूक-चितवन - लाल कपोल,
सकुचाति, तरणी में उठी हिलोर ।

शान्तनु दाशराज के पास पहुँचे राजन;
"दाशराज, मैं शान्तनु हूँ राजेश्वर,
सुगन्धवती कन्या पाने लालायित;
उचित समझो दान करो तुम,
सेवा का सौभाग्य दो तुम !''

दाशराज :-

हे नरेश ! कन्या ने जब जन्म लिया था,
किसी-सुपात्र को देने का सोचा था;
इच्छाओं से-सौभाग्य जगते जगाते;
धर्म पत्नी रूप तुम पाना चाहते।

आप जैसा सुपात्र मिल पाना दुर्लभ है,
धन्य हुआ समय ऐसा दुर्लभ है;
इसे यदि अंगीकार करना हो चाहते,
शर्तें मेरीं हैं, तुम चलो मानते ।

शान्तनु:-

हे दाशराज, कहो तुम कहना जो चाहते,
विचार करूँगा तभी, सीमा न लाँघते।
यदि मेरी सामर्थ्य से बाहर हुआ तो;
पूरी न कर पाऊँगा यह तुम सुन लो ।

दाशराज:- हे पृथ्वी नाथ ! इस कन्या से जो फूल खिलेगा ;
वही आप का उत्तराधिकारी बनेगा ?
उसे अभिषिक्त राजन करना होगा ;
राज मुकुट उसी माथे पर धरना होगा ।

शान्तनु:-

दाशराज: यह कर पाना न मेरे वश में;
देवव्रत का अधिकार कभी मैं न छीनूँ ।
प्राणों से प्रिय-गंगा का उपहार मिला है;
स्वर्गिक-उपवन से पुष्प धरा उतरा है?''

उच्छवास गहरा टकराया मधु-चाहना से;
अश्रुमयी रङ्गिनी-पीड़ा उभरी कण कण में;
लघु बूंदें हृदय-सीप से थीं बाहर;
खेल रहा तिनकों से ही तो रत्नाकर।

जीवन जलनिधि में अन्धकार था फैला;
तृष्णा लहरों में उलट गई थी नैया;
आकाशदीप के दीप बुझे हुए थे लगते ;
सागर; दिशाहीन राजन् रहे भटकते।

मन ही मन सोच कर व्याकुल थे;
करुणा के आँसू कण स्वय पर ही थे।
सुगन्धवती-पीड़ा बन अंग-अंग समाई ।
व्याकुलता मुंह ढाँपे, घूँघट में आई।

अभिशाप ही बन आई प्रहार समय का था;
शशि-किरणें लगीं जलाने दुकाल निकट था।
तारे-काँटों सम चुभे अंगार लगे जलाने;
मन कारा-बन्धन क्यों दिन लगा बढ़ाने?

कैसी आसक्ति-काली आँखों में छायी?
यह रात चुभोती तारे-और अन्धेरा लाई।
मन चाँद हुआ काला उत्पात मचाया;
गहन उदासी-लेकर-रत्नाकर-गहराया ।

विरक्त हृदय मेरे कैसा अनुराग जगा है?
सुख-आनन्द को मेरे-इसने आन ठगा है ।
स्व-हित से ऊपर रखूँ तो सुत-हित को;
क्यों व्यथा-वेदना जला रही कुन्दन को?

2

देव देख रहा था वपु के अन्तर्मन को;
चेहरे पर मुखरित होते पीड़ा के भावों को;
दर्पण से झाँक रहीं थी, रेखाएं बन उभरीं;
अकर्मण्यता की थी लम्बी होती चुनरी ।

राजन्-शब्दों से दु:ख बिजली क्यों चमकें?
सुत देख रहे परिवर्तन राजन मन में !!
सत्य जान न पाते सीपी में मोती कैसा?
तोड़ नहीं पाते मोती टूटने का डर था ।

विधाता फिर कुण्ठित प्रहार किया था,
राजन मन मोह बन्धन डाल लिया था ।
सौन्दर्य-प्यास फिर से चमक उठी थी;
दर्शन अभिलाषा बार-बार जगती थी ।

यह कैसा बन्धन सुन्दर का मन पर,
कोढ़े बरसाता रह-रह कर तन पर?
गंगा स्मृति चित्र आंखों में बुनती थीं,
पुष्पों-कलिकों को छोड़ काँटे चुनती थीं ।

आज कर्त्तव्य अनुराग में द्वन्द्व छिड़ा था;
कर्त्तव्य जीता था अनुराग ध्वस्त था,
सुत-हित को राजन स्वीकार किया था;
आत्मा की आवाज़ सुनी निर्णय लिया था ।

मन रह-रह सुगन्ध-उपवन में जाता,
भ्रमर-सदृश्य उस पे तो मंडराता ।
मन तितली पुष्प पे मचल रही थी,
एकान्त में उसी सुमन पर बैठ रही थी।

हस्तिनापुर में राजेश्वर मन पीड़ा थे सहते,
मन की मन में रहती चिंतातुर, किससे कहते?
शोक-विह्वल देख पिता को सुत ने प्रश्न उठाया?
''एकाकी-व्याकुल-पीड़ित किस कारण से रहते !

राजाकुल परम हितैषी, कुशल मंगल चाहता,
किस कारण दु:खित मन मुख निराशा लाता?
मैं देख रहा मस्तक पर उभरी जो रेखाएं,
किस ध्यान में डूबे मन-कमल मुर्झा जाए ।

मेरे होते वपु मुख पर हताशा उभरे?
सह न पाता हूँ : राजन्-मन कूप में उतरे?
सम्बल आप तो मेरी साँस है चलती'
पल-पल यह हालत अब सही न जाती ।''

'राजन् सुत कहते हैं "इसमें सन्देह नहीं है,
मन - विवेक-पटल पर चिन्ता उभरी है ।
चिन्तन - विवेक में डूबा रहता है मस्तिक;
अन्धेरा-पल दो पल नया सूरज दे दस्तक ।

शान्तनु:-'हे भरत, कुल-प्रदीप हमारे वंश में तुम हो;
एक मात्र तेज - पुञ्ज-सुहाते, चन्द्र हो ।
मानव की अनित्यता पर शोक मुक्त हूँ सुनलो;
सूर्य कभी मेघों से आच्छादित, डूबे न सुनलो,
छट जाते-तेज से घन, फिर आलोक !

तुम एक पुत्र ही मुझे सहस्र-सुपूतों सम हो;
हे गांगेय तुम तो हृदय का सर्वोत्तम धन हो;
मैं धन्य हूँ पाकर; सूर्य घरा पे आया,
तुम्हें पाने के हित, मैंने सर्वस्व-लौटाया ।"

गंगा का रूप ही तुझ में नज़र मुझे सुत आया,
ब्रह्मा का उपहार ही-गांगेय बन कर है आया;
कैसे ठुकरा सकता हूँ सौन्दर्य-सर्वोत्तम तेजस्वी ;
जब प्राण यही है मेरे अग्नि भी यही मनस्वी !

इस हेतु कभी भी मैंने न राज्य-लक्ष्मी चाही;
'गंगा ही बेटा बनकर मेरे पल-पल समक्ष है आई ।
केवल वंश की रक्षा के हित यही कामना करता,
तुम-शतवर्षो तक जीओ-आशीर्वचन यही उतरता ।

अग्निहोत्र, वेदाध्ययन और दक्षिणायुक्त यज्ञ भी,
इन सब के अक्षयफलों की समता नहीं कहीं भी;
पर पुत्र-तुल्य कभी न होता सृष्टि का कोई भी फल,
हे महाप्रज्ञ, पुत्र से स्वर्ग प्राप्त है होता निश्छल ।

पुराणों वेदों में बेटा प्रमाण भरे पड़े हैं,
सुत - मिलने का सुख सृष्टि में सर्वोत्तम है ।
सुत कल्याण है करता, देव, सुर, ऋषि बताते,
जगती के सन्ताप इसी से, मानव के हैं मिट जाते । ''

सुत पिता की ध्यानातुरता से व्याकुल था,
पेट के पानी को जानने लालायित था ।
वपु-हृदय खोल उसे नहीं दिखलाते,
मन की व्याकुलता मुख पर न लाते ।

मुख-दर्पण तो होता है हृदय-भाव का;
रंग-छिपा नहीं रहता तो अनुराग का ।
सुविज्ञ-सुत इसे तो जान चुका था;
पर सत्य पर अभी पर्दा ही पड़ा था !

सुत ने वृद्ध-मंत्री जो राजन् संग रहता-
जाना रहस्य-पिता नहीं था जो कहता ।
संग लिये मंत्री सारथी आदि वहीं पहुँचा,
सुन्दरता की सरणि ने यहाँ राजन् लूटा ।

दाशराज विधिपूर्वक सम्मान किया था,
राजकुमार की अभ्यर्थना की, उसे पूजा था;
देवव्रत ने पिता-हित कन्या सत्यवती की-
श्रद्धा-पूर्ण, दाशराज से फिर की याचना ।

दाशराज:- "युवराज - भरतवंशियों के शिरोमणि,
अस्वीकार नहीं करता मैं कभी आप की कथनी;
ऐसा प्रशंसनीय और प्रार्थनीय सम्बन्ध कहाँ पाऊँ?
स्वीकार न करने पर जीवन भर पछताऊँ?

मैं क्या इन्द्र देव तक इसे न ठुकराते?
देव-कन्याओं के भी तो भाग्य-खुल जाते ।
आप जानले यह नहीं है मेरी औरस कन्या:
धर्म-पुरुष राजा उपरिचर वसुकी अयोनिजा कन्या ।

धर्मात्मा-राजा से सुलक्षण तो ग्रहण किये हैं;
महर्षि'पराशर ने कृपा कर इसमें सुगन्ध भरी है ।
दोष मुक्त-सुगन्धवती, यही सत्यवती है:
मत्स्यगंधा पर विधि की कृपा दृष्टि पड़ी है ।

हे भारत: तुम शूर, क्रोध-युक्त, धर्मज्ञ-तपी हो,
अस्त्र चलाने में रत हो धरती पर-महाबली हो;
अस्त्र-शस्त्र से मानव-सुर न तुम्हें हरा सकते,
अनध-शस्त्र के चलाने पर-कुछ संकट ला सकते ।

तुम महाबली-सूर्य-तपस्वी मिले हो कुरुकुल को,
यदि तुम्हारा अहित कोई सोचे तो मन व्याकुल हो !
तुम्हारे जीवन से कुरुवंश-जीवन है बंधता,
बेटा-मुझे बस यही व्याकुल करती है चिन्ता ।

संशय-युक्त रहता हूँ यदि अनिष्ट तुम्हारा होगा,
कुरुवंश की प्रगति का तो फिर महानाश ही होगा ।
देवव्रत मुझे बस यही भय सता रहा है;
सत्यवती-सुत बलशाली से न टकरा सकेगा ।
मृत्यु निश्चित है उसकी यदि कभी ललकारेगा;
बली-शत्रु समक्ष अधिकार व्यर्थ हैं सारे ।''

युवराज सभी वृद्ध क्षत्रियों के समक्ष कहा;
''दाशराज-इच्छा पूर्ण पिता हित ही करुँगा ।
''मैं प्रतिज्ञा बद्ध होता हूँ सुत राज करेगा उसका?
राज्य-मोह-अधिकार मन कभी वरे न मेरा ।

राज्य का अधिकारी होगा, भले भाई मेरा;
शपथपूर्वक-सत्य कहता हूँ, वचन अडिग मेरा !
ऐसी कभी प्रतिज्ञा-भूलोक कभी नहीं है !
पर मैंने भरी सभा में पिता-हित ही की है !

सत्यवती के गर्भ से पुत्र जो उत्पन्न होगा ।
भरतवंश कुरु-राज्य का अधिकारी होगा ।''
'साधु-साधु' की ध्वनि से क्षितिज गूँजा,
विधाता निशाद बन कर यह प्रपंच रचा था !

दाशराज अभी और प्रतिज्ञाबद्ध करना चाहते थे,
संतोष अभी न प्रकट, कुछ और वचन चाहते थे;
ब्रह्मचारी को जीवन भर संन्यासी चाहते थे,
गृहस्थ आश्रम से उसकी पूर्ण मुक्ति चाहते थे ।

संसार में रह कर संसारी ही तो नर होता ;
ब्रह्मचर्य का तेज गृहस्थ में बल बीज बोता,
वानप्रस्थ में लोक हित औ परोपकार ही रहता;
संन्यास में स्वहित के लिए मुक्ति लाभ ही पलता।

भू मण्डल में सभी तो धर्म लाते हैं
सभी आश्रमों में समय-समय आते जाते हैं ।
दाशराज चाहते असमय ही पुष्प खिलाना,
धर्म के लोह पाश कुमार को पहनाना ।

'वाणी में कुमार की तेज भर आया था,
पूर्वकर्मों का फल शब्द रूप धर आया था;
पिता-हित सुगन्धवती वरण की इच्छा थी,
ब्रह्मचर्य में ही तो संन्यासी वृत्ति जगी थी ।

लता चन्दन को छोड़ चलीं थी ऐसे,
जैसे सर्प मूर्च्छित हो-हो कर गिरते हों;
बाँध लिया था अपने कोही बीजों ने,
विकसन अवरुद्ध किया था सुमनों ने?

पवन-साँस रोके चुप चाप खड़ी थी;
सूर्य की किरणें कुछ सहमी सी लगतीं थीं,
कलरव दीन हुए पक्षी-गण मंडराते थे,
भ्रमर पुष्पों को छोड़ काँटों से उलझाते थे।

ठौर-ठौर से तितलीं-भयभीत थी चलतीं,
गुल्मों की सुगन्ध उसे अच्छी न लगती ।
रुका समय का रथ धर्षण था भारी;
राजकुमार के मुख से अवरुद्ध गिरा थी ।

मोहाधंता-वपु की भावुक थी करती,
लुक-छिप कर विधि भी थी खेल खेलती !
'भावावेश ने अपना था रूप पसारा,
क्रोध-मोह-त्याग तो बढ़ था आया ।

भीष्मः- "दाशराज, मैं उपस्थित राजाओं मन्त्रियों के मध्य;
शपथ मेरी तो सुनें मैंने पहले ही छोड़ दिया है राज्य ।
पुत्र-बारे में भी मेरी प्रतिज्ञा सुनले क्षत्रियगण,
जीवन प्रयंत ब्रह्मचर्य का करुँगा मैं अवलम्बन ।

राज्य-हीन, सत्ता-हीन, सन्तान हीन रहूँगा;
सत्यवती हित राज्य का बस अनुचर ही हूँगा ।
भाग्य-सूर्य को सब समक्ष मैं स्वयं निगल रहा हूँ !
निःसंतान रहकर ही स्वर्ग लोक-अक्षय करता हूँ ।"

सूर्य सुनी यह वाणी धरती से उतर गया था,
पक्षियों ने भी चहकना अचानक तो बन्ध किया था ।
वायु-गति हीन हुई दिशाओं में उलट गई थी,
उसके अंगों से जैसे चमड़ी उतर गई थी ।

सभी सभा सकते में आई हुई वहाँ पर;
देवव्रत भीष्म का रूप धरा यहाँ पर ।
सृष्टि में यह प्रथम बार प्रतिज्ञा ताण्डव था,
सुमन-श्रेष्ठ लोलुपता को हुआ समर्पित था ।

दाशराज ही केवल स्वार्थ-बद्ध लगते हर्षित थे,
सभी उपस्थित जन-गण तेज हीन हुए थे?
देवव्रत के तन से मखमली वस्त्र उतरे थे?
लोह-कवच भरी सभा में वह तो ओढ़ खड़े थे ।

अन्तर्मन को कोढ़ों की मार पड़ी थी ऐसे;
प्राणों को तन से खींच लिया हो जैसे?
सर्पों ने ही तो मिल कर ढंक चुभा दिये थे;
कोमल-किश्लय सभी ज़हर-से भर दिये थे ।

स्वार्थ परमार्थ की तो हत्या ही कर आया;
स्वहित ही लोक-हित पर आज तो चढ़ पाया !
मन कलुषता ने तो मन को ही आज छला था !
कर्त्तव्य-रूप में आकर-असुरों ने आज ठगा था ।

भावावेश में बालक न रोक सका था स्वयं को;
सारा-समाज वहीं था-दाशराज को न रोका था,
शूली पर ही टंगा था-मेखें भी ठोक रहा स्वयं;
भावों का लहू बहा था देव तो उसमें डूबा था।

हृदय के चतुर्लाभों में उथल पुथल हुआ था;
मस्तिष्क के सभी कोशों में उत्पात तो आज मचा था,
भयानक-रूप तो धर कर महाकाल ही आन बिराजा ;
प्रतिज्ञा-बद्ध हुआ था अभिशाप ही बोल उठा था ।

निशाद हृदय गद्-गद् परमानन्द मना रहा था,
देव, भीष्म के भीतर प्रंकम्पित रो रहा था:
बाहरी आवरण दिखा था भीतर तो रोता मन था;
समय ने रिपु-वपु बन मन पर प्रहार किया था ।

बुद्धि ने प्रारब्ध को था ग्रास बनाना चाहा,
प्रारब्ध ने बुद्धि को भावुक बन कर था निगला;
इस से प्राप्त अर्थों को मानव तो समझ न पाता;
बुद्धिमान व्रती इस के आगे शिशु सा ही है रह जाता ।

उत्कृष्ट-तेज आँखों की ज्योति को हर लेता,
दैव मनुष्य बुद्धि को वैसे ही बांधित करता?
दैव से प्रेरित होकर मानव रस्सी से बँधकर-
विधि के वश में ही तो बहु भाँति रहे घूमता ।

न सोच सके कभी हम, वही दैव बन आता,
भाग्य को पुरुषार्थ से है कौन मिटा तो पाता?
नियति ही जग का कारण-साधन बन चलती है,
समस्त-सृष्टि को कर्मों से ही तो छलती है ।

संसार में सुख और दु:ख तो भाग्य हीन हैं सारे;
अपनी शक्ति से मानव बस सुख ही पाना चाहे,
दु:ख भाग्य-रथों पर चढ़ कर बुद्धि पाँवों से कुचलें,
वाणी में बैठ हैं जाते शब्दों से फूट तो निकलें !

भाग्य विचित्र होता है, गति जान सका न कोई;
कुछ भी दुष्कर न इसको, छलि-कपटी ऐसा कोई,
लिखा कौन टाल सकता है? नियति प्रबल बहुत है;
ललाट में लिखी लिपि को पढ़ना तो कठिन बहुत है?

रूप,कुल, शील, विद्या और यत्न-पूर्व किये कार्य;
कुछ फल न देकर जाते; जुड़ता जब इससे दुर्भाग्य।
पूर्व-तप के संचित फल ही मनुष्य यहाँ है पाता,
भाग्य-वृक्ष मीठे-कड़वे तो फल देकर है जाता।

न हनन कर सका कोई नियति ही सब करती है,
मनुष्य के बुद्धि-बल को एकमात्र नियति हरती है;
सत्वशाली पुरुष तो दैव से ही शक्ति है पाता,
अनुकूल दैव असाध्य कार्य सिद्ध स्वयं हो जाता ।

भाग्य ही मुख्य हुआ था-वाणी में चढ़ बोला था;
बालक-यौवन पूर्ण-नियति ने ही वृद्ध किया था;
विष्णु-शिव-ब्रह्मा, दैव लिखा मिटा न सकते;
दैव-शत्रु बनकर देवव्रत पर तो टूट पड़े थे।

पुरुषार्थ-धराशायी था नियति का एक खिलौना;
भीष्म ही बन आया था, देव का समय सलोना,
काल, स्थान, मुहूर्त जिस में उसे टूटना होता;
दैव उसी दिन-घड़ी-समय पर मुख से मुखरित है होता ।

आकाश से अप्सरागण के नुपूर-झँकृत हुए थे;
देव-ऋषिगण गंगा-नन्दन पे धन्य हुए थे;
भयानक-संकल्प सुनकर देव-लोक बोल उठा था;
'भीष्म' भीष्म है यह' देव-पुष्प बरसा रहा था ।

कोमल-भीष्म बन आया - समय पुकार उठा था;
स्वर्गिक-ध्वनियाँ-गुञ्जरित थी आकाश भी बोल उठा था;
धन्य-धरा ऐसी है जिस पर उतरा है भीष्म-कोमल !
भीष्म के अन्तर्मन से उठ रहा था करुण क्रन्दन !

निशाद राज ने हँसते था सत्यवती को सौंपा;
भीष्म को लूट लिया था-विधि ने देकर तो धोखा !
सुहृदयता ही उसकी - सैना लेकर थी टूटी;
भावावेश की गंगा देव-हृदय में थी फूटी ।

माता की अश्रुधारा-यमुना तट पर बहती थी;
क्रोधित मन ही मन थी यमुना पे टूट रही थी;
कुछ कोस बढ़ी तो यमुना, गंगा थी पीछा करती,
प्रयागराज में जाकर-यमुना गंगा में जो सिमटी ।

सत्यवती का मौन समर्थन अपराध ही तो था;
पिता के कंधों पर चढ़ विमाता ने जो किया था !
गंगा-प्रताड़ित लहरें तो उछल-उछल-टकराई,
यमुना-लहरों को लीलें-उनपर थीं वे चढ़आई !!
स बनी फिर यमुना गंगा में लीन हुई थी ।

उसके तटों लहरों ने देव-मन चीखें सुनी थीं !
अन्तर्धान हुई थीं किरणें-सूर्य-तन से फूट रही थीं ।
सूर्य चन्द्र ही बन कर सिमटा-सहमा था चलता;
देवव्रत को होते भीष्म वह कैसे देख था सकता ?

योजन कन्या-यशस्विनी से भीष्म बोल उठे फिर;
"पिता-हित-हे माता' रथपर अब आन बिराजो !"
गन्धवती स्त्री को रथ पर बिठा कर लाये,
हस्तिनापुर में आकर पिता-सम्मुख सब कहते हैं ।

शान्तनु-ने जब यह जाना-हर्षित-पीड़ित थे दोनों ।
देवव्रत की-प्रतिज्ञा'-बद्धता से सहर उठे सभी कोनें?
"रे बेटा क्या किया है? कैसा बलिदान दिया है?
न भूल सकेगा जग कभी ऐसा सुकर्म किया है?

मैं पिता धन्य हुआ हूँ ऐसा सुत-सुन्दर पा कर;
पर सत्यवती कब चाहूँ-तेरे भाग्य को ठुकराकर?
तुम मोड़ लो बेटा प्रतिज्ञा-आदेश मानकर मेरा;
'भीष्म' बन कर जीवन-जल जायेगा सब तेरा!

अधिकार-छोड़ कर तूने अपना अपकार किया है;
मेरे-हृदय पर बेटा कैसा उपकार किया है?
कैसे भूलूँगा इसको-सत्यवती मिली है कैसे?
सूर्य को रोहिणी ने ग्रस लिया सुत जैसे !"

'प्रतिज्ञा तोड़ न सकता; आदेश लौटा ले अपना;
सत्यवती माता के रूप में ही लेकर आया हूँ;
पिता-वरण करों मैंने सुत-धर्म निभाया है;
अनुचित नहीं है-कार्य; देवव्रत जो कर आया है ।"

राजगण सभी करते दुष्कर कर्म की प्रशंसा;
'यह भीष्म हैं देवव्रत न इसमें अब कैसी संशा?
पुष्पों की वर्षा चारों ओर से हो रही थी ।
'अन्तर्मन, छिपकली कटी पूँछ सी तड़पन थी !

महाराज शान्तनु भीष्म के दु:साध्य कर्म पर ।
हर्षित-सन्तुष्ट हुए थे कहने लगे आर्शीवचन !
"इच्छा मृत्यु का वर बेटा तुम्हे देता हूँ;
तेरी प्रतिज्ञा-पालन हित सत्यवती वरता हूँ ।"

कभी भूल न पायेगा जग तेरा कर्म है ऐसा;
इससे बढ़कर मानव त्याग-कर सकता है कैसा ?
'पिता' ही तो बेटा शत्रु बनकर अब टूटा,
यौवन-से आधार मेरे कारण ही छूटा;''
यश-कीर्ति-वृक्ष-फलों से भरपूर रहेगा तेरा,'
संसार पूजेगा तुम को अपमानित मन है मेरा ।''

माँसल-मोह के कारण अनर्थ भयानक होता;
मन के पीछे जब दौड़ें सम्मान कलंकित होता ।
समय था वधू लाने का, पत्नी लेकर तुम आये;
मन के हाथों, सुन्दर-तन से हो पराजित तुम आये ।''

षष्ठ पर्व

भीष्म देवव्रत द्वन्द्व

प्रतिज्ञा बद्ध तन-मन आत्मा प्रताड़ित;
इस पथ चलना असि की धार सा दुर्गम !
आत्म-मन जानना सदा होता दुष्कर;
हृदय-ग्रन्थि-की शक्ति को जानना मुश्किल ।

पल-पल मन चंचल-व्याकुल करता है;
विवेक का बन्धन तो जब-तब ढीला है ।
इन्द्रिय-रूपीं द्वारों से संचालित करते-
गतिमान-प्राण वायु-मन व्याकुल करते ।

वाणी भ्रमजाल फैलाया ही था;
इसमें मन दृष्टि-गोचर नहीं था ।
आत्मा ही स्वामी पर देह रूप है;
मोहान्धकार से यह आच्छादित है ।

पर औ अवर अनुभूत मन है करता;
जीवात्मा; हृदय-तंत्री संगीत उभरता ।
संशय सभी दूर मन से तभी होते?
कर्म-क्षीण कभी तो न होते ।

मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ कह देने से,
जीव कभी तो अन्न नहीं हो पाता?
अन्न भोक्ता मैं ही अन्न होता हूँ,
ऐसा कहने से भोक्ता न बन पाता?

वाणी, मन में अन्तर है भारी,
मन भोक्ता, पीड़ा-विपदा संसारी;
गात-वस्त्र होने से ढक जाता है ।
मन केवल अनुभूति में जी पाता है !

वाणी-वस्त्र तो बन चलती है गात की;
मन-वस्त्र भाव ही तो बन आते हैं,
तन-कठोर बन्धन मन न स्वीकारे;
रह-रह कर बन्धन में तो चीत्कारे ।

हम न तो केवल शरीर मात्र हैं;
शरीर के भी कब हम स्वामी हैं?
कर्ता जीव कभी न हो पाता है?
बस कारण व्याकुल मन कर जाता है।

नियति के क्रीड़ा-आँगन में हम गेंद सरीखे?
जैसे चाहे नियति तो हम से वह खेले !
पटक-पटक कर हमको रहती उछालती !
कर्म गति से रह-रह कर लताड़ती।

काम, क्रोध, मोह आदि छः ए ु मन के;
धैर्य कहाँ इतना सदा सामना करते ।
संवेदना-अनुराग-इच्छाएँ कब मरती मन से;
श्रद्धा, त्याग, आसक्ति यही लक्षण मनुष्य के ।

जगत दीखता जब बन्धन न रहता;
कोमल-सौन्दर्य-अनुराग सदा तो मन बसता ।
आत्म साक्षत्कार से स्वयं प्रकट हो जाता;
व्यक्ति व्यक्ति में प्रेम कुछ बढ़ ही आता ।

आत्म बल तो नित्य हमें संजोना पड़ता;
भीष्म मन-संचालित भावातुर जब होता;
आत्म विकास के निमित्त भक्ति तप करता;
मन-बल, आत्म-बल से कभी न मरता !

मेधावी-भीष्म आत्मा के इस दोष को;
थोड़ा-थोड़ा कर निकाल रहे, रोग को ।
जैसे सुनार चाँदी की मैल निकालता;
धीरे धीरे-चाँदी को स्वच्छ है करता !

भीष्म-तप में लीन नित्य ही रहते थे,
मन की दुर्बलता से तो वह सूचित थे;
कठोर सयंम-तार्किक श्रम-नीरसता लाता;
हृदय को अनुभूति-पक्ष से जा टकराता ।

भीष्मः- मनुष्य विभिन्न कामनाओं से घिरा है रहता !
कामनाओं को छोड़ यह जीवन है क्या?
विषय-भोग की इच्छाएँ दिन-दिन बढ़ती है;
ज्वाला में घी की आहुतियाँ रोज पड़ती हैं।

जग में इच्छा के बिना कुछ न होता,
मन इसके वशीभूत तो कर्म है करता ।
जीवन तो मनोरथों से ही चलता है
आनन्द का मोती तो इन्हीं में पलता है ।

व्यक्ति की इच्छाएं अन्नत अकाश हैं;
इनसे ही तो इस जीवन में प्रकाश है,
इच्छा-दमन कभी-जब नर करता है;
कुण्ठा-ग्रस्त तो मन ही रहता है।

युवा भीष्म हुए संन्यासी. यहाँ है ।
पुष्प के-खिलने पर प्रतिबन्ध कहाँ है?
इच्छा-का घर मन इसमें रहती हैं;
अन्तर्मन में नित्य नृत्य करती हैं ।

कामना रहित कभी नर न हो पाता;
देवव्रत-मन कैसे इन्हें रोक है पाता,
साधारण-नर धन चाहें, सुख चाहें पाना;
बहुत कठिन है इच्छाओं के पार उतरना ।

मन की चंचलता तो नित्य नूतन है;
ढीला तो कर देती हर बन्धन है,
प्रत्यक्ष-कभी न भीतर रहे सालता;
मानस है, प्रभाव, को रहे-पालता ।

इच्छाएं तो मन के ही साथ बंधी है;
इनसे अलग हो पाना न सम्भव है?
देव-दबाता इनको तो नित्य ही रहता?
अन्तर्मन में व्याकुल एकान्त विचरता ।

"व्याकुलता क्यों रह-रह जाग रही हो;
नई नई-इच्छाओं से घेरा डाल रही हो,
मैंने संकल्प किया है अतिनर बन कर;
आजीवन रहूँगा मैं तो री पत्थर बनकर ।

स्वहित ठुकरा कर पर-हित अपनाया;
अपने ऊपर ही मैंने तो बन्धन डाला ।
मोह, स्वार्थ के नुपूर-नहीं सुनूँगा,
मानसरोवर के जल मैं ही डूबूँगा ।

थाम रहा हूँ इच्छाओं को हूँ. रोके,
कामनाओं के धागे सारे न टूटे;
जीवन-माला तो सारी बिखर गई है,
इच्छाओं की झोली कब फटी हुई है?

बार-बार मन के भीतर ही तैर रहीं हैं,
रोक-रहा हूँ फिर भी यह ठहर रही है ।
पक्षी आकांक्षा करते हम बादल बनते;
बादल इच्छा करते हम पक्षी बनते ।

इच्छाएँ तो आकर आँसू बहा रही हैं;
जीवन में दरिद्रता. तो भरा रहीं है !
इच्छा सदैव भविष्य की होती है,
भविष्य को मैंने अन्धकार दिया है?

रह-रह मन क्यों चीत्कार रहा है;
मुझ को मुझसे ही धिक्कार रहा है,
युवावस्था में प्रेम धारा फूटे;
हृदय कूप में ही तो सम्बल टूटे ।

अभिलाषाएं सीमा हीन सदा होती हैं;
कैसे बाँधूं मैं इनको ये सता रही हैं?
सत्ता-राज्य की तो छोड़ी अभिलाषा,
कह देने से क्या मन छोड़ रहा है?

'देवव्रत मेरा क्या भीष्म ही था?
प्रश्न उठाता मन क्यों मेरा?
सत्यवती को क्यों घर लाया?
देवव्रत से भीष्म बन कर ।''

देव:-

यह आवरण कब मन ने पहना;
स्वेच्छा से कब था पहनाया ।
शान्तनु की लोलुपता ओढ़ाआ;
कोमल-युवा-हृदय प्रहार यह ।
कोमल - भाव लहरों पर बन्धन;
डाले नहीं थे गंगा नन्दन ।

'छिपकली' की कटी पूंछ सा;
काट दिया मन प्रेम भावको ।
कटी पूंछ की सिंहरन-तड़पन;
बसी तड़पती व्याकुल मन में ।

व्यथा - पीड़ा - गहन निराशा;
को मन ने तो ग्रहण किया है ।
मधु-पात्र - जीवन - सुधा में;
विष समय ने घोल दिया है ।

दोहरा जीवन ग्रहण कर लिया;
एक देव का और भीष्म का ।
देव के हृदय में आँसू हैं;
उच्छवास-धरा से फूट रहे हैं ।

सूर्य की आसक्ति-सृजन की;
आहों में विनिष्ट हो रही ।
विवेक-भी पत्थरा कहता है,
कैसे काल यह चढ़ आया है ।

मेरी जीवन शाखा के लिए तृषा-तरी;
पर बैठा ही अमृतकुंड खोज रहा हूँ,
समझ रहा हूँ बार-बार मन को मैं तो;
देव-हृदय को, भीष्म के . तन को ।

भीष्मः-

'इच्छा से पाप करता है नर तो ;
इच्छा ही दुःख लेकर है आती ।
इच्छा की सीमा में रहता नर है;
इच्छा ही जीवन भर भटकाती ।

मनोरथों की परिधि से कुछ बाहर न !
कामनाओं के अतिरिक्त जीवन क्या है ?
सुख-लिप्सा, ही दुःखदायी होती है !
इच्छा के मूल को जान लिया है !

तू संकल्प से उत्पन्न होती;
अब संकल्प तेरा नहीं करुँगा ।
मन संकल्प क्यों छोड़ न पाता?
मोह-ममता-स्वार्थ में डुबाता ।

युवा - काल काम - बाण छोड़ता;
इन्द्रियां, मन और बुद्धि में विद्यमान ।
ज्ञान आच्छादित-जीव मोहित करती;
संकल्प से इस में वृद्धि है होती ।

संकल्प-किया तो था भीष्म ने,
देव-इसे स्वीकार न करता?
कभी बैठा मैं सोच रहा हूँ,
कैसा कवच मन को पहनाया?

देवः-

हृदय-पुष्प खिलने की आयु;
यौवन की मांसलता तन की;
प्रचण्ड, लोक में बहती है यह;
रोक-पाना युवक के वश न?

स्वर्ण जंजीर बाँध ली मन पर;
मर्यादा का बन्धन है बाहरी ।
तन पर तो भीष्मता डाली;
अन्तर्मन पर बन्धन कैसा ?

मान सका बन्धन है कब मन;
सत्यं-शिवं से सुन्दर प्रबलतम !
मानव की पराकाष्ठा है यह !
हृदय का सर्वस्व यही है ।

व्यक्ति के विकास केन्द्र में;
प्रेम-राग-विराग ही रहते ।
चारों ओर है आयु बीते;
ऐसा चक्रव्यूह सुन्दर का ।

रेशम की तारें ही हैं यह;
मानव-कीड़ा सदा छोड़ता !!
जीवन-भर इसमें ही लीन है;
'कैप्सूल' रेशमी स्वयं ओढ़ता ।

हरी घास-पत्तों को खाकर;
रेशम की तारे हैं बुनता,
इसमें ही जीवन आनन्द है;
इनसे नाता नहीं तोड़ता ।

तोड़ सके कब देव मेरा मन?
रेशम की तारों को उगले;
छोड़ कहाँ इसको हम पाते?
नियति है मानव-मन की;
भावों-अनुभावों में पल कर;
यह कीड़ा तो जीवित रहता ।

भीष्मः- मधु-मक्खी की तरह मेरा मन;
पुष्पों-का रस चाहता पाना ।
उँचें कल्पना-वृक्ष पर बैठा;
एक छाता तो बना रहा है ।

सहज गति से रस लाती है,
छाते में ढुलका - फिर देती;
जीवन-भर इसी दौड़ में,
अपने पंख फैलाये उड़तीं ।

मन वेदना ही मधु बन कर,
इस छाते में भरती जाती ।
मधु-मक्खी ही बना मेरा मन;
मधु-छता तो बना रहा नित्य ।

मधु का संचय 'पर-हित' ही है;
मन-पीड़ा पर सुख है पाती ।
पूर्व-कर्मों के रागों की तारें;
मधु-छाते में भरती गाती ।

देवः- सूक्ष्मताओं की कोशिकाएं-उभरें?
इससे बाहर निकल कब पायें?
मानव नहीं वे पत्थर होगा;
संवेदनाएं आँसू न छलकाएं?

हृदय के झरनों से फूटें;
शीतलता प्रदान कर रहे,
जगती का संताप मिटाते,
सृष्टि को विकास दिलाते ।

प्रेम-भाव ही है सर्वोत्तम;
उस पर भी बन्धन छल का ।
वपु-शान्तनु के वश में न था
जो सामर्थ्यवान हैं राजा?

मुझ से फिर ऐसी आकाँक्षा;
भीष्म-तन ने बाँध तो ली है ।
राज कुमार देव-हृदय पर;
तड़ित अचानक आन गिरी है ।

सुकुमार है मणि सरीखा;
चंचलता की पवन सरीखा,
पुष्प-सुकोमल काँटों पर था;
काँटों का ही उससे छल था ।

भावावेश छला है मुझको;
भाग्य-विधाता ठगा है मुझको;
वपु ही रिपु तो है बन आया,
प्रणय-बाणों से बिंध कर आया ।

बाँधने वाला स्वयं पालक था;
मोहासक्ति से हुआ घायल था ।
विरक्ति में आसक्ति है जागी;
आसक्ति में विरक्ति भर आई ।

राजकुंवर बनाकर छला है;
इसके हित मन पे विपदा है;
गंगाये को धूलि जो मिलती;
राजनीतिक लिप्सा न डसती ।

राजनीति की कठोर प्राचीरें;
देव को उसमें कैद किया है;
भीष्मता तन को पहना दी;
पांवों में बेड़ी है डाली ।

हाथों में हथकड़ी पहना दी;
वाणी को अवरुद्ध किया है;
भरी सभा में शीश कटा है;
काटा मैंने भीष्म बन कर ।

अन्तर्मन बन्धन न मानें;
उसने तो प्रतिकार किया था;
मूक-अधर तो रोये थे हम;
आँसू-हृदय-सागर ही था ।

भर आया था पीड़ा सागर;
शब्द-भीष्म जब फूटे थे ।
दृढ़ प्रतिज्ञा की वाणी से;
बिजली बन कर ही टूटे थे ।

भावावेश ही तो कारण था;
उस पर ही अब तो प्रहार है;
वही मेरे मन को तड़पाता;
जीवन-घन वर्षा सावन है ।

मानव मन तो चुभन न सहता;
देव भला कैसे सह पाता?
भावागत ही शोषण मन का;
भीष्म बन मैंने किया था ।

देव तो रोता है अब मन में;
सोच-सोच कर ही घायल है;
सत्यवती को क्यों घर लाया?
अपने-हृदय पर तीर चलाया ।

बैंध दिया स्वयं ही हृदय को;
रक्त-प्रेम धारा बन बहती;
पल-पल देव देव है कहती;
सुनकर भी अनसुना कर रहा ।

देवव्रत का यह भीष्म-तन
भीष्म कभी तो हो न पाता?
एक सिंहरन तो भर जाती है
आसूँ ही तो ढुलकाली है ।

टीस - प्रेम - मिलन - आलिंगन;
रूप की मदिरा को ठुकराना ।
सरल कहाँ होता है भीष्म?
दबे भाव कुण्ठा बन जाते ।

कुण्ठा-ग्रस्त नहीं जीवन है?
चेतन और उपचेतन मन में;
भीष्म - देव सदा द्वन्द्वरत हैं;
कोमल-कठोर में संघर्ष है ।

अंकुश कैसे डाल सकूँगा;
भाव-प्रेम-कल्पनाओं पर मैं;
कभी तो भीष्म बन रोता है?
विधि के इस कुठार पात पर ।

क्रोध-कभी तो आ जाता है;
निशाद राज के छल व्रत पर?
यह कैसा अन्याय किया है;
विधि-समाज ने इस मन पर?

युवा-अवस्था में संन्यासी?
बनना पड़ा क्यों मेरे तन को?
मन संन्यासी होता कब है?
भीष्म भी कैसे होता है?
सोच विवेक दिशा-हीन है ।

संन्यासी तो वन में रहता है;
सुन्दर को ठुकरा कब पाता?
विश्वामित्र-तो याद आता है;
'मेनका'-रूप को सह न पाया।

पत्थर ही तो पिघल गया था;
भीष्म वह भी बन न पाया?
प्रेम-प्रणय-मिलन-रूप ज्वाल में
भीष्म जल कोमल हो जाता ।
सोना गल कुन्दन हो जाता ।

भीष्मः- चट्टानों के भीतर का जल;
लिए मधुरता बह आता है;
चट्टान कहाँ उसे रोक है पाती?
लावा-बन कर फूट ही निकले;
पत्थर को पिघला देता है ।

तरल-भाव बह ही हैं आते;
आकर जग को जीवन देते;
सुधा पेय का रूप है लेता;
सीप भले पत्थर ही होता;
पर कोमल-जल-मोती होता ।

हृदय गुण-जल मोती करते;
प्रेम-भाव मोती है मन का?
पत्थर और भीष्म कब होता;
तरल-भाव झरना बन फूटे ।

शीतल-हिम नद पिघला कर;
प्रपात बने तो ढुलक ही जाते;
देव-मेरे मन का झरना फिर;
और विचारों के प्रपात सब-
कैसे ढुलक नहीं पायेंगे?

भावों की प्रचण्ड लहरों को;
विवेक-बाँध कब रोक हैं पाते;
आँसू बन कर बह आयेंगे;
भीष्मता को झुठलाएंगे ।

देव: - 'भीष्म' तेरे मन का वह मोती;
कैसे अस्तित्व को झुठलायेगा;
चमक उठायेगा जब रह-रह कर;
हृदय - देव का कम्पायेगा ।

चट्टानों के भीतर का जल;
कहीं-कहीं तो बहता ही है;
भीतर-भीतर रिसता रहता;
'भूकम्प' धरा में ले आता है ।

चूर - चूर शिला - प्राचीरें;
इस आवरण को तोड़ हैं जाती ।
जो अनचाहे - मन ने पहना;
स्वार्थ-नीति ने था ओढ़ाआं ।
वे ही उठा रहा है क्रन्दन?
भीष्म का चीत्कार गंगा नन्दन ।

भीष्म:- दारुण-ज्वाला जला रही है;
आशाएँ सब लुप्त हुई हैं;
निराशाओं की विजय पताका;
गज-हृदय में गढ़ी हुईं हैं ।

मिली दासता - भीष्म तन को
और प्रताड़ना मिली है मन को;
पुष्पों को रस हीन किया था;
दीपक की लुट चुकी है ज्योति?
माला के बिखरे सब मोती ।

मन को लोह कवच डाल कर;
बन्दी-गृहों में छोड़ दिया था;
अश्वों की आँखों पर बन्धन;
दिशा हीन-सरपट दौड़े थे ।

मन लगाम तो खींच रहा था;
इच्छाओं के रथ न रुकते;
नई कामनाएँ चक्रायित थी;
तृष्णा-चक्र तो गतिमान थे ।

समय ही जब शत्रु बन जाये;
अपनों से फिर कौन बचाये?
मीन - ताल में कब बन्धित है,
भ्रमर-पुष्प पर गुञ्जरित है ।

देवः-

हृदय में एक तपन अनोखी;
क्यों अचानक भड़क उठी है?
देव - मानव ही कोमल काया;
उसको यह तो मार पड़ी है ।

भरी सभा में लूट लिया मन ;
भाव को तो मृत्यु दण्ड मिला था ।
आखों में आँसू थे सिमटे;
आहों का उपहार मिला था ।

भीष्मः-

छीन लिये थे आभूषण ही-
जिन को पहने मन चलता था;
वीणा से तारें सब उतरीं;
जिन में तो संगीत भरा था ।

गहन निराशा में मन डूबा;
गगन में तो सूरज डूबा था;
मन में अमावस चढ़ आई थीं;
चन्द्र को जग ने लूटा था ।

देवः-

वृक्षों से छाया को छीना;
पतझर तो ही ठहर गया था;
मधु-ऋतु को कैद किया था;
फूलों पर तुषार गिरा था ।

पक्षी से तो पंख ही मांगे;
कोयल से वाणी मांगी थी;
किरणों को भी तोड़ दिया था;
उनसे तो ज्योति माँगी थी ।

पवन से शीतलता को छीना;
पुष्पों से मुस्काना मांगा ।
आंखों से सब स्वप्न थे मांगे;
प्राणों से जीवन था मांगा था ।

दिल से धड़कन क्यों मांगी?
जीवन से साँसे क्यों माँगी?
बाहों से कर काट लिये क्यों?
पंखों से गति थी माँगी क्यों?

भाव-रक्त ही चूस लिया था;
हिस्रं-पशु बन निशादराज ने;
मगर ने मछली को निगला;
राजनीति के कुटिल-सागर में ।

देव:- देव-भीष्म तो बना दिया था;
भीष्म - देव कभी न होता?
गंगा के तट पर आता था;
ममता की लहरों में तिरता ।

शीतलता जो पा जाता था;
जगत में था वह तो एकाकी;
अपनों ने तिरस्कार किया था;
स्वार्थ का ही निमित्त बना था ।

सत्यवती को क्यों स्वीकारा?
सुत का सत्ता - शासन, छीना?
माया के मोह-बन्धन में बंध?
वपु ने अत्याचार किया था ।

देव जो भीष्म बन आया था ।
सत्यवती को ठुकरा देते राजन;
राज्यलक्ष्मी न उसे बनाते;
सुत का सुत को स्वत्व देते ।

जिसने स्वेच्छा से राजन् तृष्णा पर;
मन की दुर्बल-मांसल इच्छा पर ।
स्वत्व दाव पर लगा दिया था;
जो पिता के मुख पर उभरी रेखाएँ ।
चिन्ता-व्यथा - वेदना - तन क्रीड़ाएं;
व्याकुल - राजन को जो करती थी;
भावुक देव था सह न पाया,
अपना सर्वस्व लुटा आया था ।

जीवन-भर की नीरसता को;
एकाकी क्षणों की पीड़ा को;
अन्तर्मन की घनी वेदना को;
उसने अंगीकार किया था ।

ओंठों पर कठोर प्रतिज्ञा;
तन को भी पत्थर में ढाला;
मोम लोहे में बदल गई थी;
कली खिली-पर सिमट गई थी;
कठोर-शब्द के घावों से ही;
भीष्म-बन कोमल रौंदा था ।

मनोहरी स्वप्नों की शीतल छाया;
से तो वह उठ स्वयं भागा था;
मरु-भूमि में अश्व दौड़ाता;
विवेक-तर्क में भटक रहा था ।

अनेक-बार आँधी उड़ती थी;
उष्ट्र-तपन से टूट था जाता;
मरु-भूमि फैली थी ऐसी ;
जिसका अन्त नज़र न आता।

भीष्मः-

भीष्म-हिरन-तो दौड़ रहा था;
मन-संताप एकाकी क्षणों में;
उसके पगों को रोक रहे थे;
प्रेम-अनुराग शीतल-छाया में।

तपन-सदा तो हर लेती है;
देव इसी छाया को ढूँढें;
भीष्म दूर तो भाग रहा था;
कैसा बटा हुआ व्यक्तित्व है?

आसक्ति-विरक्ति में झूल रहा था;
एकाकी तो - एकांन्त देव था?
भरी-सभा-उसे भीष्म करती थी।
उसके मस्तक की रेखाएँ-

पढ़ पाने को कोई न आतुर;
माता भी तो छोड़ गई थी;
मरु-की जलती रेती पर ही ।
पिता-वृद्ध-दीपक से बुझते-

धुआँ आँखों में बढ़ा रहे थे;
अचानक ही तो छोड़ गए सब;
कुछ वर्षों की सुख - लिप्सा
भीष्म का जीवन था पूरा ?

देवः- वपु ने तो अन्धकार भरा था;
राग-विरागी मन क्यों जागा?
विरक्त के मन आसक्ति जागी?
मांसलता की गन्ध-सुगन्ध बन-
सुगन्धवती-मीनाक्षी अनुरागी?

पराशर ऋषि मीन-गन्ध को तो;
सुगन्ध में बदला था कैसे?
वही-ज़हर बनकर फैली थी;
देव-को भीष्म ही करने ऐसे?

व्यक्ति आत्म-सुख के हित ही;
पर-हित को ठुकरा देता है;
'प्रतिज्ञा' का कवच ओढ़ा कर;
सत्य के पात्रों में ढक कर ।

मर्यादा का रूप लिये वह;
'आदर्श' का स्वरूप सजा कर।
व्यक्ति धर्म कर्त्तव्य बन कर;
कैसे व्यक्ति को ही छलता है?

'स्व-छलने' में कितना सुख है ?
'पर' को बलि तो कर जाता है;
देव-हृदय चीत्कार उठाता;
भीष्म-विवेक पछाड़ है खाता ।

अल्प-काल के हित ही क्यों कर?
दीर्घ-काल न्योछावर कर डाला?
समय-क्रूर-जल्लाद होता है !
शीश-बार - बार कटता है !

बार बार मृत्यु दण्ड है देता;
व्यक्ति इस को गिन न पाता ।
देव-शीश था पल-पल कटता;
पुष्प-सुकोमल खिलता जड़ता ।

मन की पीड़ा से अनभिज्ञ सब;
शूली भीष्म को चढ़ा रहे नित ।
आदर्श उसे बना कर रखा;
सत्य-रूप सजाते थे नित ।

मर्यादा-कर्त्तव्य बना दिया?
मानव-पद से ठुकरा दिया?
पत्थर ही तो भीष्म था?
इसकी पूजा जग करता था?''

देव-मन नित्य भोग रहे; तन में मेखें ठोक रहा था ।
जलधि में निस्तेज ज्वार था, भाटा हो रहा कुंठित था;
घन-पटल में सूर्य छिपा-किरणे व्याकुल भ्रमित थी।

कालिमा ही तो पोत रहा था समय भाव-आलोकों पर,''
नियति ही तो चढ़पाई थी-मधुर-सुनहले लोकों पर;
दिन अवसाद में डूब रहे थे-रातों के थे तारे सहमें;
वैभवहीन हुई मधुशाला-अनुभूति ने बन्धन जब पहनें !

निर्जन-वन में भटक रहा था-मन-हस्ती था डावाँडोल;
भाव-वृक्ष तो उखड़ रहे थे-क्रोधित-वन में गर्जन घोर;
जीवन सागर में जल सूखा और रेती थी भर आई;
मन सागर में मीन थे व्याकुल, घनी निराशाभर आई ।

नवल-रात्रियों ने थे निगले नवल-प्रभातों के सब रंग ।
एक रंग ही बचं पाया, कालिमा-भर लाया अंग संग''
अजगर-भीष्म खींच रहा था कुसम भरें मनके थाल;
नीरसता-गंध-हीनता-मन पर फैला रही क्यों जाल?

दिन भर भटक रहा भीष्म बन रात देव फिर बन जाता;
सत्यवती-लोह-कवच ओढ़ा भावों से निर्वसन फिर हो आता।
सत्यवती को वर लाने की वपु हित - चुकाई थी जो कीमत;
जला रही थी भीतर - भीतर भीष्म तन को बनकर दीपक ।

कुसुम-धूलि में ही थे बिखरे मुकुलित होना बन्दकिया;
पतझर आकर ठहर गई थी-बसन्त-पुरुष था कांतिहीन पड़ा''
देव को काँटों में उलझाकर-भीष्म-सुमन खिलता कैसे?
विवेक-आदर्शों-की भट्ठीमें देव न फिर चढ़ता कैसे?
तकली सा मन धूम रहा है-समय रूई चढ़ाता चलता;
चक्रायित - भावों की तारें बुनता ही भीष्म है चलता ।

शान्तनु रूप-यौवन-पोत सत्यवती-सागर लहरों में लीन !
भीष्म-धधकती-ज्वाला में पड़-दु:ख सागर-में हुए विलीन;''
बाड़व-ज्वालायें-उठती-बढ़ती-भीष्म-मन को जला रही;
देव अन्तर्मन-सिंधु से;भयंकर उथल-पुथल मचा रही ।

भीष्म राज्य-पालन में रत हो भुला रहे सब पीड़ा को;
शान्तनु-स्वर्ग-धाम-गए फिर-पूरी कर जग लीला को;
'गंगा' के आराधन में ही तृप्त हो गए महाभिषक;
धरती पर ले आया था-उनको तो गंगा का दर्शन ।

हलाहल तो पिया शिव-भीष्म-शान्तनु हृदय मन्थन में;
पहुँचाया ब्रह्म लोक-सत्य-कर्म-यज्ञ कर गंगा नन्दन ने ।
गंगा की लहरों ने तो सहर्ष पंचभूत स्वीकार किये;
एक समय सीमा के बन्धन से शाश्वत-हृदय मुक्त हुए ।

सत्यवती - शोकाकुल, पुत्र चिन्ताग्रस्त विचित्रवीर्य अनाथ;
देवव्रत सान्त्वना देते कब तक बैठे रहते पास?
राज्य-हृदय तो पत्थर होता, संवेदना में न बह सकता;
राज्य-सिंहासन-हस्तिनापुर का खाली कभी न रह सकता;

चित्रांगद को अभिशिक्त किया दास बने भीष्म फिर !
राज्य-कार्य में लीन हुए-अनुज आज्ञा का पालन फिर !
चित्रांगद थे बली-उत्साही, भुजा-बल का बहुत अभिमान;
पृथ्वी के राजाओं को भीष्म संग से कर सके म्लान ।

साम्राज्य की सीमाएँ-दिन-दिन तो बढ़ती हीं जाती;
भीष्म के प्रचण्ड तेज समक्ष-सभी दिशाएँ तो संकुचाती ।
विजयगर्वित चित्रागंद-मद में चूर उच्छृंखल होता प्रतिपल;
दम्भ और अहंक़ार अश्व में दौड़ रहा था हो मदमस्त ।

राज्य मद में मतवाला होकर जंगल में पागल ही हाथी;
विजय नशे में चूर उखाड़ रहा वृक्ष-समाज पर हावी ।
अहंकार की अग्नि आंखों-शब्दों-कर्मों से सब पर टूट रहीं;
दर्प-ज्वाला में दग्ध-हुआ वह; मर्यादाएं थीं सारी छूटरहीं !

सृष्टि तो बलशाली है इसमें एक-से एक बढ़ हैं बलशाली;
सूर्य-ब्रह्माण्ड में तिनका भर है-भले तेज-बल है भयकारी ।
एक-सूर्य में एक धरा कण भर ही है, एक धरा में मनुष्य कण है;
कितना भी गर्वित हो नर इस धरती में तो केवल तिनका भर है ।

स्वरूप-सत्ता-जीवन मानव तो क्षणभर ही रहता है;
अहंकार-दम्भ-घृणा-द्वेष के सागर में बहता रहता है !
चित्रांगद-पराक्रम-पौरुष-बल-गन्धर्व चित्रांगद समक्ष खड़ा;
कुरुक्षेत्र में सरस्वती के तट पर तीन वर्ष तक युद्ध किया;
चित्रागंद-पराक्रम-पौरुष-बल - गन्धर्व था चूर चूर किया ।

'घोर संग्राम अंह दम्भ के कारण ही दोनों करते;
सत्ता मद में दो पागल-दो चित्रांगद हाथी भिड़ते ।
गन्धर्व चित्रागंद ने थे पहाड़-उठाए-भूकम्प उठा;
चित्रांगद सद्गति पाई वह स्वर्ग सिधार चला ।

'भीष्म' को फिर बंवडर - लील रहे कर्मों को थे;
उत्तरदायित्व के पर्वत फिर से थे समक्ष खड़े ।
चित्रांगद को अति अभिमान पराभव द्वार पर लाया !
हठ-असत्य-अहम् का कार्य उसको विनाश तक लाया । ''

राजा हो सत्ता मद में-भूला पंचभूत-शक्ति - क्षणिक;
कुल, धन, ज्ञान, रूप, पराक्रम, दान और तप अंहकार के कारण?
वो घट छलका ही करता है, भरने की क्षमता हो दूर?

दूध न देने वाली गाय-चंचल हो रस्सी से ग्वाला बाँधे;
अल्पज्ञ-जीव पण्डित-कमल सा-अज्ञान जल में तिरता जाये?
वृद्धावस्था रूप को निगले, आशा धैर्य को खा है जाती ।
मृत्यु प्राणों को निगलती; रुगण्ता-शरीर पचा है जाती ।

पर-दोषों में पड़ स्व-दृष्टि भी नष्ट होती ।
धर्म-सत्य-उचित-आचरण की सीमाऐं पथ भ्रष्ट होतीं ।
कामासक्ति लज्जा को खाये; मान सम्मान भी खा जाती ।
नीच-पुरुष की सेवा जग में; सदाचार को है निगलती?
क्रोधी - व्यसनी - के घर में तो लक्ष्मी कभी न रहती;
समृद्धि-सत्ता-अभिमान सर्वस्व को ही नष्ट करती ।

चित्रांगद अभिमान-पोत को लील गया सागर-सम्पन्न ।
अभिमान विनाश बुलाता-फल कभी नहीं है लाता;
अपने दोषों को ढांपने का आवरण है बन जाता ।
अभिमान उतना भयानक जितना नीच होता अज्ञान;
शान दिखाने वाले को अपयश-यश की कहाँ पहचान?

अभिमान-हीन श्री फल सा मीठा भीतर ही रस जैसा;
अभिमान-पूर्ण श्री फल सा बाहरी छिलका ही बनता जाता;
अल्पज्ञता-ही है कारण, धन, बल, विवेक अभिमानी;
व्यर्थ-नर डूबा रहता है-परमार्थ प्रवीण होने का अज्ञानी?

अभिमान न करना उचित, प्रदर्शन महाकाल लाना है;
आत्म-प्रेम बंधन बंध; व्यक्ति को छल जाता है'
शुद्ध-सुवर्ण में चमक न उतनी जितनी नकली सुवर्ण में होती?
'मैं' की चक्की में पिसते-मन-वचन-कर्म ठुकराता है !

अहम् के पंखो पर उड़ते-स्फुलिंग - विनाश कहाँ नज़र हैं आते ।
भीतर भीतर ही जलते अहंकार - दम्भ-अस्तित्व जलाते;
जागृति, विस्मृति बन जाती फिर; स्वप्न-सृष्टि के जाल ही बुन चलते हैं;
अहंकार अग्नि ही चित्रांगद तो जला, प्रचण्ड ज्वाल बन धूमें?
आत्म-रूप को भूल चुका था, अहंभाव बवँडर चड़ चूमें?
अहंकार-की तेज आँधी में; असंख्य बवँडर फैले - राजन्;
अहंकार घेरता दुर्बल,मन-वचन-कर्म-ज्ञान केन्द्र !

हस्तिनापुर-सिंहासन को ही निगला-अहंकार-चूर-दैत्य ने;
दैत्यों की सेना चढ़ दौड़ी स्वार्थ-लिप्सा के लेकर अस्त्र ।
घृणा, द्वेष, दम्भ, अज्ञान के शस्त्र चलाता स्वयं पर चित्रांगद,
अहंकार के अग्नि-रथ पर-चढ़ दौड़े सत्यवती-नन्दन ।

भस्म होना फिर निश्चित भीष्म कैसे वर्षा लाते?
कर्मों के पत्थर-तो नित्य टकरा-टकरा कर चिन्गारी;
मन में सत्कार नहीं था, अहंकार भरा था नस नस में?
वाणी सयंम था टूटा-द्वेष-घृणा-दंभ के वश में?

कच्चे घड़ों में ही सागर को पार न कोई कर पाता?
श्रद्धा, धैर्य, बुद्धि, मन त्यागे सागर में ही खो जाता?
चित्रागंद के दर्प-कूपों में डूब रहा था हस्तिनापुर?
भीष्म देव-वरण को छोड़ा फिर पहुँचा माता के पास?
श्रेष्ठ-पुरुषों के कथन का जो हुआ वहाँ निरादर;
उसी का उलटा कर्म फल ले कुरुकुल तो शोकाकुल ।

मैं के चक्रवातों से ही उड़ता कण - मानव धूलिं बन-
अपनी ही आँखों में पड़ते हैं दम्भ-तृषा के उड़ते कण?
कुरुकुल की आँखों में धूलि-कण-कर्म पड़े थे आकार?
घटाटोप-अन्धकार-निराशा-बढ़ती रहती थी रह-रह कर?

तेज-अन्धकार में लीन हुआ विधि वृक्षा की छाया में?
विचित्रवीर्य-सिंहासनपर बैठे-तत्पर मां आज्ञा पालन में !
कच्ची उमर के बालक राज्य-सिंहासन बिठा दिया था ।
देव-दासता फिर ओढ़ी थी; अधिकार भीष्म गवाँ दिया था ।।

सत्यवती की आज्ञा-पालन; नीरव-प्राणों में हुँकार;
मंदाकिनी के तट वृक्षों के उखड़ पड़े आधार?
मन शून्यता में भी धैर्य-वरण-करता है कब;
मधु-घट फूट ही जायें; वितृष्णाएं छलकें जब ।

गांगेय-गंगा तट आता-निश्छल आँसू टपकाता;
जगती के अन्धकार-स्वार्थ में लीन नहीं हो पाता।
प्रतिज्ञा से बँधी हुई सूर्य-रशियाँ कुंठित कब थीं;
अन्धेरे को चीर रही थीं, फैली कण कण में थीं ।

सत्यवती की स्वार्थों की आँधी में बार-बार उड़ा था;
रुदन नहीं भीष्म, विचित्रवीर्य का बन कर दास,
माता स्वअंश से मोह दिखलाया-हो शोकाकुल;
ममता-वश-अंधी-आँखों को-अवगुण नज़र न आया एक ।

रक्तमयी-अभिशप्त-हवायें; थीं उड़ती लिये बवंडर,
भीष्म-मन लताड़ रही थीं; उत्पीड़न से अति मन्थर !
खिली कमल पँखुड़ी सूर्य तेज से जलती ;
वैभव-रूप-सुन्दर-ज्वाला में तृण-तृण कर जलती !
राज्य-सिंहासन से बंधा-भीष्म-प्रताड़ित तो था;
अवहेलना की अग्नि में बँधे-स्वार्थों से जलता था !

सप्तम-पर्व

अम्बा अम्बिका अम्बालिका प्रसंग

भीष्म विवेक चिन्तन लीन;
जीवन ज्योति नहीं मद्धम;
'स्व' निद्रा दें 'पर' जागरण;
जीव-सुख पाता जब उद्धम ।

ज्ञान सूर्य उदित हुआ-रश्मियाँ फूटी;
व्यथा-वेदना कड़िया मन कीं टूटी !
नया आलोक बन्धन मन तोड़े ;
सत्य-मार्ग विचार-संकल्प न छोड़े !

त्याग-जीवन का आधार है;
यही सभी सुखों का सार है;
अन्तर्मन 'स्व' परीक्षा लेता;
वेग से मन-अश्व रोकता ।

समय-परीक्षा रह रह लेता;
नई-विपदाएं सामने लाता ।
विपत्तियों में मानव बनता है;
ज्ञान-शील-कर्म से अरे निखरता ।

परीक्षा से तो जीव है बनता;
आग में सुवर्ण है निखरता ।
सदाचार सत्य-पुरुष है गढ़ता;
संकट-काल देव-भीष्ण करता ।

ज्यों चकमक आग-तिल में तेल;
व्यक्ति मन के भीतर छिपा तेज;
जन्म मिला कष्ट तो आयेंगे;
आशा-निराशा, सुख दु:ख से तड़पेंगे?

विधाता पल-पल परीक्षा लेता;
नये-नये-प्रतिरोध समय देता;
जलधि लहरें मृत्यु से टकरातीं;
दिशा-सीमा-श्रम तट पर लाती ।

चंचल-चपला घनों सें फूटें;
बादल तड़ित बनें मन टूटे ।
मन आधार तृष्णाएं चमकें?
नुपूर पाँव बँधे तो खनके ।

नृत्य-ताल-संगीत मंजरी बजतीं,
शृंगार-नटी नयन लावण्य भरती;
सिंहरन-कम्पन्न अंग है भरती;
जीवन-मदिरा अंग-संग चलती ।

जीवन, त्याग पग घूँघर बाँधें;
मैरे मन नर्तन से क्यों भागे?
'परहित' का संगीत सुना काल ने ।
'स्व' हित की-ध्वनि लुप्त काल में ।

क्यों स्व पर विश्वास, घटा है?
'स्व-परीक्षा' में ज्ञान भरा है ।
मन-देव पर आत्म बन्धन डालो;
अन्तर्मन-बिच्छू डंकों को काटो ।

विष-कन्या मन तुम बन जाओ?
राग-प्रेम-नर्तन से न भरमाओ ।
मांसलता-मोहाँध हुए राजन हैं;
भीष्मता वरणे को व्याकुल कम हैं?

समय तू विष भरता है भौरे-मन में;
विषय-लिप्त होने को फिर है व्याकुल !
कोमल-सूक्ष्म तार फिर झंकृत है होते;
रूप-मोह राग-स्व को जब हैं ढोते ।

त्याग-अनुरागी-मन में जब भरता हैं;
पतझर में भी बसन्त खिल पड़ता है ।
पुष्प-खोल-हृदय-सूर्य तपन को सहते;
असंख्य भ्रमर तो उमड़ ही पड़ते ।

राग-विराग जगता मन में क्यों?
मोह-लोभ-की छाया बैठूँ क्यों?
तप कर कुन्दन बनता है मन;
कोमल ही तो पत्थर बनता तन ।

स्वामी बन जाना कठिन नहीं मन?
सेवक-बन कर जीवन है दुष्कर मन?
जीवन आशा में सैनिक बन जाता;
स्वामी हित-युद्ध-भूमि प्राण गँवाता ।

राज्य-सेवा को स्वेच्छा से स्वीकारा;
स्व-अधिकार, प्रतिज्ञा-बद्ध नकारा;
सेवक मन-विवेक पराधीन होता है !
स्वामी आदेश से जगता सोता है ।

विचित्रवीर्य-भाग्य ऐसा सेवक पाया,
बुद्धि-पराक्रम-त्याग वर जो आया !
ऐसा सेवक राजा के कल्याण का हेतु;
भीष्म कुरु-राज्य का शक्ति सेतु ।

इस पर रा हो सुख ढूँढ रहा था;
सेतु तो चुप-चाप सब देख रहा था;
राज्य-बोझ उठाया था उसने;
दुःख-सेना से टकराया मन से !

सेवक ही वह राज्य का नहीं रहा था;
उसने उत्तरदायित्व क्यों सभी वरा था?
सेवक ही होता राज्य छोड़ वह जाता;
जिस क्षण भी राज्य उसको ठुकराता ।

सेवा-कार्य तो मन बहुत कठिन है;
पर इसमें ही तो आनन्द भरा है ।
योगी जन भी तो इससे हैं घबराते;
मन का आनन्द छोड़ न पाते ।।

राजकीय-अनुचर-सेवा लघु ही करती;
सेवक की महत्ता क्षीण ही करती ।
भृत्य भाव मन मेरे क्यों स्वीकारा?
अनुज, आदेशों पर क्यों जीवन कारा?

सेव्य-भाव में गूँगा तो रहा न जाये?
अधिक बोलने पर वाचाल कहलाये?
क्षमाशील सेवक सदा दण्ड है पाता;
असहिष्णु होने पर फटकारा जाता ।

पर-सेवा में सेवक संताप न मानें;
'स्वजन' की भृत्यता; संतोष न माने;
भीष्म-प्रतीज्ञा मुझे मन कहाँ है लाई?
विवेक भाव-कर्म पर दासता छाई?

व्यक्ति-सेवा तो कष्ट-कलेश है लाती;
सेवक का निजत्व पहले खा जाती ।
बँधा पशु, स्वामी खूँटी-रस्सी बंधता !
पर हित से पूर्व है स्व को तजता ।''

व्रत तो सेवा का ही था भीष्म का;
वपु-लिप्सा-हित ही तो पहना था;
सत्यवती विमाता; नित्य आशाएं जागें ?
चक्रवर्ती-सम्राट शान्तनु न बड़ भागे ।

सत्यवती तो इच्छा का सागर थी,
मन में उठती हर पल नई लहर थी ।
इच्छाएं मीन तो बढ़ती ही जातीं;
राजरानी के हाथों से थीं फिसलाती ।

बनी-सुहागिन भीष्म को अन्धकार दिला कर ;
सुख सत्ता-इच्छा ले आई हस्तिनापुर ।
इच्छा से आकाश में मन पंछी उड़ता ;
प्रत्येक दिवस अन्तिम सन्ध्या में ढलता ।

इच्छा-गगन-मन अनंत फैला था;
सत्यवती-मन इच्छाओं से घिरा था;
कामनाएं छोड़ कुछ-नज़र न आता;
सत्ता-भोग-सुख उसे तो था तड़पाता ।

कामिनी, शान्तनु पर गिरी दामिनी;
कुरु-कुल अभिशप्त, आग जलाई;
मन-आनन्द को वह तो ग्रस आई थी;
इच्छा के साँपों से ही डस आई थी ।

सत्ता-भोग की इच्छा बढ़ती जाती,
विधि-घृत-आहुति है नित्य डालती ।
इच्छा अग्नि औ प्रज्वलित होती थी;
उपभोग करे तृप्त न होती थी;

भीष्म-बल अग्नि में समिधा ही था;
सत्यवती-इच्छा-यज्ञ में तो जलता नित था;
भीष्म-तेज-बल पर निर्भर ही करती थी;
इच्छा-पूर्ति का समाधान उससे करती थी ।

इच्छा तो व्यक्ति-आधारित रहती है;
मूर्ख को घन-सम्पति बन छलती है?
काम-सुख के पीछे ही रहे भागता;
सज्जन ज्ञान-असि से इसको है काटता ।

भोग-इच्छा को जीत कर शान्ति पाता;
मनोरथों की परिधि से है बाहर जाता
भीष्म मन कर बन्धन तो डाला था;
सत्यवती-इच्छाओं का ही रखवाला था !

भीष्म मन राज्य की नहीं कामना;
स्वर्ग-पाने को न करते थे अराधना;
बन्धन में ही जीते थे; मोक्ष-न चाहें,
सन्तप्त-धरा कष्टों से मुक्ति पर चाहें?

इच्छा रहित्त नहीं इच्छा सहित ही जीते'
राज्य-हित के हेतु विष प्याले थे पीते;
इस जग में इच्छा-प्रेरित सब कार्य हैं;
कुरू-वंश-सेवा-समर्पित सभी कार्य हैं ।

चाहना थी सब प्राणी सुख भोगें;
कामधेनु दुग्ध-शालिनी का सब पीवें;
धरा सभी धान्यों से हो परिपूर्ण;
कुरू-कुल-प्रजा में सुख हो सम्पूर्ण ।

प्रकृति-मेघ समय वर्षा बरसाये?
धरती हृदय श्यामला-से भर गायें?
हर्षित हो कर-धरा चुनरि को ओढें,
नृत्यांगना नृत्य नूपुर-मंजरी सुर छोड़े?

प्रजा-मनों में आनन्द-अनुभूति जागे;
प्रेम-पवन बहती, हर्षित-अनुरागे ।
स्व-धर्म अनुष्ठान भरा हो जीवन;
नीति-धर्म-आदर्शों का सब हो पालन ।

चारों ओर सदाचार - मेघ मंडरायें;
पक्षी-मधुर कलरव सब में भर जाये ।
जगती का परिवेश आनन्द भरा हो;
प्रेम - त्याग-करुणा-से हृदय हरा हो ।

लक्ष्मी-युक्त धर्मात्मा-राज्य संचालन हो;
निर्धन-क्षुद्रजीवों का भी सुख पालन हों ।
शत्रु विनाश को, बल भयकारी हो;
राज्य-सीमा पर भीष्म जब प्रहरी हो ।

स्वतन्त्रता से मनुष्य तो सुख पाता है;
इससे मानव परमतत्व तक आता है ।
व्यक्ति स्वातन्त्र्य से बढ़कर राज्य स्वातन्त्र्य;
शान्ति स्थापित रहती जब न हो परातन्त्र्य ।

पराधीन होना ही दु:खी होना है;
स्वाधीन रहना सदा सुखी रहना है ।
व्यक्ति साम्राज्य दोनों का हित है;
स्वातंत्र्य भाव विचार नैसर्गिक है ।

कुरु राज्य में व्यक्ति समाज स्वराज्य ;
राजा पर अंकुश लगा प्रजा मंडल से ।
प्रजागणों की सभा राज्य-आदेशित करती;
सभा-निर्णय पालन राजा को बंधित करती ।

राज्य-नियम स्थापन स्वेच्छा कब होता;
दुर्जन मानव जब दण्ड-बन्धित न होता ।
व्यक्ति-उच्शृंखल-स्वभाव से रहता है;
दण्ड-भय से सद्मार्ग पर चलता है ।

स्वाधीनता ही सद्-गुणों को उभारती;
पराधीनता दुर्गणों को है विस्तारती;
तभी समाज से हम रक्षा पा सकते;
जब उसके नियमों में हम बंध चलते।

नियमों का स्वीकार सदा तो मन से होता;
इनका-व्यक्ति-समाज पर, कब थोपन होता ।
थोपित-नियम शाश्वत नहीं हो पाते;
समाज आधारों को ही हैं खिसकाते ।

प्रभु ने सब को स्व-बन्धन में डाला;
दुर्जन-सज्जन को पालने में पाला है !
स्व स्वातन्त्र्य उस सीमा तक जाता,
पर-स्वातंत्र्य से यहाँ तक न टकराता ।

सत्य-सम्बल-अपना कर ही हम चलते हैं,
सेवा, भाग्य-कर्म से ही हम करते हैं?
'स्व' खोने पर ही कुछ मानव पाता;
सार्थक-स्वातन्त्र्य को फिर ही है पाता ।

हम स्वातंत्र्य प्रिय दासता कब स्वीकारें;
शक्ति, साहस, विवेक, बल, संयम, त्याग-
समर्पण, सेवा-सहयोग सम्पर्क इसकी सीमाएँ !
इनमें ही बँध कर समाज शक्ति बल पाता ।

पूर्ण-विश्व उसके आगे फिर शीश झुकाये ।
भीष्म कुरु राज्य में यह गुण थे लाये;
दुर्जन-दण्डित, पापी-पीड़ित, सज्जन हर्षाये;
राज्य-हित से स्व-हित बाँध कर आये ।;

स्वातन्त्र्य-साधना आत्म-बल भर जाती;
स्व-निर्माण है व्यक्ति को सिखलाती ।
मंगलमय - आनन्दायक जीवन बीते!
सर्वांगिण विकास-मार्ग व्यक्ति सीखे ।।

विचार-कर्म-संयमित हो जब चलते है;
उन्नति के अंकुर स्वयं फूट पड़ते हैं
स्वतन्त्र-भाव-विचार-कार्य प्रभु गुण है;
पूर्ण-मुक्ति के यही प्रथम सूत्र हैं ।

स्वतंत्र कभी आदर्श मर्यादा पालन में न हम है;
इनकी परतन्त्रता में तो सभी छिपे रत्न है ।
इनके पालन में हम सब स्वतंत्र बनें जब;
व्यक्ति समाज का रूप धरें क्यों न फिर?

भौतिक-सुख आत्मिक सुख तक पहुँच न पायें?
पर-सेवा आनन्द तक स्व-न कभी पहुंचाएं ।
स्वतन्त्रता के निम्न-आधारों से ऊपर उठ कर;
मानव-हित कर सकते मृत्यु-लोक में तो नर ।

भीष्म-विवेक चिन्तन से समझ पाता है,
सर्वस्व लौटाने पर भी घबराता है ।
राष्ट्र-कुल-समाज हित सबसे ऊपर है;
व्यक्ति-स्वार्थों से बहुत उठे ऊपर है ।

स्व-चिन्तन-विवेक गांगेय पाया था;
ज्वालामुखी फटने पर न घबराया था !
विचित्रवीर्य-सन्तान हीन कहीं न रह जाये?
राज्य को उत्तराधिकारी तो देकर ही जायें ।

सत्यवती इच्छाओं का अन्त नहीं था;
विचित्रवीर्य के पुत्रों की थी चाहना;
पुत्रवधू-को मन ललचाया था उसका;
पौत्र हों, सुख पाने की आशा दुरन्त है;

शान्तनु जैसे चक्रवर्ती-पति स्वर्ग सिधारे,
जिसने वर नर; देव भीष्म कर डाला;
चित्रांगद जैसे वीर पुत्र संस्कार देखा था?
परन्तु मन की आशाएं तो मर न पाईं !

सत्यवती के मन में यह आशा जागी थी;
विचित्रवीर्य के पुत्रो में सुख ढूँढरही थी;
प्रभु की लीला-धन्य समझ जन न पाते;
लिप्सा-इच्छा के सागर में हम गहराते ।

सत्यवती ने विचित्रवीर्य के विवाह के हेतु;
भीष्म को आग्रह पूर्वक-आदेश दिया फिर;
"शीघ्रातिशीघ्र करो भीष्म तुम व्यवस्था;
योग्य-कन्याओं को ढूँढ कर तुम लाओ ।"

भीष्म माता आज्ञा वेद वचन सम-प्यारी;
आलिंगत की; नहीं उलंघनीय व्रतधारी,
पिता हित जिसने साम्राज्य त्यागा था;
आजीवन ब्रह्मचार्य का व्रत लिया था !

स्वयं-नारी-सुख से वंचित होकर,
मन-मांसलता, रूप की हत्या थीं;
कठोर-शिखर अडिग-व्रत पालन था;
स्व-सुख की चिन्ता छोड़ चुका था !

भाई के विवाह को लेकर थे चिन्तित;
ढूँढ रहे थे सूर्य-किरण सम छोर-2 को !
राज्यलक्ष्मी के योग्य मिले कोई सुकन्या;
काशीराज तक स्वयं-हस्तिनापुर थे पहुँचे ।

काशी राज की सुता अप्सराएं थीं?
सौन्दय 'अनुपम-कामिनी-स्वामिनी थीं;
लावण्यमयी आभा से महिमा-मण्डित;
तीन कन्याओं का रचा था स्वयंवर''

ज्ञात हुआ जब, एकाकी रथ पर पहुँचे,
भरी-सभा में असंख्य नरपति एकत्र थे;
इन्हें देख व्यंग्य बाण सब ओर से छूटे;
झड़े पुष्प की भाँति क्या व्रत से टूटे ?

उत्साह से भरे नरपति स्वयंवर आये थे;
इन्हें देखकर तेजहीन सब लज्जाये थे;
सभा में प्रत्येक का गुण-वन्दन प्रशंसा;
तेज-साहस-पराक्रम की हो रही व्याख्या ।

राज वंशों की गणना-गुण करते थे;
स्व प्रशंसा सुन नरपति पुलकित थे;
भीष्म का आगमन था उनको चकराता;
प्रंकम्पित-भय-शंकित समझ न कुछ आता ।

"युवा-काल को पार कर चुके थे भीष्म;
प्रणय-भाव पर लगा चुके थे बन्धन;
इस अवस्था में क्यों हुए विचलित हैं?
स्वयंवर में आने क्यों हुए उत्सुक हैं?

सूर्य-उदय हो तो तारागण-म्लान है ।
नक्षत्र-सभी उसके प्रकाश में लीन है !
अस्तित्व-लुप्त हो जाता तेज के आगे !
'भीष्म' की आभा-तेज से सारे मद्धम हैं !

व्यंग्म-बाण समाज मन पर छोड़ रहा था;
सम्मुख-कुछ कह पाने क़ा तो साहस नहीं था;
"इसने जोश-में आकर भीष्म की प्रतिज्ञा;
जोश-मंद पड़ा विवाह की उठी कामना ।''

"वैराग्य तो आत्म त्याग और आत्म विजय हैं,
अनुरक्त हुए मन चंचल सें पराजित हैं ।
आशा-पाश को काट नहीं यह जड़ से पाये?
प्रौढ़-अवस्था, प्रेम - ज्वाल से हैं जल आये''

लक्ष्मी-सत्ता के हिंडोले पर है चढ़ आये;
विषयासक्ति से डरे हुए 'स्वयंवर' में आये ।
सच्चा वैरागी, सभी भयों से मुक्त होता है?
भोग, रोग, सौन्दर्य, ज़रा-तन न ढोता है ।

शारीरिक वैराग्य ही तो छोड़ा लगता है;
मानसिक-बौद्धिक वैराग्य नहीं पनपा है;
वही इन्हें खींच यहाँ लाये है लगते;
भ्रमर पुष्प सुगन्धि कभी छोड़ हैं पाते?''

"भीष्म के अन्तर-मन की ज्वाला अब भीष्म;
सौन्दर्य देह-भोग, रूपासक्ति से पीड़ित-मन ।
प्रतिज्ञा-भंग कर यहाँ आयें अब लगते हैं;
अन्यथा स्वयंवर में वैरागी पहुँचें कब हैं?''

प्रत्येक-आँख अपनी दृष्टि तक देख है पाती?
विवेक-भाव सीमा के आगे कुछ देख न पाती;
वह वाणी जो पर-आश्रित रहने की आदि;
अपने अवगुण को दूसरों पर आजमाती !

सावन के अन्धे को सब-हरा दीखता;
हरे चश्में ओढ़ें-श्वेत भी हरा निकलता ।
भीष्म कार्य के रहस्य को कठिन जानना,
सूर्य में भी है कलंक, कौन मानता?

राजन् यह कौतुक तो समझ न पाये:
क्यों भीष्म स्वयंवर में हैं आये?
विमाता के आदेश को पालने हेतु
स्व-अवहेलना-उपेक्षा कंलक क्यो सहते?

"सूर्य चन्द्र स्व नियमित गति को छोड़े
दिन-रात अपनी अवस्थाओं को मोड़ें?
सागर भले ही बंध तोड़ सकता है?
भीष्म प्रतिज्ञा कभी न छोड़ सकता है?

भले हिमालय-छोड़ शिखर धरा पे आये?
गंगा का प्रवाह भले उलट ही ज़ाये?
नदी के दोनों तट स्व बन्धन तोड़े?
भीष्म अपने वचन-कौल को न मोड़ें?''

भीष्म राजाओं के मन-वचन को जाने;
मन-ही मन हर्षित-आनन्दित पहचाने;
बढ़े आगे कन्याओं को रथ पर बिठलाया;
शक्ति-सम्पन्न भू-पतियों का सर चकराया !

बलशाली गर्वित-राजा जो हँस रहे थे;
भयभीत-हुए-लजिज्त कुछ काँप रहे थे;
तड़ित गिरी वृक्षों पर-सब झुलस गये थे;
इच्छा पत्ते शाखाओं से उतर रहे थे ।

भीष्म निर्भय-गम्भीर होकर बोले,
काशी नरेश और समस्त नृपों से;
"सुनो शास्त्रों में अनेक विधि विवाह हैं;
शक्ति रथ पे बिठलाने की भी राह है ।

ब्रह्म, आर्ष, दैव आदि विवाह उत्तम हैं;
वीर-ही वीर जहाँ इकट्ठे हुए हैं लगते?
सत्पात्र ही तो यहाँ सभी हैं आये,
मैंने कन्याओं को रथ पर बिठलाया-

जिसे अपने बल-शौर्य पर गर्व है;
जिसे अभिमान है, जो महाबलि है;
जो सत्य में इन कन्याओं को चाहता;
वह आकर मुझ से टकरा सकता है?

चाहे जय हो या हो पराजय-भारी;
अपनी शक्ति को अजमा कर देखो;
यदि वीरता-साहस-पराक्रम हो तुझमें;
शक्ति-वर सामने तो आ कर देखो?"

महीपालों ने क्रोधित हो भुजाएं लहराईं;
अग्नि की अनेक ज्वालाएं जल आईं;
एक-साथ हुँकार-उठाकर घघक उठे थे;
काशीराज-बुझते अंगारों को देख रहे थे ।

क्रोधित-कम्पित-हिस्रं हुए चढ़ दौड़े थे ।
सभी आभूषण-कवच वहीं पर टूट गिरे थे;
कोलाहल-जलते अरमानों का फैला था?
उलकाओं के टकरा कर टूटने का था ।

उनके गिरते अभूषण-कवच खनकते;
भीष्म तेज-ज्वाला से और चमकते;
सभी सितारे-आकाश से टूट रहे थे,
धूलि में मिल धूल ही चाट रहे थे ।

बहुत-से यौद्धा उठे थे दाँत ठोंकते;
दाँतो तले ओठ दबा कर उठते;
युद्ध के लिये भीष्म को ललकारा;
भीष्म-रथ से उतर ऐसे सिंह हुँकारा ।

शास्त्रास्त्र [illegible] बहुत सम्भाल न पाये;
शीघ्रता से गिर पड़े, लज्जा के मारे;
सूर्य-तेज बिखेर रहा था भयकारी;
ध्वस्त हो रही थीं फूलों की क्यारी !!

तितलियों के तेज किरणों से पंख झड़े थे;
प्रचण्ड-दृष्टि के पड़ते ही रंग उतरे थे !
क्रोधाग्नि - ज्वालामुखी ध्वस्त मुकुट थे;
बड़वानल से उठे पर हुए शान्त थे!

दावानल सी भभक उठी हृदय से;
राजन-वृक्ष उसी में लीन हुए थे;
सभी दिशाओं में प्रचण्ड ज्वार आया था;
भीष्म-धनुष-टंकार से जग थर्राया था ।

अश्व-हस्ती एवं रथों पर चढ़े हुए;
मिल भीष्म को लगे घेरने डरे हुए;
चारों ओर रक्तावरण दिशा में फैला;
भौंहें तो चढ़ा रहा था काल विषैला ।

अलंकारों के इधर-उधर बिखरते क्रोधित;
अमर्ष वश भौहें चढ़ा रहे थीं आँखें रक्तिम;
मची खलबली महि-पाल असयंमित;
अस्त्र-शस्त्र उठा हैं भागे सब भयभीत ।

धनुष बाण-खड्ग तो टूट रहे थे,
आँखों के अंगारें तो बरस पड़े थे;
महाबली-हिमशिखर-पर कैसे टूटे;
मिल कर सभी अंगारे बरसाते झूठे।

एकाकी महाकाल अष्टवसुओं शक्ति लेकर;
ज्वालामुखी लावा ही फूट पड़ा था उन पर;
अग्नि-लहरों को क्रोध-सागर छोड़ता चंचल;
शेषनाग-फूँकार रहा हो अति भयंकर !

टकरा कर पत्थर भी तन से लौट आते थें;
शूरवीरता की कलई खोलते उनकी जाते थे;
कमान की डोरी-ही ढीली हो आई थी !
श्रृंगालों के कलेजे धक-धक करते थे;
भीष्म के मग में तो काँटे न भरते थे ।

एक साथ दश सहस्र बाण छोड़ते मिलकर !
काट दिये थे भीष्म ने सारे ही पथ पर;
एक बाण भी भीष्म को तो छू न पाता;
बीच-मार्ग में ध्वस्त लौट या तो जाता ।

राजागण चारों ओर घेरा डाल रहे थे;
भीष्म-शिखर पर बादल बन टूट पड़े थे;
बाणों की वर्षा की, प्रचण्डता थी मुख पर;
शोक-ग्रस्त विधाता रोता था उन पर ।।

कुआँ तो खुद की ही खातिर खोद रहे थे;
भीष्म को न समझ उलटी साँस चढ़े थे;
एक ईंट के लिये लगे थे महल गिराने;
शक्ति शाली की ही जय होती न जाने ।

भीष्म बाणों की वर्षा, को गगन रोका था;
बाण-जाल से भीष्म ने सब बाँध लिया था;
तीन-तीन बाणों से सब हुए बंधित-खंडित;
घायल-पीड़ित-युद्ध-भूमि से भाग उठे थे ।

किया भयंकर युद्ध सभी-ने पर थे हारे;
भीष्म के समक्ष आते बुझते थे अंगारे;
ठहर सका कब कोई सूर्य-तेज के आगे;
एक-एक कर सभी सितारे हुए मद्धम थे !

रथों पर भाग रहे सत्त शत्रु-पक्षी राजा,
अलौकिक-शक्ति से आश्चर्य चकित थे;
शौर्य, पराक्रम, गतिशीलता देख हुए शंकित;
आत्म-रक्षा के कौशल सभी माने थे ।

हर्षित - हुंकार भारी भीष्म भयकारी;
पदतल में काशीराज की शक्ति थी सारी;
सभी भूपति - तो हुए धराशायी थे;
भीष्म प्रचंड धूमकेतू से टूट पड़े थे ।

सब के पीछे ललकारता शाल्व आया;
कुछ समय तक तेज चाँद ने दिखलाया ।
पर चन्द्र में दाग-उसे कलंकित रखता ।
सूर्य-समक्ष सदैव तेज-हीन है करता ।

घायल सिंह जैसे क्रोधित हो हुंकारे-ललकारे;
अमेयात्मा मदारथी शाल्व गांगेय पे चढ़ दौड़ा;
महाबली-पुरुष व्याध्र-हुंकार कर था झपटा;
मोड़ लिया रथ-उसी ओर तड़ित सा कड़का ।

शाल्व-गर्वित-अहंकार-सत्ता, का मद था;
चूर-चूर दम्भ; टूट रहा तो पल-पल था ।
प्रज्वलित-शिखर से व्यर्थ में ही टकराया;
शौर्य-तेज-पक्षी पंख जला कर ही आया ।

डाल दिया पिंजरें में व्याकुल-चीत्कारें;
पकड़ - पंखों से भीष्म ने छोड़ दिया था;
किट-किट करती चोंच पंख कुछ टूटे लेकर,
शाल्व - पक्षी तो वन को ही उड़ पाया था;

गरुड़-भीष्म सर्प-शाल्व को पकड़ लिया था;
पूर्ण-नाश करने को ही रथ मोड लिया था,
वारुणास्त्रको धनुषपर जोड़ कर शाल्व राज-
के रथ के चारों अश्वों को नष्ट किया था ।

कुछ क्षण में सारथी भी टूट गया था;
शाल्व के अस्त्र गर्व को चूर चूर किया था;
नृप श्रेष्ठ शाल्व को जीत कर छोड़ दिया था;
गरुड़-ने सर्प राज को ही छोड़ दिया था?

प्राण-दान पा कर लज्जित-अपमानित था;
ग्लानि-व्यथा-पीड़ा से पंख फैला रहा था;
स्व-देश को छोड़ दिया-मिला अभयदान था !
शाल्व उड़ तो चला-हृदय-पर म्लान था ।

'देवव्रत ने पूर्व जीवन-दान दिया था,
शान्तनु तो मृत्यु दण्ड सुना दिया था,
मित्रता से ही जीवन-सुख-शान्ति पाता;
शाल्व-कुमार को युद्ध बन्दी बना लिया था ।''

शाल्व अपने देश-चले राज्य संभाला,
धर्म-पूर्वक राज्य फिर संचालन था,
कुरु राज्य की शक्ति की थी धाक बिठा थी,
सभी दिशाओं में तेज-पवन बही थी !

सभी राजगण् पराजित स्व देश को लौटे;
भीष्म तीनों कन्याओं को रथ पर बिठा कर;
बनों-नदियों पर्वतों का पार कर पवन सरीखे;
अश्वों को दौड़ाते घने-जंगलों बीहड़ों से होते ।

मैदानों-को लाँघते जय पताका फहराते ।
कुरु-साम्राज्य को चले और फैलाते !
तीनों-सुन्दर-मनस्वी-कामिनियाँ समेट कर;
विजयोत्सव-के साथ हस्तिनापुर पहुँचे ।

अम्बिका और अम्बालिका का विवाह रचाया;
विचित्रवीर्य वरा, सत्यवती, पुत्रवधुओं को पाया;
अम्बा - अम्बिका अम्बालिका को हर लाये;
बहिन, बेटी, पुत्रवधु ही था मन ने माना ।

पर नारी को-उपभोग की वस्तु ही जाना;
विचित्रवीर्य को कन्याएं सौंप दी दोनों;
नारी मन की पीड़ा-को उसने न जाना;
हरा-ऐसे जैसे कोई सम्पति मात्र हो तीनों ।

कर्त्तव्य-पालन तो था, पर अनाचार था ।
बैठीं थी सजधज कर स्वयं वर चुनने?
नारी को अधिकार दिया था जो समाज ने;
छीन लिया था-भीष्म ने अन्याय किया था!

बलि-पशु की तरह ही भीष्म हाँक लाये थे;
बहु, बेटी, बहिन शूली पर ही टांग आये थे ।
स्वत्व नारी का मिट्टी में मिला दिया था;
नारी स्वाभिमान-का यह अपमान किया था ।

आज्ञा - पालन तो पर अंध - पालन था;
पशुबल का प्रदर्शन ही खुले आम था ।
सत्यवती - के ही कारण भीष्म पत्थराया;
कुस्वामी की सेवा का यह फल पाया था?

दास-दास ही होता स्वामी हो न सकता?
सत्य-धर्म-नीति-मार्ग - सब बृंधित होता;
अश्व दौड़ता सारथी दौड़ता है जैसे;
कंकर-पत्थर-खाई-खदंक पथ हो जाता ।

भीष्म-अश्व बन दौड़े-सत्यवती - दौड़ाती,
विमाता - हृदय - कूप, भीष्म कहीं नहीं था;
स्व-सुत मोह-हित-अधिकार-सुख पाने पागल थी,
गाय बछड़े के लिए ही दुग्ध धार उतारती ।

कूर्म-जल के थे भीष्म तो सत्यवती के;
इच्छाएँ बलवती धीमें धीमें रेंगती ।
स्वार्थ-सागर में उतरा देती थीं;
गति-शील होता था कूर्म जल में ।।

कंटक-पथ पर ही चलता मन;
तृष्णा-मीन की कँटिया ही बन !
कँटीले तारों ने घेरा था;
देव के भावों का कोमल पन ।

सत्यवती-तृष्णा की ज्वाला जलती;
तृण - सूखा भीष्म था जलता;
कर्म पवन-प्रज्वलित - करती;
गांगेय-नित्य आदेश था मिलता ।

स्वत्व - नष्ट -, विवेक - प्रताड़ित;
रथ-को अश्व बन हाँक रहा था;
प्रतिज्ञा की जंजीरों में जकड़ा;
पल-पल तो आदेश पाल रहा था !!

औंधा घट मन - अभिलाषा का;
धरती न खाली होने थी देती;
मीन-तड़पती थीं अध - घट में;
अँकुसी स्वयं लिपटा थी लेती ।

विमाता-तृष्णा के मटकों को;
भीष्म विवश उठा रहे थे;
भरण-पोषण शासन देता था;
अँध-कर्त्तव्य निभा रहे थे !

अष्टम-पर्व

अम्बा प्रसंग

1

अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका;
हरण भीष्म तो कर लाये;
काशीराज की सुताओं को;
बल-शाली हैं हाँक लाये ।

बलि-पशु ही समझ लिया,
नारी नहीं-वस्तु भीष्म को ।
मन-इच्छा-अधिकार नहीं था;
भीष्म को ध्यान न आया ।

सत्यवती की आज्ञा पालन;
नारी का-नारीत्व ठुकरा कर ।
पशु हाँक लाया हो भीष्म;
पुरुष-समाज अन्याय हुआ था ।

अम्बा के हृदय-की-ज्वाला;
अनुरागवती-लता सरीखी ।
शाल्व-वृक्ष से मन-लिपटी;
अंकुरित-पुष्पित भाव लहरें ।

हृदय - सागर मे उद्वेलित-
प्रेम-बन्धन मांसल तन के ।
भावों ने वरा शाल्व को;
स्वयंवर के उपवन में तो ।

साहस समेट भीष्म से बोली;
मन की व्यथा - थी फूटी ।
"महात्म्न ! आप बड़े धर्मज्ञ;
जान सकोगे हृदय का मर्म ।

हृदय-की बात हूँ कहती;
संकोच-शाख पर मैं बैठी !
मैं चिड़िया बन हूँ चहकी ।
शिकार हो तुम कर लाये ।

मन से ही वर का बन्धन;
मन से ही है तो स्वीकार;
प्यार-का केन्द्र मन ही है;
मन में है शाल्व अब बैठे ।

असत्य न मैं कह सकती;
नारी मर्यादा का ही ।
पालन करती हूँ भीष्म;
बरना तो मन से है होता ।
शरीर-वरन तो क्या है?

अशुद्ध-मना हूँ मैं नारी;
शाल्व-हृदय शाख पर बैठा;
सत्यमार्ग यही नारी का;
मन-वचन-कर्म से वरना ।

देह का यथार्थ अवलोकन,
भीष्म-मैं न हूँ कर पाई ।
वेदना का यथार्थ अवलोकन,
मन-आँखों से ही तो होता?

चित का यथार्थ-निरीक्षण,
भाव-जगत् का सत्य परीक्षण,
कर लेने के बाद कहा है;
मनो-वृत्तियों में है शाल्व ।

उसको बरना ही रीति है;
जागृति-की यही साधक न;
स्व-परीक्षा इनसें होती है;
मैंने करने के उपरान्त ही-

साहस क़िया यूँ कहने का?
उत्थान-पतन नारी का;
भावगत-तनगत भी होता;
महाबली मैंने स्वयं रोका ।

शरीर के प्रति जागरुक रहना,
वेदनाओं को चुप भी सहना,
चित के प्रति यथार्थ ज्ञान,
नारी-कर्त्तव्य इन्हीं से पूर्ण !

धर्म प्रति सचेत तो मैं हूँ ।
मन-शाल्व, शरीर है रथ पर ।
चित दौड़ रहा है मेरा;
स्मरण-भावना डाला घेरा !

हृदय की बात हूँ कहती;
संकोच छोड़ना ही अच्छा ।
अन्धकार न बन जाये जीवन;
प्रकाश-किरण की ये रेखा ।

जब देश-देश के राजन्;
स्वयंवर में थे आन बिराजे ।
तब मैंने मन ही मन में;
सौभपति माहराज शाल्व को;

अपना पति मान लिया था ।
धर्मता अब वही स्वामी है;
वर-माला उनको पहनाती;
पिता की आज्ञा मैंने पाई;
वर तो स्वीकार लिया था;
मन से वरा हुआ ही तो;
सच्चा वर ही हो सकता ।

करो व्यवस्था अब तुम ऐसी;
शाल्व तक मुझको पहुँचाओं,
नारी के स्वयंवर धर्म की;
भीष्म् श्रेष्ठ रक्षा कर पाओ !''

अम्बा की बात को सुनकर;
भीष्म तो चिन्ता में डबे ।
यह अनर्थ हुआ है कैसा?
अब करुँ निवारण इसका !
समाधान कैसे अब ढूँढू ।''

वेदज्ञ - ब्राह्मणों को बुलाकर;
परामर्श - धर्म वेत्ताओं का,
धर्म-शास्त्र भी यही है कहता ।
अम्बा का वर है अब शाल्व ।

"उसको ही जब वरा है मनसे;
इसे तुम शाल्व तक पहुँचाओ ।
इच्छावती-नारी को बल से;
हर-लाना तो पाप घना है !
नर-नारी सम्बन्ध हैं मन के?
तन तो उसकी ! प्रतिछाया है ।''

भीष्म फिर अम्बा से बोले,
'चाहो-तो शाल्व तक तुम को;
पहुँचा सकते हैं हम अबला;
निर्णय कर लो तुम अन्तिम;
दुविधा में तुम मत रहना ।''

नारी विह्वल जब होती है;
दुविधा में नहीं पड़ती हैं ।
निर्णय अटल है उसका;
शाल्व की ओर चली वह ।

संग-सार्थी सैनिक देकर;
विदा-किया भीष्म ने धन दे;
सबला थी अम्बा-तन मन से;
संकल्प तो करने चली पूरा ।

पाँचो बल साथ थे चलते;
श्रद्धा बल से थी परिपूर्ण;
शाल्व के प्रति-श्रद्धायुक्त;
स्मृति बल तो था अंग-संग।

स्मरण उसे मन-वरना;
प्रज्ञाबल से भी परिपूर्ण ।
नारी धर्म निभाया उसने;
चरित्र-बल भरा पूरा तो ।
भीष्म-बल भी पराजित था,
दृढ़ता-सत्यता के आगे;
झुके सत्य के आगे भीष्म ।

सत्य साहस की प्रतिमा;
वन-फूल सी शोभा पाई ।
भीष्म्-सम्मुख फिर प्रफुलित;
'असत्यवादी नरकगामी है;
और वे भी नरक में जाते ।
जो करके नहीं हैं करते !

मिथ्या-भाषी तो मैं न हूँ;
सत्य भाषण से न हूँ लज्जित ।
सत्य कहना पाप कभी न;
चित-वाणी-विवेक हैं सम्बल !

हृदय में अंकित-है शाल्व;
कुरु कुवंर को वरुँ मैं कैसे!
नारी मनसा न मिथ्या मार्ग;
लोभ प्रेरित ही आगे बढ़ूँ मैं !

भीष्मः- "असत्य - मार्ग पर चलकर
चित ही दूषित हो जाता ।
स्वर्ग छूट जाता है अम्बे;
नरक पल-पल रहे जलाता ।''

अम्बाः- असत्य का अब नहीं सहारा;
मन-छल लेकर नहीं हूँ आई ।
धर्म सत्य मन की राह पर;
भीष्म-मन से हूँ बढ़ पाई ।

सत्यवाणी ही है अमृतवाणी;
सत्यवाणी तो रहे सनातन ।
सत्य-सदार्थ, सुधर्म पर;
नारी चलने को हूँ बंधित ।

हम सत्य पकड़ कर ही तो;
भव सागर हैं पार उतरते ।
पर मानव लज्जा-भयवश;
असत्य-भँवर में हैं फंसते ।

सत्य से मुंह न फेरा मैंने,
निःसंकोच उसे है कह डाला ।
धूर्त्तता को क्षमा तुम करना;
मन का है यह खेल निराला ।

शरीर कहाँ पर होता है?
भाव पकड़ पर न पाता है ।
संचालित हैं यह मन से;
विवेक-तर्क पीछे रह जाता?

प्रेम - उपजे हृदय-क्यारी में;
कितने हैं पुष्प तो खिलते ।
काँटे भी तो लाता है यह;
फूलों का सम्बल पर बनते ।''

भीष्म कठोर; अब कोमल थे;
अम्बा को धीरज देते ।
आदेश दिया सैनिकों को;
"शाल्व राज के पास छोड़ आओ ।
मनोरथ - इस रूपवती का;
तुम पूर्ण कर, आ बतलाओ ।''

अम्बा के साथ-कुछ सखियाँ;
कुछ वृद्ध - ब्राह्मण भी भेजे ।
अम्बिका और अम्बालिका को;
सत्यवती - सहर्षित-स्वीकारा ।

कुल-लतिकाओं को उसने;
विचित्रवीर्य-से विवाह-बन्धन में ।
हुल्सित-प्रमोदित बाँध दिया फिर ।
सुख-गाईस्थ्य-राज कुल लौटा ।
शोका-कुल-वातावरण - परिवर्तित;
उपवन सानन्दित-हर्ष फिर फूटा ।

2

मन की लहरों में तिरते स्वप्न संजोये;
विलास-वेग-अम्लान-कुसम के रंग पिरोये ।
सुरभित-इच्छा-रत्नों के हार चमकीले,
मधुमय-मिलन-श्रृंगार-हार पहने रंगीले ।

मृदु - सुकोमल रजनी गंधा पुष्पित,
तारा गण चमक रहे पलकें रोमंचित ।
चली जा रही चन्द्र-किरण मतवाली;
शीतल-सुगन्धयुक्त, पराग पगी मतवाली ।

लहरों सी अंगड़ाई-बढ़ती तट ओर;
भाव-सागर से उमड़ी शाल्व तट शोर ।
दीप-शिखा सी जली जा रही; भ्रमर-उमंग;
उन्मादिनी-मतवाली-इच्छाएं-बनी पतंग ।

कण-कण में सुन्दर-नर्त्तन अट्टहास करे;
नूपुर-छनकते पग-नर्त्तन में मचल रहे ।
ध्वनि-सुकोमल-मधुर-गीत मन्थर थी चाल;
लालिमा भर जाती मुखअंबुज-सुर-आभ ।।

हिम-श्वेत साड़ी-पवनों की लहरों संग;
अठल रही चन्द्र किरणों के अंग संग ।
थाल अलक में भरे नूतन सर्पीले-बाल;
मचल रहे-चंचल-नेत्र मीन विशाल ।

हिरण - चौकड़ी भरता जैसा कदम उठा;
चली जा रही अम्बा मन ही मन भ्रमा ।
मिलनातुरता बढ़ती मदिरा सी मतवाली;
पल-पल भरती जाती आँखों की प्याली ।

शाल्व - पत्नी बनने चली जाती उन्मन
मिलकर पुरुष श्रेष्ठ को करने पूर्ण !
उत्तम-पति को पाकर हो रही थी धन्य;
'चिंतामुक्त-काशीराज तनया थी धन्य ।

रूप-अनुराग-कुल और अवस्था के अनुकूल;
अम्बा-वरा था-सम्पन्न-राज्य-राजा शाल्व !
भाग्यवती नारी को ही मिलता है वर श्रेष्ठ;
समता-गुण-धर्म-वय-रूप मिलाते हैं लेख ।

परस्पर-आसक्ति-धनी दोनों में भी,
शाल्व युद्ध-करने की ठानी तो थी ।
भीष्म-बल समक्ष खड़ा रह न सका;
अश्व, हस्ती प्रहार सह न सका;

शाल्व पास पहुँच पुकार उठी अम्बा;
"परुषश्रेष्ठ मैंने पतिरूप में वरा तुमें;
स्वीकृत किया था भरी सभा में मुझे तूने;
ग्रहण करो-मन से वर तुम्हें आई;
संकट-की घड़ी से हूँ निकल आई ।"

शाल्व :
सुन्दरी ! वरा था जब तुम सुकुमारी;
पर-पुरुष छाया से दूर विमल नारी ।
पर-गृह में रह अब तो तुम आईं;
पर-नर की ले कर आई परछाईं ।

पर-स्पर्श से म्लान हुआ तेरा स्वरूप;
स्वीकार नहीं कर सकता मैं पत्नी-रूप ।
भीष्म-कर पकड़ बिठाआ था रथ पर;
जीत लिया उसने तो पराक्रम के बल ।

तुमने किया नहीं था तनिक प्रतिरोध ;
युद्ध-रत जब मैं भीष्म रहा था रोक?
मचा रहा था हल चल जब मैं कोलाहल;
चढ़ी थी रथ पर-भयभीत या हो व्याकुल !

भरी सभा में तुम्हें आ कहना था उचित;
मन-वर लिया था मुझे फिर क्यों संकुचित?
पर-घर पर-नर संग रही कुछ दिन तुम;
नर-समाज स्वीकार करेगा न अब सुन ।

धर्म-परायण-मैं इसे न स्वीकार करूँ;
अम्बा इसी-कारण अब न तुम्हें वरूँ ।
पत्नी-रूप में कभी नहीं मैं रख सकता;
धर्म-हीन यह कार्य नहीं मैं कर सकता?

तुम्हारी जहाँ इच्छा हो तुम जा सकती;
प्रसन्नता से जिसे चाहो पति बना सकती !
मैं समाज के नियम नहीं उलटा सकता ।
पर-नर-संसर्ग नारी नहीं अपना सकता ।"

अम्बा:-
धर्म-पुरुष हित ही तो नहीं होता राजन्;
नारी-हित को सदा देता आया ताड़न !
मैं तो कुरुलक्ष्मी का पद ठुकरा आई;
मन में तुम्हें पति-रूप देव बिठा पाई ।

"पुरुष-समाज में नारी-समाज को दो सम्मान !
प्रेमातुरता श्रद्धा-कोमलता का न करो अपमान ।
नारी-बल तो मन-कर्म-वचन-समर्पण में है ;
नर-हित-सुखदायिनी-सदा अर्पण में है ।

धर्म-पालन में ही सदा सुख है राजन;
धर्म-अवज्ञा अन्याय सदा दुख का कारण ।
नारी को अधिकार 'स्वयंवर' में है मिला ।
'वर'- को वरने का अधिकार कैसे हिला?

मन के बन्धन न कच्चे धागे;
तोड़ पाना इन्हें नहीं है आसान ।
बाँध तुमसे लिया है-भाग्य-अपना;
छोड़ शाल्व तुम्हें मैं जाऊँ कहाँ?

मन बन्धन में बाँध कर जाता;
प्रेमी-हृदय है-सागर की लहरों में ।
दीप-शिखा ही बन यह जलता है;
जीवन-नौका तट पर लाता है ।

"छोड़ कर आई हूँ मैं सारे रिश्ते;
सारे बन्धन ही तोड़ कर आई हूँ ।
नारी-लज्जा ने ओढ़े हैं आभूषण,
उनको भी उतार कर मैं आई हूँ ।

कामना ने ही वरा तुम्हें-स्वामी;
कैसे ठुकरा सकूँ-मैं अनुगामीं?
भावना तुम्हें ही तो स्वीकारा;
मन-बन्धन उलट,कहां कारा?"

शाल्वः- "वासना में ही तुम हो बह आई;
मेरी दृष्टि में तुम हो क्यों भरमाई?
कुरु कुल ने तुम्हें ठुकराया क्यों है?
भीष्म-सबके समक्ष हर लाया क्यों है?

राजा, नर साधारण तो बन न पाता;
दुष्कीर्ति को कौन है अपनाता?
प्रजा को होता सदा है उत्तरदायी?
कुसमय में ही क्यों हो चली आई?

पुष्प-रज से तो होता है सुन्दर;
भ्रमर-रज को ही पाना चाहता ।
एक बार टूट जब शाख से जाता;
भ्रमर पुष्प पर कब है मंडराता ।"

पुष्प-धूलि बिखर सब जाती;
पंखुड़ियाँ-रंग सब हैं मुझति ।
शाख से टूटे सुमन न खिलते;
क्षण बीते कभी लौट न मिलते ।

मन की चंचल गति ज़हरीली;
दंश अचूक चुबाते है चलती ।
उतर ज़हर फिर नहीं है पाता;
जीवन अन्तिम क्षण में ले आता?

तेज आँधी हम तिनकों से उड़ते;
रूप उनका कहां नज़र है आता?
सूर्य की किरण जो कभी गुज़रती;
ज़रा-ज़रा-दिखाई सब पड़ जाता ।

मन संकल्प ही-तो आँधी हैं;
सब कुछ साथ उड़ा हैं लाते ।
व्यक्ति अस्तित्व ही है छिप जाता;
मन अँधड़ जो कभी गहराते ।

अम्बा:- मन मेरे तुमने ही लताड़ा;
मूल से ही हैं मुझे उखाड़ा ।
वाणी जो मैं कभी तुम्हें न देती;
आज यह दुर्गति मेरी क्यों होती?

मन की मन में रहे तो अच्छा;
मुखरित करें उसे तो-हम टूटें !
यह संकल्प विकल्प नित्य बुनता;
कोख से इसकी तो काँटें भी फूटें !!

मन - घट वेदना-पीड़ा भर लाता;
दुःख सागर ही है यह बन जाता ।
परवश रहने में-मुक्ति पाता है;
डूब के गहरा; उतना तर जाता ।''

मन की उन्नति नाश ले आती;
आत्मा कुण्ठित क्यों कर जाती?
वासना की परतें जम जाती ।
स्वानुभूति क्यों अवरुद्ध-हो आती?

मन का नाश हम न कर पाते;
दुर्भाग्य को ही हम हैं जगा आते ।
विषयासक्त-मन बन्धन दे जाता;
मुक्ति से दूर आत्मा ही कर जाता ।

मन बाहर और न कभी भीतर;
ग्रहण करे सद्भाव भूलकर ।
विषयों का आधार बनता है यह;
उनमें ही तो सदा लिपटा यह ।

शाल्व ने तुमें क्यों ठुकराया?
तुमने मन उसको ही अपनाया;
विषय-लिप्सा तुम्हें यहाँ लाई;
चाहना ही तो अनिष्ट कर पाई।

बिना आधार कहाँ फल मिलते;
मूल से उखड़ धरा पे गिरते,
ऋतुओं का सम्बन्ध चेतन से;
मृत्यु का मूल मन भटकन में?

शाख पर ही तो फूल सुन्दर है;
शोभा तो शाख पर ही मिलती ।
जीवन होता उतना फिर लम्बा,
शाख जब हृदय खोले अम्बा।

नारी-पुष्प तो शाख-नर ही है,
शाख पर रह कर ही खिलती है ।
शाख ही जो कभी उसे झंझोड़े;
पुष्प तो पंखुड़ियों को छोड़े ।

'मैं' उड़ी मन की ही आँधी में,
तिनका भर हो गया-आस्तित्व अब,
कोई आधार तो बचा नहीं है;
दोनों-घर छोड़ आई हूँ जब?

पिता-गृह भीष्म-कारण टूटा;
धरती-से मैं उखड़ी लता।
वर-पात्र मैं यदि विकसाती;
प्रणय-जल में सुमन खिलाती ।

मन प्रमाद से दुःख बढ़ता है;
अमृत भी विष बन जाता है;
वेदना पर्वत सी उठती है;
आँसू-धार नदी न थमती है ।

मनुष्य में मन नट की तरह चंचल;
क्षण-क्षण में बदले गिरगिट का रंग;
पलक-झपकें फूल लाता मन;
आँसू-सागर पल बनता मन;

मन मुझ को किया पराजित है;
दोनों किनारे मुझसे छूटे हैं क्यों?
मैं तो मंझधार बन गई स्वयं ही;
इसमें तो मन ही अम्बा ले डूबा !

मन में अमृत भी कभी थी भर लाई;
आज वही अमृत हुआ विष है;
मैने स्वयं ही पिया है दोष मेरा;
नारी को कब मिला यूँ स्वत्व है ।''

मन तिलों की पोटली सा बाँधो;
बिखर गई अब मेरे अपने हाथों?
सभी तिलों को बटोर अब कैसे पाऊँ?
गाँठ-खोलने यह दण्ड मन, समझाऊँ?

स्वप्न बिखरे पड़े धूलि उन पर;
अपने पाँवो से हीं कुचलूँ कैसे?
पंख अपने ही हाथों कैसे नोचूँ?
पक्षी-मन उड़ता था सारस बन ।

मन अपने ही सौन्दर्य से पीड़ित है;
चित्र सुन्दर बना लिए मन में ।
काँच हुए हैं चूर चुभते क्यों है?
धाव साथ थे कितने हैं लाये ।

मन की सुन्दरता पर पहाड़ हैं टूटे;
रोग-ग्रस्त हो गया सुन्दर के हाथों?
यथार्थ के हथोड़ो से ही टूटा है मन;
स्वप्न अधूरे मार्ग में छूट गए !

पर्वत से भी कभी मन ऊँचा जाता !
सागर से भी कभी है गहराता !
डूबी मैं इसमें तर सकी न ।
वाणी-क्यों दी भीष्म के आगे?

'शाल्व' से प्रेम न करते मन,
कुपात्र में ही रस क्यों ढुलकाया?
असंस्कृत-आधार पर खड़े होकर,
प्राण निर्वाह तो था करना चाहा?

जल-तृण पे ही गुज़र करते मन,
विषय-आसक्ति-नाव पर क्यों बैठे ?
तृष्णा-भँवर में फँसी अब चक्रायित;
डूबने की घड़ी भी तो है निश्चित?

शरीर के पंखों से ही उड़ना चाहा?
पंखों की शक्ति को ही न जाना?
मानसिक-पंखों के भ्रम में ही उड़ते;
धरती अपनी को न क्यों पहचाना?

दुर्भाग्य के रथ पर चढ़े थे मन;
इसकी गति के वशीभूत हो लुढ़के;
सामान्य जन से ही प्रेम कर बैठे,
जो न समझे प्रेम, अग्नि पर लेटे !

संकीर्ण-कुण्ठित-रूढ़ियों से झकड़े;
नर गति को क्यों न तूने जाना?
कार्य सिद्धि के लिये नहीं व्याकुल;
स्व केन्द्र से बन्धे पशु हैं सब आकुल?

सशक्त हो तुम मेरे मन अब,
कोलाहल-पूर्ण - व्यथा को छोड़ो;
जिसके कारण हुआ तेरा अनिष्ट;
उसी से जा कर अब नाता जोड़ो ।''

सशक्त मानस प्रायः होते हैं शान्त ।
तड़ाग में पंकज से मुकुलित गम्भीर;
कोलाहल-उनके हृदय में ही कुण्ठित;
मार्मिकता नहीं करती उनको अधीर ।

धूप-बत्ती की तरह जल भरते सुगन्ध;
ज्ञान-दीपक से जलते हैं मन्थर मन्द !
भाव-लहरियां ही मलय-पवन बनती,
कल्पनाएँ ही मधुर-शीतलता भरती ।

कार्य-सिद्धि के लिए ही हैं प्रयत्नशील;
सुख-दुःख पाने को नहीं कभी चंचल;
सीप से हृदय में मोती पनपे पर मौन;
रहस्य उनका जान सकता है कौन?

प्रेम - भाव मोती-हृदय सीप में;
धीरे धीरे पनप स्वरूप धारे;
जान सका कौन इस रहस्य को;
आसूँ ही मोती का क्यों रूप धरें?''

सूर्य ही तो होता है सशक्त मन;
अन्तिम दशा तक ऊँचा रहता है,
किरणें तो सदैव आकाश को छूती है,
संध्या होने पर लाल सूर्य ढलता है ।

मेरे मन चीत्कार न कर इतना,
सशक्त-सीप सा मोती कर दुःख;
सूर्य किरणें बना ले प्रेम भावों को;
ऊँचा-ऊँचा पक्षी सा उड़ता चल ।''

3

ठुकराई शाल्व से लौट आई;
भीष्म को व्यथा-कथा सुनाई;
भीष्म-कोमल कैसे हो सकता;
नारी से नारीत्व छीन लाया था;
आगत को नर न जान पाया था ।

प्रताड़ित, लज्जित, अपमानित अम्बा;
खोज रही थी इनके कारणों को;
कारण तो बस भीष्म ही था सबका?
जिसने काशीराज सुता को हरा था?

'इन्द्रघुम्न' की सुताओं को हर लाया;
अम्बा के दुर्भाग्य को था भड़काया;
अम्बा शाल्व से ही विवाह चाहती थी;
पिता-आज्ञा भी तो उसे मिल चुकी थी ।

इच्छानुकूल-स्वयंवर में न वर पाई;
'अपमानित-मन से भीष्म संग आई ।
नारी से स्व-निर्णय का अधिकार छीना था;
'अम्बा' के दुर्दिनो के लिए उत्तरदायी;
शाल्व ने पाने भीष्म से युद्ध किया;
शक्ति-बल से भीष्म से न छीन सका था ।

'स्व' चिन्तन-सुख से तिरते हैं;
पत्थर से राज्य-पुरुष लगते हैं ।
स्वार्थ-छल-प्रतिज्ञा से बंधे हैं;
अश्व-रथों में जितने जुतते हैं ।

अश्व-रथों के, आँखों से भी बंधित,
दृष्टिकोण भी अश्वों का कुंठित;
राज्य-रथ में जुते उसे धकेल रहें;
उबड़-खाबड़-समतल न देख रहे ।

लोह-कीलें राज्य पगों में गाड़ीं,
कोमल-भाव - लहर पर, वे भारीं,
सुमन तोड़ने का अधिकार मिला;
मन, बसन्त पर भी अधिकार किया ।

सर्प-सरीखे-मूश्कों के घर में बैठे;
अधिकार हड़प-आतंक-बल से है ऐंठे;
पशु सा हाँक रहे; पशुशाला स्वामी;
हिरनों को बाँध रहे-आतंक अनुगामी ।

प्रिय वचन 'स्व' का है 'पर' ठोकर मारें;
सत्ता मद में चूर हुए हिंस्र-हुँकारें;
नारी एक पदार्थ-इनको और कुछ न;
बलि-पशु सी-पकड़ ले आएं युद्ध न ।

नर स्पर्श-पर का भी सह न पाता;
एक सम्पति ही तो है उसे चाहता;
राज्य-पुरुष तो उसे पषान ही समझें;
इच्छा, स्वप्न, संकल्प उसमें न पनपें?

धूलि उड़ कर ही समाप्त हुई थी,
अम्बा की ऐसी तो भाग्य रेखा थी,
सूर्य-किरण असंख्य कण - उजागर,
भाव-प्रताड़ित-पीड़ित हैं रह-रह कर ।

अम्बा:-

'भीष्म-के पास पहुँच अनुरोध किया,
'पुरुष-श्रेष्ठ क्यों यह अनर्थ किया?
लहरों के भीतर भटक रही हूँ नौका,
तट ने अस्वीकारा-माँझीं ने रोका !

हे राज-पुरुष: तूने ही कमल कुचला;
इस-गंघ-हीन पगों में म्लान है पड़ा ।
अब इसको कोई और भी ठौर नहीं;
तुम-बिन आधार बचा कोई और नहीं !

अब तुमको ही इसको अपनाना होगा;
या मृत्यु-अश्व पर स्वयं इसको बिठलाना होगा;
नारी-समाज में स्वत्वहीन हुई अब ऐसे,
लता से सभी पुष्प टूटें हो जैसे?

पुरुष-अंह-भँवरों ने रस चूस लिया;
मधु मक्खी से छाता तो छीन लिया;
पल-पल-पंख हिलाए चंचल चलती,
रंग-आर्कषण-फैला-मोहक तितली ।

टूट-गए है पंख-रंग है उतर गया;
'शाल्व'-दम्भ-कुण्ठा ने ही मसला;
मन-संकीर्णता-चक्की पाटों ने पीसा;
हीरा-मन-टूटा और हुआ है शीशा!

शाल्व के शब्द रह-रह तड़पाते
अग्नि-शिखा-धधकती-स्वत्व जल जाते,
यथा समय शाल्व तक भीष्म पहुँचाया;
शाल्व ने ही क्यों मुझको ठुकराया?

शाल्व ने अम्बा की एक बात न मानी,
हृदय-पीड़ित-हुआ, आशाओं पर पानी।

शाल्व :- "युद्ध में जीती अब सम्पत्ति मात्र हो,
विजेता ही तो अब तेरा स्वामी हो ।

"जाओ, अम्बा यहां रहने की जरूरत न,
देखना चाहता हूँ अब भोली सूरत न ।''
अम्बा-नयनों से थी अश्रुधार बही;
शाखा दोनों ही वृक्षों से थी टूटी ।

"विह्वल-स्वर में अधर-काँपतें आँसू पीते;
आशा-जीवन के प्याले अब हुए हैं रीते;
व्यथा-लहरों ने तो उसको लील लिया;
नर-सागर-अहंकार नारी पर था टूटा ।''

रोते-स्वर में रुदन-वेग में बहती थी,
नैया तो मंझधार में डूब रही थी,
अनुनय-विनय-कम्पित शब्द टूटे थे,
अश्रु-धारा में मौन ही रहते थे ।

साहस-बटोर कर कल्पतला गुंजरित-हुई थी;
"राजन् ! आपको ऐसी बात न कहनी थी,
भीष्म मुझे बलपूर्वक ले आये थे;
प्रचण्ड-आँधीं को आप रोक न पाये थे ।''

मैं अबला अवरोध भला कैसे करती?
राजन्-की शक्ति जब थी, टूट गई?
मेरे हृदय में 'भीष्म' को था स्थान कहाँ?
बलि-पशु सा ही मुझको था बाँध लिया !

राजन् अब संकोच छोड़ कर कहती हूँ,
मुझपर तो उनकी न कुदृष्टि पड़ी थी,
मैं आपसे ही हृदय से प्रेम हूँ करती,
नारी बस एक बार ही नर को वरती ।

प्रेम ही राजन् मुझे तो खेंच है लाया,
हृदय-विवश हुआ-तुमने जब ठुकराया,
निर्दोष-हूँ राजन् तुम स्वीकार करो;
शरणागत को वर तुम श्रेष्ठ बनो ।

भीष्म ने यहाँ पर ही भेजा है;
हृदय-अनुराग को सम्मान दिया है,
स्वयं के लिये नहीं तीनों को लाये,
अनुजों के हित ही सबको ले आये ।

स्व-विवाह के प्रति कोई चाह नहीं हैं,
प्रतिज्ञा से बंधे-ब्रह्मचारी, भीष्म हैं,
अम्बिका-अम्बालिका को अनुज ने वरा,
दोनो को राजवधु का सम्मान मिले ।

'मैं शपथ पूर्वक राजन कहती हूँ;
तुम्हें छोड़ किसे नहीं मैं चाहती हूँ;
लज्जा-छोड़-राजन् हूँ तुम तक आई;
मन से वरा तुम्हें, निश्चय कर पाई ।

तुम्हें छोड़ कर और नहीं वरना चाहती,
प्रणय और प्रसाद हूँ थोड़ा चाहती ।
हठ-छोड़ कर आप मुझे स्वीकार करें,
शरणगत, राजन् आप मेरा उद्धार करें ।''

शाल्व निष्ठुर और पत्थर ही तो था !
नारी अश्रुओं से भी न पिघला था;
संकोच छोड़ना कितना दुष्कर होता,
नारी की पीड़ा को समझ न पाया ।

शाल्व ने उसको अस्वीकार किया था;
उल्टे अम्बा को कु-विचार दिया था,
"भीष्म ही दोषी है तेरी हालत के,
उनको जाकर वरो जो घातक थे !

अबला की कुदशा के अपराधी है;
मर्यादा को तोड़ा है, वही पापी है;
भरी-सभा में तुम्हें जब भीष्म लाया;
स्वयंवर से वरा शक्ति हर लाया ।

अनुजों को ही या स्वयंवर में ले आते;
भरी सभा में या घोषणा करके जाते !
यह नीति नही, न धर्म अनुकूल हुआ;
भीष्म अपराधी, दण्ड क्यों तुम्हे मिला?

तुम हो अनुपम सुन्दरी अपकार किया;
पुष्प-सुकोमल को डाली से तोड़ लिया,
वर-माला से उसको तुम्हें सजाना होगा,
भीष्म को ही अब तुम्हें अपनाना होगा !''

शाल्व हृदय भीष्म से प्रतिकार चाहता,
भरी सभा में जो युद्ध में हार चुका,
अम्बा को रह-रह भड़काता था ऐसे,
अग्नि में घृत-आहुति पड़ती हो जैसे ।

लता को नर-अहं ने उखाड़ दिया;
स्वार्थ-नीति का शाल्व ने जाल बुना;
प्रतिशोध में जलता-असमर्थ भीष्म के आगे;
अम्बा को भड़का लौटा दिया-शाल्व ने ।।

काशीराज - इंद्रद्युमन सुता अभागी,
विधि की कठपुतली मात्र थी,
भीष्म विचित्रवीर्य के लिए हर लाये,
लता धरा से ही तो उखाड़ कर लाये ।

शाल्व ने नीति-छल से था ठुकराया;
दीप-शिखा पर तो तुषार था गिर आया;
निराधार-अम्बा बरोह जड़ पकड़ न पाती;
त्रिशंकु सी लटक बवंडर में फंस जाती ।

पुरुष-समाज ने तृण सा उसको उखड़ाया;
बर्बर-बसंत ही तो उस पर था चढ़ आया ।
बहरा पुरुष समाज नारी चीत्कार न सुनता;
विपत्ति-कष्ट के काँटे पथ से न चुनता ।

बिलख उठी-दिशाएं, नारी ने विलाप किया;
बादल-गर्ज रहे थे न नर - समाज हिला;
भीष्म-शाल्व पाटों ने था पीस दिया;
जीवन का उससे आधार था छीन लिया ।

उठाकर ही तो कंकर सा फैंक रहे;
नर-अहंकार के कर से ही छूट रहे;
नारी अस्तित्व पर दोनों से प्रश्न लगा?
अम्बा को समाज से पर न उत्तर मिला ।।

मौन दिशाएं, स्तब्ध, भय भीत देख रही;
अपमानित होती नारी के शिलालेख बनी !
स्व-सम्मान-अधिकार को पाने की प्रतिज्ञा;
अम्बा के हृदय में तो तूफान उठा ।

नारी-आसूँ, नर-समाज प्रतिशोध भरे,
शक्ति-रूपा-आत्म बल प्रचण्ड उठे;
अर्थ-हीन नारी का अस्तित्व-हुआ,
बस पदार्थ में सब कुछ बदल गया ।

अम्बा स्वत्व पाने का अधिकार चाहती थी;
कभी शाल्व, कभी भीष्म से टकराती थी,
नर-व्यवहार पीड़नीय-असहय हुआ था;
रागतत्व नारी का तो अपमानित था ।।

सुधा-धार हृदय की तो अवरुद्ध हुई;
करुणा, ममता, समर्पण-मूर्त अश्रुतर-थी;
व्यथा-वेदना; अनीति, अधर्म ले आये थे;
पशुता से ही अबला को हांक लाये थे ।

पशु-धन ही तो भीष्म ने मान लिया;
स्वयंवर का अधिकार उसने छीन लिया;?
मानवता के प्राणों को ही खींच लिया ।
भीष्म ने मर्यादाओं को था उल्ट दिया ।
जिस की लाठी उसकी भैंस सत्य किया;
भरी सभा में नारी का अपमान किया ।

हिरन-समूह पर हिंस्रं सिंह टूटा;
जीवनधार अम्बा का ही लूटा;
इससे अच्छा था मृत्यु-वरण मैं करती;
कटे पंखो सी न मैं धरा पे गिरती !

'मैं' नारी अपमान का प्रतिशोध-तो लूँगी;
बिजली बन कर, नर-समाज पर टूटूँगी ।
पदार्थ नहीं हैं हम, पृथ्वी अधिकारणी;
प्रचण्ड जले तेज तो है प्रलयकारिणी ।।

नारी-बल का मैं तो संगठन करूँ;
शक्ति-वाहिनी बन सूर्य अग्न जलूँ !
सृष्टि-सृजन-विनाश आधार तो हम हैं;
जग के निर्माण का कार्य-कारण हम हैं ।

प्रतिकार-भाव से प्रेरित पीड़ित नारी,
ऋषि-आश्रमों में धूमी-दृढ़ता को धारे;
अपमान-भूला, संकल्प अधिकार पाने का;
किया अम्बा पशु-समाज से टकराने का ।

ऋषियों को निर्णय-उसने आन सुनाया;
"आधारहीन न नारी, शक्ति रूपा है;
पुरुष-समाज से आश्रय न वह मांगेगी;
स्व-अधिकार पाने, का पुरुषार्थ करूँगी ।

आजन्म ब्रह्म-चारिणी, कठोर तप करूँ,
अपमान-तिरस्कार-अन्याय प्रतिकार करूँ;
आप मुझे आश्रम में रहने की दो आज्ञा,
ऋषि-कुल कृपा करें, करूँ पूर्ण, प्रतिज्ञा ।"

ऋषियों ने अम्बा को फिर था समझाया,
पितृ-गृह को लौटने का मार्ग दिखलाया;
अम्बा कहा "पिता-गृह में छोड़ आई हूँ,
शाल्व-भीष्म के रथों पर चढ़ आई हूँ !

मैं हृदय कांटों को तो फूल करूँ,
मैं बिजली नर समाज पर टूटूँ ।
निर्झर सी पर्वत के हृदय चीर कर;
बह निकलूंगी सरिता तो मैं बन कर ।

मैं चट्टानों को तोड़ मार्ग अपनाऊँ,
मैं गंगा-प्रचण्ड शिलाखण्ड बहाऊँ ।
नर-समाज का अन्याय कभी न माँनूगी,
मैं पदार्थ ही बनकर न रह जाऊँगी?''

शोभ देश के राजा शाल्व ने लौटाया,
कूटनीति बल 'अम्बा' पर अजमाया,
प्रणय-कामिनी 'अम्बा' भीष्म ओर लौटाई,
भीष्म-प्रतिज्ञा को भंग करने की यह चतुराई?

हस्तिनापुर लौटी अम्बा भीष्म से प्रार्थी;
जीवन-नौका चक्रायित लोटा दो सार्थी ।
भीष्म सब सुन-द्रवित, "अपकार हुआ कैसा,
उपकार करूँ अब कैसे, कर्म-पुण्य हो जैसा?

भीष्म :- विचित्रवीर्य से बोले-तुम "अम्बा स्वीकार करो;
शोभ-राजा ने लौटाया, वत्स करो उपकार, वरो,
स्वयं ही लौट कर आई-अपमान हुआ नारी का;
अनर्थ हुआ है मुझसे, कलंक स्वेच्छाचारी का?''

विचित्रवीर्य, क्षत्रिय, राजा,स्वीकार कैसे करते?
भीष्म की इस आज्ञा का, पालन नहीं करते !
"मन रीझा शाल्व पर, पति मान चुकी है,
क्षत्रिय कैसे अपनाये, जो सीमा लांघ चुकी है?

नर की भी है मर्यादा उसका पालन तो होगा,
जो मन से न स्वीकारे, वह नारी कौन वरेगा?
प्रणय केवल मांसल न यह हृदय अनुराग भी;
बन्धन तो हृदय से इसमें यही कमी भी?''

भीष्म:- मैंने अनुज इसे इन परिस्थितियों में डाला,
सुत-तेरे हित मैंने कर्म किया यह काला,
अब तुम ही तो मुझे धर्म संकट में न डालो,
आज्ञा दी जो मैंने अनुज उसको पालो ।

मन की मन में जो रहती, बवंडर तो न उठते,
अम्बा और भीष्म दो पाटों में न मथते ।
मन वाणी अश्वों पर चढ़ जो कभी दौड़ता,
अमित-बार यह मन है तो कष्ट भोगता ।''

अम्बा माया के दो पाटों में पड़कर,
पीस चली स्वत्व को शब्द-बनाकर,
न इधर की रह सकी न रही उधर की,
मार्ग-सब अवरुद्ध देख भीष्म से बोली ।

अम्बा:- ":.गेय" मैं तो दोनों ओर से टूट गई,,
छूटे सभी किनारे अब मंझधार पड़ी ।
अब तुम ही मुझे उबारो इस संकट में,
अब और नहीं सहारा तरी भंवर में?

आप ही हर लाये थे स्वयंवर से,
सम्बल बनना होगा-धर्म संकट में,
वरण करो अब मेरा मैं प्रस्तुत हूँ,
विवाह करो अब मुझसे मैं सहमत हूँ?

विपत्ति में फँसी मै गजनी पंकित हूँ,
गजवर मुझे उबारो मैं शक्ति हूँ ।
विपत्ति-समय पर मर्यादा नहीं देखते,
नर-श्रेष्ठ उत्तर दो हो क्या सोचते?"

भीष्म-चिंतित-व्याकुल, मुख खोला,
जीवन-ब्रह्मचर्य-व्रत का रहस्य खोला,
"बंधा हुआ हूँ स्व के ही बन्धन में;
सत्यवती माता के चिर आगमन से ।

प्रतिज्ञा तो मैं अपनी तोड़ सकूँ न,
राज्य-धर्म से अम्बा मुख मोड़ सकूँ न,
बंधा-पशु ही मैं हूँ सिंहासन का,
'स्व' का नहीं रहा मैं, हूँ प्रशासन का ।

विचित्रवीर्य के लिये, भरी सभा से लाया,
उसने भी तो अम्बा तुम को ठुकराया ।
एक बार फिर उनसे ही आग्रह करता हूँ,
मर्यादा निर्वाह का अनुनय करता हूँ ।"

विचित्रवीर्य को भीष्म समझाया,
राजन् फिर भीष्म मत ठुकराया ।
तब भीष्म ने अम्बा को समझाया,
सौभराज-शाल्व का ही राह दिखाया ।

"सौभराज के पास फिर विनय करो,
अम्बा यही सम्भव है तुम उसे वरो ।
अनर्थ किया, मैंने, पश्चाताप् रहे;
जीवन के अन्तिम-शोर तलक खले ।

अम्बा:-

मन के हाथों नर वर पराजित हूँ;
कैसे वहाँ मैं जाऊँ, पूर्व अपमानित हूँ?
स्वाभिमान नारी में नर-वर भी होता;
राजवंश के रक्त में निरन्तर बहता ।

अपमानित हो कैसे लौट सकूँ मैं?
सबला नारी हूँ कोई धूल नहीं मैं?
पाँव चोट देता वह भी सिर चढ़ती?
नारी स्वत्व की, नरवर मांग भी करती?

राज-कार्य के लिये, क्यों मैं उत्पीड़त?
क्यों उपेक्षा झेलूँ, जब तुम हो समक्ष?
तुम्ही उठाकर लाये, अब वरो मुझे तुम?
अन्यथा नारी सम्मान लौटाओ तुम?

स्वाभिमानहीन होकर रहती कब नारी?
अपमानित जीवन से मृत्यु श्रेयस्कर भारी,
मानिनी नारी तो याचना कभी न करती,
माननी-सिंहनी, सूखी घास न यूँ चरती?

मैं, श्वान तो नहीं पग लेटूँ, पूँछ हिलाऊँ,
अपमान से मिले स्वर्ग, वह भी मैं लौटाऊँ?
नारी-ग़जराजनी ही है अन्नदाता पहचाने,
सम्मान सहित जो देता उसमें सुख माने ।

तिरस्कृत जीवन से प्राण त्यागना अच्छा?
कुछ क्षण का दुःख सह जाना कहीं अच्छा?
प्रतिदिन का दुःख, तिरस्कार है लेकर आता,
स्वाभिमानी कैसे नरवर, सब यह सह पाता?

राजहंसनी नारी न दूषित जल चखती,
गंगा गंगाजल दूषित हो उसे भी तज़ती ।
ताड़-वृक्ष नारी, प्रलयंकारी आंधी झेले,
नत-मस्तक कभी न हो, अंगारों से खेले ।

आग तो बुझ जाती, पर ठण्डी न होती,
स्वाभिमानी मर मिटती, दीन-हीन न रोती ।
लज्जा-रहित है शाल्व, नारी-मर्यादा न जाने,
भरे-अनुरागी-हृदय को निष्ठुर न पहचाने ।

उसी द्वार लौट जाना, कैसे सम्भाव लगता?
लज्जा-नारी आभूषण, नर समाज क्यों छलता?

भीष्म:-

"एक बार तुम जाओ, अनिष्ट, सौभाग्य होगा;
शाल्व-हृदय दीन दशा लख परिवर्तित अब होगा ।

नारी-हठ छोड़ कर, मेरी आज्ञा को मानो,
सौभ-राज के द्वार पर अनुनय विनय करों ।
मैं तुम्हें वर न सकता, हित तेरा चाहता हूँ,
तेरे कल्याण का कोई-मार्ग मगर न मैं पाता हूँ ।

यही विकल्प बचा है, इसको फिर अजमाओ,
लज्जावरण, त्याग कर, स्व हित को अपनाओ ।
आदेश यही है, मेरा, ठुकराना तो सम्भव न,
शाल्व छोड़कर अम्बा और कोई सम्बल न?''

अम्बा:- 'विवश-लाचार हूँ अबला, आधार हीन किया,
देव-वरण करो मेरा, निश्चय तो यही किया?
नर-श्रेष्ठत्तम तुम जो तुम्हीं न अपनाओ;
धूल-में मिलने का क्यों मार्ग दिखलाओ?

यदि यही हो नरवर चाहते, तो लो जाती हूँ,
अपमान अग्नि से फिर सर्वस्व जलाती हूँ,
नारी-सत्ता को, नर-समाज नहीं स्वीकारा,
अम्बा-प्रतीक बनी है, हर पग ने दुत्कारा?

न अपनाया जो उसने, तो यहीं लौट आऊँगी,
लता सरीखी भीष्म-तरु पर ही चढ़ जाऊँगी,
चेतन अपनाया तुझ को, विवेक तुम्हें स्वीकारा;
समाज-धर्म-शास्त्र-बल इस ओर ही करें ईशारा ।

तुम से बढ़कर भीष्म नर और जगत में न,
पराक्रमी धर्म का स्वामी तुम सा धरा में न ।
मन-आत्म ने स्वीकारा, स्वयंवर में मुझे वरा,
शाल्व-ने युद्ध भूमि में, तन मन से मुझे हरा?''

4

लाचार-विवश - अभागी शाल्व-द्वार खड़काया,
भीष्म आदेश का वर्णन फिर उसे बतलाया,
स्वाभिमान तरु से उतरी, लता धूल में मिलती,
परवशता-नारी की, अन्तिम सीढ़ी तक उतरी ।

अम्बा:- "स्वत्व पाने की खतिर, फिर द्वार लौट हूँ आई,
शाल्व तुम अंग लगालो, सार्थक हो यह तरुणाई ।
चरणों की दासी बनकर, राजन् रहने दो मुझको,
मन से वरा तुमें था, वाणी से हूँ वरती तुम को ।

शरणागत हूँ मैं राजन्, कोई आधार नहीं,
पावन-गंगा हूँ मानो, कुछ पापाचार नहीं ।
नारी-अबला हूँ जग में कुछ अधिकार नहीं,
नारी का जन्म यूँ पाना जग में अपराध नहीं ।

ले लो तुम अग्न - परीक्षा, शीलवान् राजन्;
व्यर्थ क्रोध-शंका-नर की क्यों बनूँ भाजन?
नारी प्रताड़ित नर से, सदैव से होती आई,
वस्तु ही मान रहा नर, हर ओर से ठुकराई?''

शाल्वः- तरुणी कैसे अपनाऊँ, युद्ध में हार चुका हूँ,
भीष्म-पराक्रम के आगे, पराजय मैं मान चुका हूँ?
क्षत्रिय देवी कभी न, भीख किसी से लेता,
पौरुष से ही है पाता, न दान कभी भी लेता?

पुरुष यशस्वी बनकर ही तो रहना चाहता,
अपयश-कर्म जो लाये, उसको न अपनाता ।
शक्ति से संचित कोष, पुरुष है होता,
मनचाही, कर्मक्षमता-बल से पुरुषार्थ है करता ।

यदि पुरुषार्थ बल से पाता, सगर्व वरण करता,
अब त्याग चुका हूँ मन से, पाने की नहीं क्षमता,
अब दान-रूप हो आई, ग्रह्ण करूँगा कैसे?
का-पुरुष नहीं मैं सुनलो, वीरोचित न पर ऐसे?

लक्ष्मी, सत्ता, और नारी क्षत्रिय बल से पाता,
परनर संग गमन करे जो उसे समय भी है ठुकराता ।
मैं देव नहीं हूँ जन हूँ, जन जन में जो रहता हूँ;
जिस को समाज स्वीकारे, उन नियमों में चलता हूँ ।

स्वयंवर में जीत कर, कैसे न तुमको मैं बरता?
भाग्य-पुरुष के बल से कौन जो है लड़ सकता?
प्रयत्न किया था मैंने, भाग्य विचित्र होता है;
पुरुषार्थी से भी अम्बा, पुरुषार्थ-फल खोता है?

भाग्य-पवन चिनगी से दावानल तो भड़काती,
कहीं शान्त रह जलती, कहीं जलती शांत कराती ।
भगवद्-इच्छा है भाग्य, उसे जान पाता नर कब?
उसको वो ही मिलता है, जिन्हें चाहता नहीं कभी, सब ।

मेरे ललाट की रेखा, भीष्म ही मिटा गया है,
तेरे दुर्भाग्य की पावक, वे ही तो जला गया है ।
जलना तो तुम्हें पड़ेगा, जब तक ये शान्त न होगी;
जब तक जीवन अम्बा, तब तक ये अग्न जलेगी?

इस अग्नि से स्वयं को तो नहीं जला मैं सकता?
अम्बा ये अन्तिम वाणी, तुमें अपना नहीं मैं सकता ।
तुम भीष्म-भवन ही लौटो, नियति अब तेरी यही है,
सौभ-देश से बाहर जाओ आज्ञा अब मेरी यही है ।''

कमलनयनी अम्बा दोनों से रही टकराती,
कभी हस्तिनापुर में भटके कभी सौभ देश थी जाती ।
छ:वर्ष यूँ ही बीते थे , कुछ समाधान हुआ न,
रो-रो कर बादल चूके, बसंत उसका कहीं खिला न।

हृदय-पुष्प - लताएं धीरे धीरे सब सूखीं,
विरहाग्नि की ज्वाला, कोयल-स्वरों ने फूंकी ।
कूटनीति-सत्ता की, पंखों को काट रही थी,
नारी-स्वत्व वस्तु सी आपस में बाँट रही थी ।

नर-समाज उपेक्षा निरन्तर भयंकर होती,
भाग्य पर, प्रभु-कृपा पर थी निरन्तर रोती ।
पूछता कौन उसे फिर घर और घाट रहा न?
उसके दु:खों का कारण, भीष्म ही था वह न ।

भीष्म पर क्रोध घना, कर्म किया था काला,
राजनीति की चिता पर अम्बा को धरडाला, ।
प्रतिहिंसा की अग्नि मन में ज़ोर से भड़की,
विपदा के धनों में चपला औ ज़ोर से कड़की ।

भीष्म से प्रतिकार तो चाहता दहकता-जीवन,
सहायता को न बढ़ता कोई, रही अकिंचन ।
सभी समर्थ द्वारों पर भटकी, निष्फल ही लौटी,
किस में हिम्मत-बल, भीष्म को दे चुनौती ।

सभी प्रार्थनाएँ उसकी, बेकार ही होती रहीं,
मन निराशा-वेदना जलती, बढ़ती रहीं ।
भीष्म का आतंक सभी राजाओं पर छाया,
पुकार उसकी कौन सुनता, जो वही घबराया?

भीष्म भी शासन की खूँटी पर ही बंधा हुआ,
निजत्व लुप्त उसका, कूटनीति छला हुआ ।
हस्तिनापुर, शासन को जो सींचता था रक्त से;
नियति की बलि वेदी पर टंगा, ठगा हुआ वक्त से ।

भावनाओं के झरने समय से जले, शुष्क थे,
स्वजनों के स्वार्थ के हेतु बने, मन रुष्ट थे ।
विचित्रवीर्य ने मन को जोर से धक्का दिया,
सत्यवती संकल्प ने उसे और पक्का दिया ।

अभिशप्त-भीष्म, वशिष्ठ का दण्ड ही रहा भोगता,
पृथ्वी-जीवन-गंगा का सुकोमल हृदय न खोलता,
नारी संसर्ग-वंश ऐषणा पर यह आघात हुआ था,
पार्थिव-नर-देह-भीष्ण को कहाँ यह ज्ञात हुआ था?

नियति के रहस्य को अम्बा ने न पहचाना;
भीष्म की विवशता से जग तो है अनजाना?
प्रतिशोध लेना चाहती, कार्त्तिकेय की तप-वंदना,
घोर-तपस्या करती, भगवान की करे अराधना ।

तपस्या पूर्ण हुई कार्त्तिकेय प्रकट हुए;
कमल फूल की माला-अर्पण करते कह उठे;
"अम्बा तपस्या सफल तुम्हारी, माला करो यह धारण;
तुम जिसे पहनाओगी, होगा भीष्म मृत्यु का कारण ।''

भीष्म-वध की कल्पना, यथार्थ थी लगने लगी,
नियति हँसती खड़ी, अम्बा को ठगने लगी,
मनचंचल-हतभागिनी, भीष्म माला कौन पहने,
धरा लोक की शक्ति, साहस सब थे चूड़ियाँ पहने?

पंचाल देश के राजा द्रुपद बड़े प्रतापी हैं,
वह हरि-बल के धनी-वीर और साहसी हैं ।
भुजबल में है काल सम, वह तो प्रलयंकारी है,
सकल भुवन के मुकुट, सगुण सहचारी हैं ।

उनके पास पहुँचकर अम्बा अनुरोध किया,
भीष्म वध करने का, मार्ग था खोल दिया ।
भीष्म के ही कारण अकल्याण हुआ है मेरा,
सत्ता-पालन के मोह में सर्वस्व-छिना है मेरा ।

वध-करो तुम उनका, मृत्युञ्जय कर्म करो,
वरण करें वह मेरा-या यह प्रस्ताव धरो ।
स्वीकार करें यदि उन्हें मत छूना तुम राजन,
मन से किया आराधन और स्वत्व वन्दन ।

धरती का हैं फूल, सुसज्जित ही उनसे,
वे ही धर्म परायण, महासत्य हैं उनमें ।
परम-पुरुष हैं त्यागी, 'पर' पर 'स्व' वारें,
सहें कष्ट असंख्य हृदय में, न चीत्कारें ।

महाबली तो उनसा धरा में न है दूजा,
बरन चाहता आत्म, करूँ मैं मन से पूजा ।
धरणी के हैं सूर्य, रश्मि-जगत में चमके,
चन्द्र की शीतलता, हृदय वरुण है छमके ।

हतभाग्या मैं हूँ जो तेज न अपना पाई,
अग्नि प्रचण्ड-भाल पर न तिलक लगा पाई ।
पृथ्वी-पुत्र है यह, बहुत ही विस्मयकारी,
अनुपम-सौंदर्य को बली क्यों ठोकर मारी?

नियति कर्म-जाल से बंधा हुआ चलते हैं,
यह धूमकेतू तारों से क्षीति से टूट रहे हैं ।
गगन-तेज-नक्षत्र चमकते इनसे-आग लिये हैं,
सभी ऋणी है इनके, 'स्व' को अग्नि किये हैं ।

परहित पर न्योछावर नर श्रेष्ठ तो हैं यह,
'स्वहित' का परित्याग किये नर वर है यह ।
कठोर-प्रतिज्ञा-बद्ध किये तो है स्वयं को,
जगती के जीव ही नहीं लगते हैं मुझको ।

माता ने ही ममत्व का है मूल्य तो चाहा,
गंगा की लहरों ने किया भाग्य है काला ।
समाज को जीवन-मूल्य सिखा रहे हैं यह?
पूर्व कर्मों के बन्धन छुड़ा रहे हैं यह ।

हृदय तो सागर सा, उठें इसमें प्रचण्ड ज्वारें,
ध्वनित नहीं कुछ होता, ऐसी शान्त हैं लहरें ।
असंख्य-शंख तटों पर तो बिखराते हैं,
रहस्य नियति का न खोल राजन् पाते हैं ।

अद्‌भुत - मानव धरा-कोष तो पाया है,
अमूल्य-निधि सा गोदी में भर आया है ।
धन्य हुई है धरती-सूर्य को ही तो पाकर,
चन्द्र सा है धैर्य, तरु सा भी फल लाकर ।

भारत-माता की गोदी का लाल ही है यह,
मानवता की सच्ची सुर-ताल ही है यह ।
कर्म-लहरियों से तो गीत उठाता है,
यह 'आरती' से धरणी पे उतरा आता है ।

सत्य-मार्ग-अनुगामी, यह व्रत का पाली है,
स्वार्थ की झोली तो बिल्कुल खाली है ।
साधारण जन कभी नहीं यह हो सकता,
'स्वत्व' अपना इतना कभी न खो सकता?

हृदय-तुम इसका वध चाहते हो क्यों?
स्वीकारा तुम्हें न, स्व छलते हो क्यों?
स्वार्थ की आंखों से ही देखो न स्वयं को,
परमार्थ की आंखों से भी देखो भीष्म को?

लुटा भले सर्वस्व, उलाहना नहीं दिया ।
मानवता को भीष्म ने कुंठित नहीं किया,
सोच तनिक हृदय, कितना प्रताड़ित हैं-
स्वजनों के हाथों, पर न व्याकुल है?

धैर्य- शिला सा उनमें, विचलित कभी नहीं?
संवेदनाओं के झरने हृदय से छिपे नहीं ।
पड़ता है तूँ हृदय उन आंखों का गाम्भीर्य;
जिसमें चमक रही भीष्म-मन की तस्वीर ।

प्रतिकार तो स्वयं मन से ही लो, तुम,
सत्य-मार्ग से भटक चली स्वयं जब तुम ।
मन-चंचल-घोड़ों में तेरा था दौड़ा,
वाणी का संयम हृदय ने क्यों तोड़ा?

व्यथा को छोड़ो, भीष्म-मन सत्कार करो,
मन से वरा उसे, न अब चीत्कार करो ।
प्रेम-त्याग स्तम्भों पर ही खड़ा होता,
स्व-हित की खातिर कभी नहीं रोता ।

यह 'माला' अब द्रुपद द्वार पर ही रहने दो,
मिलने का उपक्रम-नियति को ही करने दो ।
'शिव-पूजन' में ही तेरा कल्याण छिपा,
अम्बा स्व हृदय को तुम दो मत दोखा?

कल्याण-हेतु उसने हैं सभी प्रयत्न किया,
सोच-हृदय न कौन सा है जो यत्न किया?
विचित्रवीर्य और शाल्व ही हैं मूल कारण,
भीष्म-व्रत का करेगा जीवन तक पालन ।

इस भीष्म-व्रत से कैसे उसे मैं मुक्त करूँ?
यही है अवरोधक मग में, इससे, कैसे छूटूँ?
मछली सा तड़प रहा, निजत्व-जल से बाहर;
समर्थ-तेज-बल-पराक्रम का अन्यथा हैं सागर ।''

माला-टांग कर द्रुपद द्वार पर चली गई;
सामाजिक प्रत्यक्षानुभूति से थी छली गई ।
भीष्म को पाने का व्रत - हृदय-धारा,
ब्रह्म-तेज से महर्षि-परशुराम वाक्य भरा ।

नवम पर्व

अम्बा परशुराम भीष्म संवाद

1

लता धरा से उखड़ी, कुम्लाई,
स्व-निर्भर होने की धुन छाई,
नर-अवलम्बित नारी विवश बड़ी,
दुर्भाग्य-भाग्यरेखा उसी से जुड़ी ।।

अम्बा:- "पल-पल पर अपमानित करता नर;
शंका-कुंठा को लादता है उस पर;
सभी बन्धन-नियम उसी पे ही हैं;
घर की चार-दीवारी में बन्दनी है।

पर मुझसे तो भाग्य मेरा धर छूटा ;
धरती और आकाश से है नाता टूटा ;
अब त्रिशंकु बनी अधर में लटकी ;
स्व-अस्तित्व निमित्त संघर्ष करती ।

काठ में पाँव दिया-मन वाणी देकर;
काँस में हूँ फँस गई, भीष्म से कहकर,
कागज़ की ही नैय्या पे मन चढ़ भागा,
शाल्व-कुंठा ग्रस्त, धर-शेर निकला ।

शाल्व-प्रेम रे मन तेरा दुश्मन निकला,
घर भी छूटा तेरा घाट कर से निकला,
बौने-नर-हृदय को न मैं पहचान सकी?
गौं के टेकी नर को मैं जान सकी।

क्यों-हृदय उस-नर पे विश्वास किया ?
जिसने अग्नि के जंगल में फैंक दिया।
गोहार-हृदय, लोह-हृदय कहाँ सुनता ?
इस अपमान से हाय मेरा है जी कटता।

नाना-होत्रवाहन के पास जाती हूँ,
टूटे कैसे पहाड़ मैं उन्हें सुनाती हूँ।
ऋषियों ने पिता-गृह का मार्ग दिखलाया;
नारी की परवशता को ही दर्शाया ।

मैं तो आशा लेकर इन तक आई थी,
पाँव तले से धरती ही सरकाई थी,
जगती में है कौन मैं कहाँ गुहार करुँ?
मैं हूँ कटी-पतंग गाँठ कैसे बाँधूँ?

घर का है परित्याग, रहूँगी मैं बन में ;
जीवन-जंगल को बदलूँगी उपवन में ;
ऋषियों ने स्वीकार किया मेरे प्रण को;
नैना झड़ी लगा न, टूटे-नेह मन जो ।''

महर्षि होत्रवाहन उसी उपवन आये,
ऋषि-मुनि विचार-सभा यहाँ करते,
ऋषियों ने महर्षि का सत्कार किया;
'अम्बा' की पीड़ा का था बखान किया ।

हृदय में अनुराग विरागी के जागा;
सहानुभूति का झरना हृदय से फूटा,
नाते में अम्बा के नाना लगते थे;
धर्म-शास्त्र और न्याय उसी पक्ष मे थे ।

धैर्य दिया; "नलिनी तुम कुम्हलाओ न;
सभी सोचें उपाय, तनिक घबराओ न;''
फूट पड़ीं कपास कली सी आँखों में,
गंगा की लहरें उमड़ी फिर हृदय में ।

"दुहिता पर क्यों है ग़ाज गिरी?
लतिका की पुखुड़ियाँ क्यों झुलसीं?
व्यवस्था-पालक ने ही व्यवस्था तोड़ी ।
पशुता मानवता पर क्यों हुई हावी?''

अम्बा को सांत्वना दी दुलार किया,
उखड़ी हुई लता धरती स्वीकार किया।
सब ऋषियों ने रक्षा का दायित्व माना,
अम्बा भी हर्षाई, प्रसन्न हुए नाना ।

प्रताड़ित नारी का जो हृदय रोता था,
नारी-बल को जो बढ़ने से रोका था;
होत्रवाहन नाना को पा बँध टूटे ।
वल्कल-ऋषि-मुनियों के भी भीगे ।

'गोदी' में मुख छिपा उसने चीत्कार किया;
ब्रह्मा का सिंहासन आँसुओं में डूबा ।
आधार-हीन जो हो कणों सी भटक रही;
धर्म-शास्त्र की शक्ति न्याय को तत्पर. थी ।

सहानुभूति - स्वानुभूति बनकर फूटी;
होत्रवाहन, ऋषियों की पल.कें भी नम थीं ;
धैर्य - धारण किया भावना रोका ;
भृगुवंशी - परशुराम की ओर देखा ।

"भृगु वंशी की शरण में अम्बा तुम जाओ;
मेरा परिचय दे उन्हें व्यथा समझाओ;
वह करेंगे अवश्य तुम्हारा कल्याण;
अन्याय हुआ तुमसे जब लेंगे जान ।''

विधि को यह मंजूर लगता था ;
अकृतवृण अचानक वहाँ पहुँचा था ।
भृग वंशी के आगमन की बात सुनी ;
ऋषि-सभा योग-क्षेम पूछने पहुँची ।

अकृतव्रण जब वृतान्त सुना सब ;
भीष्म-दोष जान, प्रचण्ड अग्नि सम ;
"युगधर्म विरुद्ध यह कार्य किया उसने;
निरंकुश-सत्ता का परिचय दिया उसने ।

यह कर्म भीष्म यश में धब्बा है ;
स्वयं वरण करें अम्बा यही अच्छा है ।
अपमान धुँआ आँखों में लगता है ।
पतझर किया बसन्त सुमन झड़ता है ।

भीष्म ने जीवन-रस ही है सोख दिया;
खिला सुमन, शाखा से है नोच लिया ।
कली वसन्त में उसने झुलसाई क्यों?
नारी-मर्यादा को उसने आग लगाई क्यों?''

अबला ने सबला का रूप धरा था ;
स्व-रक्षा का भीष्म संकल्प किया था ।
दृढ़-निश्चय से बोली वरूँ मैं भीष्म को ;
अन्यथा मैं अपना ही प्रभु होम करूँ ।

फिर प्रातः हुई सूर्य किरणों में आशा;
जागी-हृदय में फिर जीवन अभिलाषा ।
परशुराम, आश्रम में आन बिराजे;
अम्बा-हृदय सूखे सुमन अनुरागे ।

श्यामल धरती वसन्त परिधान ओढ़ कर,
सुमन खिले फिर लाख नव अंकुर फोड़ कर ।
होत्रवाहन महर्षि - सब कथा सुनाई,
सुनकर गुरुवर की आंखें भी भर आईं ।

अम्बा करुण - स्वरों में थी कम्पाई,
स्व-दुर्गति की दारुण व्यथा जो बतलाई ।
"भीष्म का ही गुरुवर मैं वरण करूँ,
उसकी परणीता बनकर ही जीऊँ ।

केल पत्रों से बूंदों सा लुढ़का जीवन;
नागफनी काँटों से भर दिया है तन;
घुल-घुल कर जीना - मरना होगा,
प्रत्येक घड़ी अपमान घूँट पीना होगा।''

परशुराम :-

मैं कब से शस्त्र हूँ त्याग चुका;
भीष्म-बहु सज्जन भद्र नर हैं;
वह मेरी बात अवश्य मानेंगे;
अम्बा मत घबराओ, अपनाएंगे।

युवती वर का चुनाव कर सकती;
शाल्व, देव दोनों में एक है वर सकती;
यह समाज' स्वयंवर' कब झुठलाता है;
जिसे है वरती रमणी, वर कहलाता है?

नारी के सम्मान की रक्षा होगी,
अबला कभी नहीं; सबला होगी;
नारी-सम्पत्ति नहीं होती नर की;
स्वेच्छा से बनती दासी नर की।

इस में भी सुख उसको मिलता;
सृष्टि - नवल सुमन खिलता;
लिपट-लता जाती, सुख पाती;
कोलाहल लहर-धरा पर लहराती।''

अकृतव्रण ने गुरु से प्रार्थना की;
"अम्बा का अपकार किया भीष्म ने;
उसे ही अब उपकार तो करना होगा?
मर्यादा-धर्म का पालन तो करना होगा?

भीष्म अगर यह न स्वीकारें;
युद्ध-भूमि में फिर या ललकारें।
शरणागत की सुरक्षा तो होगी?
नारी स्वत्व हीन कभी न होगी।

नारी को प्रभुवर सर्वस्व दिलाना होगा;
शासन का आतंक मिटाना होगा।
मर्यादा की रक्षा तो करनी होगी,
अन्यथा यह धरती तो जंगल ही होगी?

हृदय पर प्रभु बोझ पड़ा है भारी;
मानव जीवन की ही उज़ड़ी क्यारी;
भीष्म ने पशु बनकर इसे रौंदा है;
धर्म पीठ में उसने छुरा घौंपा है।

नारी तो नर से सम्मान, सुरक्षा चाहती,
उसके उत्तर में है सर्वस्व दे जाती ;
भीष्म ने अम्बा से यह ही तो छीना है ;
जीवन-भर क्यों उसे ही आँसू पीना है ?''

परशुराम:- पहले वत्स मैं तो उसे मनाऊँगा,
अम्बा का मैं स्वीकार कराऊँगा
इसको भी तो साथ लिए मैं जाऊँगा,
वर-माला भीष्म को ही डलवाऊँगा ।

यदि मेरी बात न उसने मानी ;
दुर्भाग्य ही उसका, होगी भारी हानी ।
उसे मारने में न फिर संकोच करूँ;
धर्म-सुरक्षा के हित मैं परशु धरूँ ।

धैर्य धरो साहस करो न कम्पाओं ;
दुर्दिन-बीत गए, सुभाग अपनाओ ।
साहसी धरा पर कौन, बात जो ठुकराए?
महाबली परशु से कौन जो टकराए?''

परशुराम की बात सुनी, प्रताड़ित ;
धरा से उखड़ी लता-क्रोध-संचालित ।
रस्सी सी ही जलती थी धधक रही;
सर्पणी सी घायल थी फुंकार रही ।

अम्बा:- भीष्म ने जीवन - वृक्ष मेरा तोड़ा;
पति-पिता-गृह, कहीं क्या न छोड़ा ।
वृक्ष ने ही तो फल तोड़ फैंका ,
उसे धरा ने भी न स्वीकार किया ।''

परशुराम की शक्ति पर निर्भर थी ;
संग उसके कुरुक्षेत्र की थी ओर चली।
सरस्वती-लहरों में उछलन, चंचल थीं;
उद्वेलित तटों को तोड़ बहना चाहती थीं।

होत्रवाहन इत्यादि ऋषिगण संग चले;
कुरु-भूमि की ओर ही थे साथ बढ़े,
सरस्वती-तट पर ठहर आवास किया ;
भीष्म को आने का गुरु सन्देश दिया !

आने का निमित्त न था बतलाया;
भीष्म संशय-ग्रस्त था दौड़ा आया ।
साथ ब्राह्मण और पुरोहित लाए भीष्म;
स्वागत में करते गुरु को अभिवन्दन!

परशुराम सबने आतिथ्य स्वीकारा;
सुत-भीष्म आशीष दिया आँखो का तारा ।
लता सदृश्य लिपटे, सब वल्कल ढीले;
गुरु-वर से मिले मन-चक्षु भीगे ।

धैर्य-दिया भीष्म को, सब मंगल जाना;
परशुरामः- "सरस्वती-तट आने का हेतु न अनजाना ।
'अम्बा' के भाग्य को कर दिया काला;
कैसे तुमने अत्याचार यह कर डाला ?''

"नारी से ही स्वत्व उसका छीना;
वस्तु समझ लिया, तूने उसे जड़ कीना ।
पदार्थ नहीं है नारी, प्राण जगत की है;
जननी है सृष्टि का मूल केन्द्र भी है।।

मानवीय-अधिकार भी रखती है ;
स्वयंवर करने की उसमें शक्ति है ।
छीना यह अधिकार तनिक न सोचा ;
कुकर्म तुम्हारे, धर्म-पुण्य को सोखा ।

नारी का सम्मान ब्रह्मा सिखलाया ;
शक्ति-ब्रह्म की नारी रूप तो है पाया।
नारी शक्ति का केन्द्र ही होती है?
धर्म-नीति-आचार-सत्य को ढोती है ।

पंचतत्वों में पवन सरीखी है नारी ;
सृष्टि की पतझड़ में पुष्पों की क्यारी ;
सुन्दर कोमल तरल हृदय नारी ;
सौन्दर्य, जीवन की लपेटे है सारी ।''

पृथ्वी पर आलोक सरीखी है नारी;
सृजन की क्षमता उसपर निर्भर ही ।
नारी को अपनाकर नर समर्थ होता;
नीरस-जीवन बसन्त का उपवन होता ।

लता पुष्प खिलाती जग सुन्दर लगता;
उसकी श्रद्धा-ममत्व से धर्म है चलता,
संस्कृतियों की रक्षा बस नारी करती,
पुरुष-खड्ग उसके ही समक्ष है झुकती ।

भ्रमर तभी गुंजरित रस पुष्प लाता,
सौन्दर्य के सुमन सुगन्धि भर जाता,
नारी बिन सृष्टि यह अन्धकार भरी;
सभी विकास के केन्द्र में वही खड़ी।

पुरुष गृहस्थ बन्धन ही सृष्टि विकास;
कुइयाँ से जल; बँधा आता है बाहर;
पुरुष-शक्ति - प्रचण्डता उससे पाती ;
पृथ्वी तो रे भीष्म जननी कहलाती ।''

जीवन चुनने का उसको अधिकार मिला;
भीष्म कर्त्तव्य-मोहांध, क्यों छीना?
स्वयंवर में तुम अनुज लेकर जाते ,
शक्ति, पौरुष, बल उसका अजमाते ।''

उसकी हँसी लिए पुष्प हैं हँसते,
उसके अधरों से ही पंख हैं फड़के।
मधुरा-कमला-लक्ष्मी-रम्भा है नारी,
दुर्गा, चण्डी, काली है भयकारी ।

सृष्टि के अन्धकार में वह किरण सरीखी;
सृष्टि की बंजरता में है नदी लहरती :
पृथ्वी के जीवन की पवन बहा रही ;
कलियों-मधुपों को भी भ्रमित कर रही ।

इस धुँधलके में तो विकास चित्र है :
हृदय की असमंजस को करे निश्चित है,
विकास-सितारों की क्षितिज चुनरी ओढ़े;
दृष्टि के संग-संग चलता भ्रम, तोड़े।

हरी घास सी मखमल वह बिछी हुई है;
पृथ्वी के अंचल में शबनम सी चंचल हैं;
शुष्क धरा पर सुमन खिले ये रहते हैं,
काँटों को पत्तों में ये छिपा लेते हैं ।

प्रकृति पुरुष सुमनों बिन बनता बंजर;
मधु-मधुर - मधुरिमा सिन्धु मन्थर;
सृष्टि-सुधा - गंगा यह बहती हैं;
जीवन-मधु मस्ती से यह भर जाती हैं।

धीरे धीरे धरती प्रकाशित है पाती;
पुरुष - अन्धेरे से यह है टकराती;
श्याम-वर्ण फिर-सहज हरित में बदलें;
विकास के कण-क्षण फिर उभरें ।

नारी का अपमान दण्ड होता निश्चित;
संयम खोता नर रहता है दुश्चित;
शान्त कभी वह नर न हो पाते हैं;
नारी के घृणा भाव को जो सेते हैं?

सूर्य उदय होता किरण आलोक है यह;
महा-अग्नि प्रचण्ड-शान्त होती है यह,
सृष्टि के सृजन विकास में लीन फिर
नारी सी अग्नि होती विस्तीर्ण जिधर;

प्रचण्ड-आग फिर किरणों सी फैलाती ;
प्रातः -सुख किरणों में लेकर है आती ;
सूर्य-क्रोध ज्वाला, कल्याण कारी फिर ;
हृदय-विशालता आँचल सी फैली फिर ;

नारी हृदय से जिस भी नर. को बरती;
जीवन-भर वही चित्र हृदय स्थिर करती ;
नर जब उस नारी को पा जाता मन से
मांसलता को छोड़ अमरता तक जाता है ।

प्रेम-भाव जीवित जग में केवल नारी से ;
पुरुष-प्रेम का केन्द्र भी इस में अंकुरित ;
बीज-रूप में प्रेम - नारी हृदय में पनपे ;
पुरुष-सुमन सा उसी लता पर है खिलते ।

प्रेम भाव को हृदय - रस देती है नारी ,
उस बिन मुर्झाती नर सुमन फुलवारी ।
सूर्य-किरण सी-पुरुष प्रेम कमल खिलाती ,
सूर्यमुखी नर हृदय को है चकराती ।

रुका हुआ जीवन का अश्व है नर का;
शक्ति-गति' प्रेम भाव ही भर पाता है;
जन्म-जन्म से जुड़े हुए बन्धन हैं चलते;
मांसलता के रूप धरे - चले अवरुद्धते;

हृदय-प्रेम-उपजता - अस्थि मज्जा में रहता;
धुँधले में ही लुक-छिप-अमर भाव पनपा;
आत्म-तत्व से जुड़े प्रेम बन्धन चलते हैं ।
मांसल-सम्बन्धों में मगर-अमिट रहते हैं ।

अमर - भाव - हृदय अनुभूति चेतन है ,
अस्थि मज्जा में विवेक बंधा व्याकुल है ।
प्रथम-दर्श से ही आत्म - भाव हैं मिलते,
अस्थी-मज्जा के बन्धन-के पार हैं चलते ।

दृष्टि - स्वार्थ कलुष से अवरुद्ध रहती है ,
छूट इनसे - वह स्पष्ट सब देख लेती है ।
अनागत, आगत, भूत सम्बन्ध नज़र आते हैं;
स्थूल - ही फिर सूक्ष्म बन्धन बन जाते हैं ।

सूक्ष्म से जब हम सूक्ष्म तर होते हैं।
प्रेम-अमरता के सोपानों पे चढ़ पाते है;
आत्म के सम्बन्ध तोड़ पाता कब नर है;
विवेक-दीवार में कैदी-बस अकुलाता है।

पवन में कोटि-कण - कण फैले हैं;
मांसल आँखों से कब हम देख पाते हैं;
किरण-भाव में आलोकित सब होते हैं।
हमारे मांसल-बन्धन को सब खोते हैं।

'अम्बा-शाल्व के अपूर्व प्रेम बन्धन को,
काट दिया-स्थूल - प्रचण्ड तलवारों से;
नारी का प्रतिशोध ही तुमने जगा दिया है,
कमला से उसको चण्डी बना दिया है।

घायल सिंहनी को जंगल में छोड दिया;
भीष्म बिना विचारे तुमने अनर्थ किया।
नारी की कोमलता को तुमने ललकारा;
अपने ही भविष्य को तूने फटकारा;

मधु - हृदय में तुमने तो विष घोल दिया,
नारी के सम्मान को मलियामेट किया;
अभी समय है भविष्य अपना सुलझा सकते हो,
नारी - को सम्मान सहित अपना सकते हो।

अभी अग्नि में समय घी नहीं डाला,
अभी हवन में आहुति नहीं पड़ी,
अभी काष्ठ में कुछ तो जल है,
अभी नैवेद्य बनकर नहीं चढ़ी ।;

इस जीवन की वेदी पर बैठी,
प्रतीक्षा रत है सूर्य किरणों की
पंख-कटे है-मानव - शर से,
भूमि पर व्याकुल तड़पती,

मछली सागर से बाहर क्यों डाली?
तड़पन-पलटन-पीड़न से पछाड़ती,
आँखों में क्रोध की ज्वाला है;
भीष्म देखो, रही अश्रु निकालती।

भीष्म तुमने हर कर अम्बा को
एक - घना अपराध किया है,
वह तो शाल्व पर ही आसक्त थी;
प्रेम - सागर में वह तैर रही थी।

हरण किया तूने अकाम हो,
फिर अब क्यों परित्याग किया है?
लता धरा से ही उखड़ी जो,
यह तेरे कुकर्म का फल है।

भोग - रही जिसको अम्बा अब,
सत्यवती जो हृदय-पटल खोला था,
सत्य - पात्र के मुख से उसने;
भीष्म आवरण हटा दिया था।

स्वीकार शाल्व ने किया नहीं क्यों?
उससे युद्ध - कर पराजित करते,
अम्बा को स्वीकार कराते,
व्यथा - वेदना उसकी मिटाते ।

भीष्म:- "पुरुष-इच्छा से नारी बरती है;
जगती दिया अधिकार उसे है;
कैसे मैं? अम्बा को उस नर-शंकित को;
मैं सौंप; शक्ति से गुरुवर आता ?"

मर्यादा का उल्लंघन यह होता?
धर्म इसे स्वीकार न पाता ,
अम्बा को वह जीत सका न ,
फिर कैसे उस को अपनाता ?

इसे लौटना ही अब होगा ,
पिता - गृह - तो जाना होगा ।
मैंने बन्धन से तो मुक्त किया जब
स्वेच्छा से था इसको लौटाया ।

मैं अकाम ही था तब भी तो;
जब मैं था इसे हर कर लाया ।
इसमें कुछ अपराध नहीं था,
स्वयंवर से मैं उठाकर लाया"

परशुराम:- "क्यों? कैसे? अपराध नहीं था?
'स्वयंवर' से इसे तुम हर क्यों लाये?
अब यह तुम्हें ही वरणा चाहती,
इसे तुम अपनाओ अब भीष्म !

तुमने अपकार किया है इसका,
इसका उपकार करो तुम ही अब,
लता उपवन से उखाड़ी स्व हित?
उसको फिर आधार दो तुम ही ।

मेरी आज्ञा यही हैं सुनलो,
तुम्हें ही इसे अपनाना होगा?
ग्रहण तुम्हें इसे करना होगा,
धर्म - आज्ञा यही देता है ।

नारी का अपमान किया है ।
धर्म-विरुद्ध - आचरण किया है ?
सम्मान सहित इसको अपना लो,
कलंक चन्द्र - मुख से धो डालो;

भीष्म:- अम्बा को मैं अनुज हित लाया;
विचित्रवीर्य को इसने ठुकराया;
"वाणी से पति बना बैठी हूँ;
मैं शाल्व को अपना बैठी हूँ ।''

विचित्रवीर्य कैसे अपनाता;
शाल्व को हृदय जब चाहता;
धर्मोचित-ही कार्य किया है,
उल्लङ्घन धर्म का कहाँ हुआ है?

भय, दया, लोभ, काम वश होकर,
धर्म छोड़ना अपराध बड़ा है,
स्वीकार मैं न करता हूँ,
निश्चित व्रत पालन कर्ता हूँ ।''

परशुराम:- "धर्म कहाँ? शक्ति-बल अपनाया;
अपने कर्म को धर्म ही कहता;
व्याख्या करता वह जीवन की;
कुकर्मों को यूँ ही ढाँपे चलता?

स्वयंवर से हर लाना अधर्म है;
कर-पकड़-रथ बिठाना अधर्म हैं ।
शाल्व से युद्ध करना अधर्म था,
वस्तु नहीं कभी होती रे नारी?

अस्थि' मज्जा के भीतर हृदय रहता,
स्वत्व का अधिकार नहीं केवल नर का;
उतना ही धर्म - स्वत्व देता नारी को;
अपना कर्म तुम्हें धर्म ही क्यों लगता?

'यदि मेरी आज्ञा तुम न मानोगे,
व्यर्थ की अनुनय विनय कुछ न जानोगे;
भय से धर्म छोड़ तुम कब सकते हो?
अम्बा को स्वीकार भीष्म क्या करते हो?''

भीष्मः- आप मेरे गुरुजन हैं आज्ञा कर सकते,
धर्म की रक्षा के लिए भी युद्ध कर सकते?
पर मैंने तो अपना धर्म निभाया है ।
धर्म जान कर अम्बा को लौटाया है ।

परशुरामः- धर्म कभी अन्याय किसी से न करता?
धर्म की रक्षा हित सदा हूँ युद्ध करता
मानव हित की बात सदा थे तुम करते;
धर्म कभी भी छोड़ नहीं भीष्म सकते?''

''धर्म सदा कल्याण भाव से प्रेरित है;
स्वार्थ में यह नही, परमार्थ में है,
पुण्य-कर्म है वही जो पर दुःख हरता;
त्याग-अहिंसा सत्य, कल्याण है करता ।

धर्म नहीं पर नारी को यूँ हर लाना,
स्वत्व छीन सबला को, अबला कर जाना,
नर ही केवल धर्म रक्षक-नहीं होता भीष्म?
नारी धर्म - रक्षा में सदैव रहती है तत्पर?

धर्म - ओट कुकर्म छुपाना तुम क्यों चाहते?
हुआ बहुत-अन्याय नारी-मर्यादाएं सब टूटीं;
धर्म में मानव-कर्त्तव्य सदा छिपा रहता है,
मर्यादा का पालन करना सदा निश्चित है।

विचित्रवीर्य के लिये तुमने वरा इन्हें,
क्या ऐसा कार्य कभी भी उचित है ?
इच्छा-वर अधिकार समाज नारी को देता;
तुम्हारा यह कुकर्म क्या उससे नहीं लेता?

फिर कैसे धर्मोचित इसे ठहरा सकते हैं?
नारी के सम्मान को कैसे जला सकते है ।
यह है ऐसा कार्य पाप कहना कम है ?
सामाजिक - मर्यादाओं का उलटा क्रम है ।

जिसकी लाठी, उसी की भैंस बनाना चाहते;
धर्म को शक्ति-भय से तुम उलटाना चाहते;
जननी का अधिकार छीन न सकते हो;
अपनाओ अम्बा को; धर्मोचित रहते हो?

नहीं तो शाल्व को जाकर समझाओ,
हुआ जो है अधर्म, उसे पलटा कर आओ?
नारी को अधिकार-दिला कर धन्य बनो ,
समाज में दिला सम्मान, गांगेय बने रहो !''

नारी के महात्याग, संवेदना का ही फल हो,
गंगा की अमृत-धारा से होकर निकले हो,
माता के संस्कार सभी क्यों लुप्त हुए?
राज्य-सिंहासन से बंधे क्यों पशु रहे?

धर्म भीष्म मात्र व्यक्ति का आचरण है?
मानवता का भला सदा इसका केन्द्र है;
किसी स्वार्थ से भी यह कभी नहीं बँधता ,
नर नारी को कभी पशु नहीं होने देता ।

धर्म बंधा नहीं चलता कभी शासन से,
शासन को ही तो बंधना पड़ता इससे,
शक्ति-सम्पन्नता अर्थ नहीं स्वेच्छा करना,
धर्म को रथ में अश्वों सा बंधित करना ।

धर्म त्रास हरने में; स्व-सुख खोने में;
धर्म पर सुख में; कभी न स्वार्थ ढोने में;
धर्म - विशाल सागर असंख्य जीवन पाते;
मृत्यु-वरण जब करें, तटों पर फैंके जाते।

धर्म श्यामला बन सृष्टि जीवन बनता,
वह कृषक बन कर जगत की भूख हरता,
तृषा-शान्त करता है, छाया है वृक्षों की,
मेघ बरसते हैं मरु-भूमि-बसंत करता ।

धर्म सदा देने में, कभी न लेने में,
अम्बा को दो सम्मान, जो है तुम ने छीना;
नारी का आंचल - अश्रुओं से क्यों भीगा?
लक्ष्मी-सरस्वती-रहने दो, न चण्डी करे लीला ।

व्यथा, वेदना, पीड़ा क्यों उसको देते हो?
करुणा, ममता, त्याग, प्रेम क्यों लेते हो?
कमला, उमा, सविता, मधु उसे रहने दो,
गंगा, यमुना, सरस्वती ही बन बहने दो ।

नारी की शक्ति को तुम न ललकारो,
धर्म-शिला पर बैठे, यूँ ही न चिंघाड़ो?
धर्म-अधर्म की बात, न अपने हित मोड़ो?
अधर्म-अनीति से भीष्म मत नाता जोड़ो?

बिना विलम्ब किये अम्बा को अपनाओ;
नहीं युद्ध भूमि में गुरु को ललकारो?
धर्म की रक्षा हित ही युद्ध करुँगा मैं?
प्रिय-शिष्य-पर भी बिजली बन, पड़ूँगा मैं?''

भीष्म:-"गुरुजन युद्ध की ठानी; मेरी प्रतिज्ञा;
युद्ध - चुनौती से भागना न मैंने सीखा,
धर्म अधर्म का निर्णय सदा युद्ध है करता,
जो विजयी होता , वही धर्म व्याख्यायित करता ।"

जीते यदि आप तो धन्य-जन्म यह मेरा होगा,
गांगेय इस अभिशप्त जीवन से मुक्त होगा,
अवहेलित, प्रताड़ित, तिरस्कृत हूँ समाज,
स्वत्व लूट लिया, मेरे ही रक्त मांस?

ऐसा शासन से बँधा मैं तो स्व से. टूटा हूँ,
मात-पिता के स्वार्थों से बँध कर लुटा हूँ ।
उनकी आज्ञा के निमित, बलि पशु हूँ मैं,
कब से मानसिक पीड़ा को झेल रहा हूँ मैं ।

यदि आज्ञा मैं मानू तो माँ व्रत टूटे,
'सत्यवती' माता का हृदय-कलश फूटे?
अपने स्वार्थों से बांध संचालित करते;
मेरा स्वत्व-बोध सदा है मुझ से हरते।

न जाने किस भाग्य-रेखा से जलता हूँ,
मैं सदैव-इसी तरह-गरल माँ पीता हूँ,
विष मेरे हिस्से में गुरुवर आया।
दुर्भाग्य मुझे इस युद्ध में खींच लाया ।

मैं पराजित हो मृत्यु का वरण करुँ,
सूर्य सम जलते रहने से मैं माँ छूटूँ?
असंख्य बार मृत्यु ही मुझ से पलट जाती,
जीवन-कष्ट-सागर में फिर उतरा जाती ।

शीतलता सुखमय छाया से वंचित हूँ,
जलने का अधिकार लिये मैं जलता हूँ;
जन्म से मां गंगा के जल से बाहर हूँ !
मैं मखमल तो नहीं कांटों का सागर हूँ ।

भय से व्याकुल हो मार्ग न छोड़ सकूँ?
यदि युद्ध अनिवार्य, मुख न मोड़ सकूँ?"
सुनकर आग बबूला हुए गुरु गरजे;
युद्ध का समय कर निश्चित, वह लौट पड़े ।

दशम पर्व

भीष्म परशुराम युद्ध, शिव पूजन

1

भीष्म सुसज्जित हो युद्ध भूमि में आये;
कुरू-भूमि में गुरुवर भी आन बिराजे;
भीष्म को गुरुजनों ने आशीर्वाद दिया फिर,
अश्वों को रथ में जोता-हृदय-राग न पकड़े ।

ब्राह्मणों के पुण्य वचन; मंगलाचरण किया था;
विजयी-युद्ध में हों धार्मिक अनुष्ठान किया था,
'गंगा' प्रकट हुई अचानक भीष्म-युद्ध तत्पर थे ।

गंगा:- "तुम क्या करते हो बेटा गुरुवर-की बात स्वीकारो?
भीष्म व्रत को छोड़ों, सहज मानव रूप तुम धारो ।
नारी सम्मान है चाहती, अधिकार उसे लौटा दो,
अबला न रहने दो तुम, सबला ही उसे बना दो ।

'गंगा' की लहरों में अमृत विष रूप न बनने देना,
नारी स्वत्व खोने का, अपराध-बोध मत ढोना,
समय-भाग्य ले आया, भीष्म इसको स्वीकारों
गुरु-धर्म-शास्त्र-सम्मत, आज्ञा, को ही तुम पालो ।

व्यर्थ न होने दो तुम बल-तेज वसुओं से पाया,
शक्ति का रूप उसे दो जगती पाये फिर काया,
अम्बा, का दोष यही है, उसने सत्य अपनाया ।
हृदय के प्रेम-राग को, पत्थर से जा टकराया?

भीष्म:- "मां टूटेगा व्रत मेरा-ऐसी न दो तुम आज्ञा,
भीष्म कैसे रह पाऊँ-जो व्रत मैंने पलटाया ।
मां की ममता मैं चाहूँ, संसार नेह से वंचित,
ऐसी शिला पे खड़ा हूँ, हटना अब नहीं संभव?

गंगा:- "परशुराम को जाकर बेटा हूँ मैं समझाती,
प्रार्थना-विनय हूँ करती उनकों तू ठहर मनाती,
उनसे न युद्ध करो तुम, तुम जीत सकोगे कैसे ?
वह महाबली जगती में, उनसे टकराना है-कैसे?

हाथ-जोड़ कर भीष्म, माता को सब बतलाया,
"अनौचित्य-आज्ञा है उनकी, कैसे पालन कर सकता
धरती को माता छोडूँ-तो रसातल ही मुझे मिलेगा?
आत्मा पर भारी-बोझा, इसको न ढो सकूँगा?

2

भीष्मः- कुछ ऐसे लेख लिखे हैं पर्वत से टकराता;
हर-प्रहार से माता-कुछ टूट ही मैं जाता,,
अन्त-स्चेतन-अनुभूति कुछ ऐसी जाग पड़ती,
सांसारिक-तन-बन्धन से मुझे दूर बहुत करती?

प्रपात सदा गिरता है-पग-पग ठोकर खाता है,
धरती पर गिर माता, सम-गति वह पाता है,
मैं तो प्रतिपल गिरता हूँ प्रस्तर हैं ठोकर देते,
धरती न मुझको मिलती, प्रपात बने दिन गिरते ।

प्रचण्ड-कर्म रेखा है, कोमल-हृदय पर टूटा,
लोहे सी-राज्य जंजीरे, मेरा जीवन-क्रम कैदी है,
युद्ध तो करना ही होगा, कुसमय जहाँ लाया,
लोह-शिला से टकराने को क्यों व्याकुल माथा ?

शायद यह माथा फूटे, और चूरचूर हो जाये,
व्यथा-वेदना का सागर विगलत हो पाये,
मैं एकाकी-सागर-दुःख धरती पर फैला हूँ,
पूर्व कर्म फल को, धरती पर भोग रहा हूँ ।

जन्म दिया माँ क्यों मुझको, लोह-पुरुष बना हुआ हूँ;
अनुराग-अनुभूति-संवेदना हृदय तो, भटक रहा हूँ !
नहीं कह पाता मैं माता, हृदय की बात किसी से,
बन्धन से मुक्त-मृत्यु ही, तो कर सकती है मुझको ।

कँत्तर्व्य-शिखर पर बैठा-छलांग कहां लगाऊँ,
भावागत-उथल-पुथल को, जगती को क्या दिखलाऊँ?
प्रताड़ना तो पल-पल, मुझको समय है देता,
नित्य नया कर्तव्य-पर्वत सा सामने खड़ा है मिलता?

कर्त्तव्य-छोड़ दूँ कैसे-अनुभूति लहर में बह कर?
सागर-ज्वार-भाटा है , प्रचण्ड-लहर, उथल-पुथल,
झंझावात-भावनाओं का, सागर में रोज उतरता,
कर्त्तव्य-जलयान पर माता मैं, छोड़ कहाँ अब सकता ?

जब टूटेगा सागर में तो लील मुझे यह लेगा !
अस्तित्व धरातल पर, तिनको सा ही बिखरेगा !
युद्ध नहीं चाहता, पर द्वार पर खड़ा होता है?
दुर्भाग्य मेरा हर-पल तो इस में खींच रहा है?''

'गंगा' की पलकों पर भी अश्रु-मोती चमकें थे;
सुत की विवश-व्यथा से वह भी तो परिचित थे;
अभिशप्त-गात मिला, रहस्य गंभीर गहराया;
कुसमय में 'गंगा' ने यह फूल तो था खिलाया ।

अन्धकार-फैलता जाता, तारागण लुप्त हुए थे ।
न चन्द्र ही उदय हुआ था, अमावस फन फैले थे ।
अनुभूत किया गंगा ने, उसको कुछ समझ न आता,
युद्ध-रत दिखता था भीष्म, लथ पथ लगता था माथा।

माँ का हृदय तो ग्रीष्म में जैलाशय सा सूख रहा था,
सूर्य-तपन थी बढ़ती-वाष्प बन कर बिखर रहा था,
गंगा:-"परशु के पास मैं जाकर-सुत उनको हूँ समझाती;
महाबली-महा-पुरुष को - हूँ व्यथा अपनी बतलाती ।"

परशुराम से हुई निवेदित-युद्ध को पर टाल सकी न,
उस लोह-हृदय-शिला को वह तो पिघला पाई न,
स्वीकार किया न उसने, ममता के कोमल स्वर को
युद्ध-होना तो है निश्चित-कुरुक्षेत्र रण-थल में तो ।

दोनो मैदान में उतरे-अम्बा हृदय हर्षाता,
सिंहों के भिड़ने को विजय ही मान रहा था,
नारी-सम्मान को, चूर-चूर भीष्म किया था,
भरी-सभा में उसपर हिंस्र बाज झपटा था?

भीष्म-रथ पर था बैठा, परशु धरती को पकड़े,
इस असमान स्थिति में युद्ध कैसे थे कर सकते?
"गुरुजन इस अवस्था में युद्ध करना तो अनुचित है,
लड़ना यदि चाहते गुरुवर-कवच धारण, रथ उचित है।

परशुः- भीष्म पृथ्वी ही मेरा रथ है, चारों वेद घोड़े हैं इसके;
साम, यजु, अथर्व-ऋग्वेद, की हूँ लगाम में पकड़े,
चतुर्वर्ग-फल इनमें-धर्म - अर्थ - काम मोक्ष मिलता है;
पांच महायज्ञों के हेतु, फल रूप मुझे मिलता है।

वायु-सारथी बनकर-तो साथ-साथ चलता है,
दिशा-बोध का भ्रम न, सब कुछ स्पष्ट दिखता है ।
प्राण-मेरे इस रथ को धर्मोचित युद्ध में हैं लाये,
वैदिक ज्ञान-ध्वज को, इस रथ पर हैं फहराये ।

सुन गायत्री कवच है मेरा जन्मों में रक्षित;
है धर्म-तत्व-सार इसी में; अमरत्व तो साथ है चलता ।
शान्ति - अलौकिक इसमे ; सृष्टा का मुख ही यह है,
इसके ओढ़न में स्वर्गिक-सुख-शान्ति, सकल फैली है ।

इनसे सुरक्षित होकर-कुरुभूमि में आया हूँ,
पार्थिव-रथ की तृष्णा को भीष्म न ललचाया हूँ ।"
इतना कह भीष्म पर बाणवर्षा होने लगी फिर;
भीष्म न जाना इच्छा मात्र से, रथ-दिव्य पर बैठे ।

इच्छा मात्र से कल्पित वह दिव्य रथ पर आन बिराजे;
दिव्य घोड़ों से थे चलते, शस्त्रास्त्रों से थे सुसज्जित,
कवच भी ऐसा पहना जो नज़र नहीं आता था :
भीष्म ने धनुष-वाणों को रखकर-रथ छोड़ दिया था पल में।

गुरुजन के पास पहुँच कर, चरणों में वन्दित वह थे,
युद्ध करने की आज्ञा फिर-गुरु से वह माँग रहे थे,
जय होने का भीष्म ने उनसे आर्शीवाद जब मांगा,
ठिठ्के थे गुरुवर ऐसे जैसे स्वत्व किसी ने मांगा ।

परशु ने भीष्म के इस कृत की कि प्रशंसा भूरि,
उसके इस व्यवहार को आदर्श उन्होने बतलाया,
युद्ध करने की दी आज्ञा, और आर्शीवचन कहा था,
"मैं जय करने के हेतु, युद्ध तुम से तो करता हूँ ।
तुम्हें विजयी होने का आर्शीवाद न दे सकता हूँ ।

तुम अपने सम्मानित बल की रक्षा कर जाओगे,
गुरु की हत्या का दोष तुम कभी नहीं पाओगे ।
हम गुरु-शिष्य नहीं है-सम-योद्धा युद्ध भूमि में;
मुझे पराजित करने का पूर्ण व्रत पराक्रम दिखलाओगे।''

भीष्म संग्राम छिड़ा फिर-शस्त्र प्रहार घना था,
बाण सहस्रों छूटे युद्ध का जब शंख बजा था,
भीष्म-रथ-अश्वों पर तो अंगारे-बरस रहे थे,
प्रतिकार कर रहे-साहसी-सागर को रोक रहे थे।

भीष्मः- "भगवान आपने मुझपर बहुत से हैं बाण चलाये;
मेरे रथ अश्वों को मूर्छित ही किया है गुरुवर,
मुझ पर उन बाणों का प्रहार हुआ कुछ भी न;
छोड़ी गुरु की मर्यादा भले ही आपने युद्ध में ;
हृदय से मैं तो आचार्य ही तो मान चुका हूँ ।

मैं निवेदित यह कहना चाहता धैर्य से गुरुवर सुनलें;
आपके पार्थिव शरीर में बैठे मुझे वेद नजर हैं आते;
रोक रहे वह मुझको, ज्ञान, सत्य, धर्म अवलम्ब;
ब्रह्म तेज नज़र भी आता जो फूट रहा है अंग-अंग ।

मैं उन्हें नमन करता हूँ, वेद सर्वस्व हैं मेरा तो;
आपकी हुई तपस्या पर प्रहार नहीं कर सकता;
यह सब हैं पूजनीय मुझको, श्रद्धा-सहित वन्दन है,
ब्रह्म् तेज, वेद, तपस्या हित जग गुरु अभिनन्दन है ।

ब्रह्म-शस्त्र धारण करने से क्षत्रिय भाव को पा जाता है;
वह पूजनीय-तन से फिर, जब खड्ग घरे आता है ।
मैं भी गुरुवर सुन लें, हूँ क्षत्रिय भाव पर प्रहारित,
अब मैं बाहुबल और धनुष का प्रभाव करूँ स्थापित।

मै अभी क्षण-भर में तो धनुष काट डालूँगा।''
जैसे ही धनुष-बाणों को छोड़ा, धनुष टूटा था उनका,
आश्चर्य चकित फिर देखें, ऐसे बल की न थी आकांक्षा,
धनुष, कटा धरती पर-उठा नहीं पाते भरी निराशा ।

नित्य घात-प्रतिघात होते थे-पराजित तो कोई नहीं था,
वसुओं की शक्ति-प्रचण्डता तो भीष्म लिये खड़ा था,
दिन - बीत रहे थे युद्ध में सिंह गर्ज रहे थे दोनों;
हस्ती चिंघाड़ रहे थे, कुरु - क्षेत्र-रण में तो दोनों ।

शौच, स्नान, संध्या आदि नित्य कर्मों को करके,
युद्ध में डट जाते फिर प्रातः से संध्या तक दोनों;
दोनों ही थे बलशाली-सम्पूर्ण शक्ति के स्वामी,
हार जीत का निर्णय-दुर्लभ, थे दोनो विजय-कामी ।

निरन्तर तेईस दिनों तक युद्ध चलता रहा भयंकर,
अम्बा-हृदय-सागर में मचती थी रोज़ तो हलचल,
उसके जीवन की नौका भव-सागर के भँवर में;
चकराती थी नित्य दिवस में, रुक जाती हर संध्या में ।

उसको दिवस आशा-किरणें तो लेकर था आता,
हर संध्या, ढलता सूर्य, रात को करता काला,
सिंह डटे रहे थे घायल पराजय पर न स्वीकारें;
अम्बा की आशा-माला के टूटें मनके थे सारे ।

एक दिन फिर भीष्म दिव्यता से देव पुकारे;
प्रार्थना-करके-शुद्ध-हृदय से, " नींद में डूब गये थे,
उन्होंने संकल्प किया यदि गुरुवर को हरा सकता हूँ,
तो देव मुझे दें दर्शन-स्वप्न लोक में पा सकता हूँ ।

वे दाहिनी करवट ले कर निद्रा में डूब गए फिर;
सातों वसुओं ने ब्राह्मण के वेश में आकर;
दर्शन दे उन्हें कहा," 'प्रस्वाप' अस्त्र उठाओ;
पूर्वजन्म में तुमको यह ज्ञात भीष्म चलायो ।

जैसे तुम स्मरण करोगे 'प्रस्वाप' चला आयेगा,
परशुराम शक्ति बल को चूर चूर ही कर जायेगा,
इसके बल पर वसु तुम गुरुवर को जीत हो सकते;
उसका प्रयोग करने से वह युद्ध भूमि में हैं सो सकते ।

इस तरह भीष्म तुम्हारी युद्ध में विजय है निश्चित
प्रयोग 'प्रस्वाप' का करते हुए, होना तनिक न दुश्चित,
'सम्बोधन' अस्त्र से फिर संज्ञा गुरु की लौट आयेगी,
जीत होगी तुम्हारी भीष्म,मृत्यु गुरु के पास न आयेगी।

अगले दिन परशुराम ने ब्रह्मास्त्र ही था चलाया,
भीष्म ने शान्त करने को ब्रह्मास्त्र ही तो अपनाया,
चारों ओर हाहाकार मचा था, त्राहि त्राहि-गूँज उठी थी;
भीष्म ने 'प्रस्वाप' छोड़ने की तो अन्त में ठानी थी।

देवताओं ने भीष्म को ऐसा करने से रोका;
क्रोधित इस महाबली ने तो इसको था ठुकराया,
'प्रस्वाप अस्त्र' को उसने उठा लिया हाथों में था,
नारद ने हाथ आ पकडा, सातों वसुओं ने रोका ।

प्रभास इसे मत छोड़ो सृष्टि विनष्ट ही होगी ।
गंगा की पावन-धारा, मृत्यु लोक से तो सूखेगी ।
भीष्म-स्वीकार किया यह-जन-कल्याण भाव से प्रेरित;
गंगा कीअमृत-धारा, बहती रहे निरन्तर भू पर ।

नारद-सातों वसुओं को परशुराम ने था पहचाना,
भीष्म में छिपी-असीम शक्ति के रहस्य को भी जाना,
सहसा वह बोल उठे फिर भीष्म जीत लिया है मुझको;
जो अस्त्र नहीं वह छोड़ा, शिष्य कर्त्तव्य निभाया सुन लो;
लो आशीर्वाद अब तुम विजय का पहले जो तुम्हें मिला न,
शक्ति-सर्वोत्तम सारी, सुत छुपी हुई है तुममें ।

परशुराम के पितामह जमदग्निने युद्ध भूमि में प्रकट होकर,
उसे युद्ध करने से रोका, पितरों ने भी तो आकर,
देवताओं और ऋषियों ने इस भयंकर युद्ध को थामा,
भीष्म ने जाकर गुरुवर के चरणों मे शीश झुकाया ।

गुरु भीष्म से बोले; "वीरवर, पृथ्वी पर योद्धा न क्षत्रिय तुम सा,
युद्ध कर संतुष्ट बहुत हूँ-तुम जैसा कौन बली था,
शक्ति-प्रचण्डता-शौर्य मानव का अन्तिम छोर तुम हो,
अरे धन्य हुआ वह कुरु वंश जिसके संरक्षक तुम हो ।"

अम्बा से बोले-"मैंने तो 23 दिनों तक युद्ध किया है,
पर इस शक्ति के अटल शिखर को मैं तो हिला सका न,
मुझ में इससे अधिक - बल - पौरुष शेष नहीं हैं ;
तेरी भाग्य रेखा में अम्बा भीष्म की रेखा नहीं है ।"

अम्बा:- भगवन आपका सत्य है कहना, आंखों से देखा है,
बड़े - बड़े देवता भी इसको जीत नहीं हैं सकते,
अलौकिक शक्ति ही देख रही हूँ, इस अस्थि मज्जा में बैठी,
अब जाकर मैं तप करूँगी, शक्ति अलौकिक है ऐसी ।

भीष्म चाहना की ज्वाला अब शान्त न होने दूँगी,
शिव से शिवता पाने को, घोर-भीष्म तप करूँगी,
किया मेरे हित-युद्ध है, प्रथम बार पराजय स्वीकारी,
धर्म की रक्षा के निमित्त गुरुवर आपने न बाजी हारी ।

नारी बल को मैं जागृत कर भीष्म को न तोड़ सकूँगी,
शिव-अराधना में लीन हो, शक्ति का उपक्रम करूँगी,
ऋषि श्रेष्ठ दें आशीर्वाद-धन्य हो सकूँ आत्म बल से;
घोर-तपस्या की क्षमता भर जाये-ऋषि वरदान बल से।

बोले गुरु-विहव्ल होकर, "क्यों अन्याय मिटा सका न?
अम्बा उखड़ी-लता को, धरती फिर दिला सका न?
नारी की आधार-हीन स्थितिसमाज में, उत्पीड़न देती;
शासन-सत्ता-बल की असि तो-क्यों अबला पर चलती?

बेटी आशीर्वाद है मेरा-लक्ष्य तक अवश्य पहुँचेगी ।
शिव आराधना के बल पर-शिव वरदान पायेगी ।
लक्ष्य यदि सामने हो, मंजिल पर हम पहुँचते;
परिश्रम, एकाग्रता, आत्मबल पर नगों को चलें चीरते।''

आशीर्वचनों की वर्षा अम्बा को साहस देती;
उखड़ी हुई धरा से वट सी फिर धरा पकड़ती;
जीवन माला के मनके-बिखरे समेट रही थी;
गुरु से गुरूता संकल्प वृक्षों को जमा रही थी ।

शिव की अराधना में फिर लीन हो जाऊँ ऐसे;
सागर में नदिया ही वह समा रही हो जैसे;
ज्वार-भाटा हृदय का शिव-सागर में सिमटेगा,
घोर तपस्या के फल-महादेव धरा उतरेगा ।

"इस तुच्छ शरीर से देवी तुम लक्ष्य नहीं पा सकती,
भीष्म की दिव्य शक्ति से तुम टकरा कहाँ हो सकती?
भक्ति के चरम शिखर पर देवी तुम आन बिराजी,
मेरी-कृपा मिलेगी जन्मों तक साथ चलेगा देवी बड़भागी ।''

"निद्रा-आलस्य-अकुलाना, यहाँ व्यर्थ हो रहा मेरा?
शिव पूजन में ही होगा सम्भव कल्याण तो मेरा;
सत्य यही है-भीष्म तो बंधा-वचनों से- कर्त्तव्यों से,
पत्थर होना ही उसकी नियति है इस धरती पे ।

अम्बा :- गुरुवर-मार्ग दिखलाएं संताप छूट यह पाये;
माया का यह-बन्धन मन मेरा छोड़ न पाये?
जन्मों से भीष्म गुरुवर मुझको लगता है मेरा;
ज्ञान की ज्योति जलाएं अन्धकार दूर हो मेरा ।

परशुराम :- सुख और दुःख, लाभ ओ हानि, तन की माया;
जय-पराजय, एक जानो, यही ज्ञान बतलाया;
सांख्य-योग कहे जन्म-मृत्यु सुख-दुःख अनिवार्य !
हर्ष-शोक आशा-निराशा,विरह-मिलन अपरिहार्य ।

भोग एवं ऐश्वर्य आसक्ति विवेक मिटाये अम्बा;
नित्य, सत्य-वस्तु स्थिर न हो चित्त अम्बा ;
आसक्ति त्याग कर योगस्थ जो रहते हैं,
समत्व बुद्धि का आश्रय लेकर चलते हैं;

पाप-पुण्य सुमन स्पर्श नहीं कर पाते,
मोह-रूपी कीचड़ में नहीं समाते,
कर्म उत्पन्न फल को ठुकरा कर;
समता योग से मुक्ति अपनाकर ।

दुःख से न दुःखी, सुख से न सुखी,
राग, भय और क्रोध रहित-स्थिर बुद्धि ।
कूर्म की तरह जो इन्द्रियां समेट लेता है,
विषय-वासनाओं के मोहबंध काट देता है !

इन्द्रियां प्रमथनशील, मन वश करती हैं;
विषय आसक्ति में कामनाएं क्रोध भरती हैं,
क्रोध से मूढ़ता, से स्मृति भ्रांत, ज्ञान नाश होता है;
अम्बा, ज्ञान नष्ट हो जाए मृतक समान होता है ।

यहाँ समत्व नहीं, कहां विवेक और भक्ति है?
भक्ति नहीं शांति कहाँ, सुख की यही शक्ति है?
विषयाचारी मन वायु में नौका दौड़ाता रहता,
बुद्धि-विचार छोड़े नर पशु तुल्य हुआ विचरता ।

सब कामनाओं को त्याग जो चलता है,
ममता-अहंकार रहित - शान्त रहता है ।
राग-रहित होकर यथार्थ कर्म करता, अम्बे;
इन्द्रियों के सुख-दुःख में फंसा नहीं रहता है ।

अज्ञानी आसक्ति में फंसा कर्म करता है,
ज्ञानी लोक-कल्याण-हित आगे बढ़ता है ।
स्वधर्म स्वेच्छा से अपना कर उसे बढ़ाते;
परधर्म का त्याग, कभी नहीं गले लगाते ।

जैसे धुएँ से आग, मैल से दर्पण ढक जाता,
झिल्ली से यूँ गर्भ, कामादि से ज्ञान ढक जाता,
इँद्रियाँ, मन और बृद्धि अगिन के निवास हैं,
देहधारी बेसुध करते, विषयों के ही दास हैं ।

इद्रियाँ सूक्ष्म हैं, पर मन अधिक सूक्ष्य हैं,
बुद्धि उससे सूक्ष्य, आत्मा अति सूक्ष्य हैं;
बुद्धि से परे आत्मा को अम्बे पहचानते हैं जो;
मन आत्मा से वश करते शान्ति पाते हैं वो ।

हे अम्बा: जब जब धर्म मंद पड़ता है;
अधर्म जोर करता, तब-तब धर्म प्रकटा है ।
राग, भय, क्रोध-रहित फिर ज्ञान पनपा है;
अकर्मी होकर धर्म-जीव कर्म तो करता है ।

कर्म-अकर्म, निषिद्ध कर्म मे भेद तो भारी है;
कर्म में जो अकर्म देखता वह ही तो ज्ञानी है;
अम्बे, अकर्म में जाने कर्म, यही सत्य निशानी है ।

कामना औ संकल्प रहित ज्ञानी कर्म करता है;
कर्म-फल का त्याग किए संतुष्ट ही चलता है ।
आशा रहित हो मन-वश कर कर्त्तव्य निभाता;
शरीर कर्म में लीन हुए, आत्मा को जगाता ।

यथालाभ से संतुष्ट-सुख-दु:ख द्वन्द्वों से दूर;
द्वेष-रहित राग-रहित, मुक्त, कर्म बन्धन से दूर ।
आसक्ति-रहित चित्त ज्ञानमय मुक्त कहा जाता है;
कर्त्तव्य-कर्म करता यथार्थ में लय हो जाता है ।

अम्बा, ज्ञान-कर्म-संन्यास योग और ध्यान लगाते हैं ।
इन सोपानों पर चढ़ योगी अक्षर-ब्रह्मा तक जाते हैं ।
अर्पण ब्रह्म, हवि-ब्रह्म, अग्नि-ब्रह्म में यज्ञ जो करते,
कर्म में रह अकर्मी-हवन से ब्रह्मा ही हो जाते हैं ।

द्रव्य-यज्ञ से ज्ञान-कर्म-यज्ञ कहीं उत्तम होता;
मोह-ममता-आशा-सुख न, विवेक सर्वोत्तम होता ।
ज्ञान रूप होता आत्म फिर मोह न, रहता है;
भूतमात्र को आत्मा में फिर र्स्वेश्वर दिखता है ।

प्रज्वलित-आग जैसे ईंधन को भस्म तो करती हैं ।
ज्ञान-अग्नि कर्म आसक्ति को भस्म करती है ।
ज्ञान से बढ़कर इस जगती में कुछ न पावन है ।
योग, समत्व पूर्णनर करते ज्ञान-का आराधन है ।

श्रद्धा - विश्वास जगाकर मन में संशय भगातें;
समत्व-द्वारा कर्म-फल त्याग आत्मदर्शी कहलातें ।
अम्बा हृदय ज्ञान से उत्पन्न संशय आत्म-ज्ञान मिटाता;
कर्म-संन्यास और कर्म-योग दोनों मुक्ति प्रदाता ।

पाप कर्म ही निषिद्ध कर्म अज्ञान कराता;
पुण्य कर्म ही सत्य कर्म है ज्ञान कराता ।
आत्म ज्ञान द्वारा अम्बा अज्ञान नष्ट होता ।
सूर्य-सम प्रकाश-ज्ञान सत्य का दर्शन होता ।
ज्ञान-ही पाप मिटाता, पुण्य को फैलाता है;

ईश्वर-ध्यान में तन्मय कर मुक्ति दिलाता है ।
अनासक्तियोग सुख-दुःख द्वन्द्व नष्ट करता;
प्रिय मिलने न मिलने से दुःख विरह न जलता ।

आन्तरिक आनन्द, हृदय में शन्ति, अंतर्ज्ञान से है?
पाप ध्वस्त, शंकाएं नष्ट, अम्बे स्वामी-मन का है?
विषयों को दृष्टि भृकुटी-स्थिर कर, सुकर्म करते;
प्राण-समान, छोड़ इन्द्रिय-बुद्धि-मन-वश कर रहते।

इच्छा, भय और क्रोध रहित नर सदा मुक्त होते हैं;
मन संकल्पों को त्याग, आत्मा को मित्र करते हैं,
चित स्थिर, वासना - छोड़ अकेला रहते हैं;
आत्मा में ही मन स्थिर, निस्पृह को योगी कहते हैं ।

पृथ्वी में उसकी सुगन्ध, अग्नि में उसका ही तेज;
प्राण-वायु में वही जीवन; तपस्वी के तप में देख?
माया का आवरण-हटा; सनातन जो है बीज उगा?
त्रिगुणी दैवी आसक्ति छूट; प्रभु भक्ति सुख पा ।

योगमाया से ढका सत्य, सुख-दुःख द्वन्द्व मोह ग्रस्त;
अधिभूत-दैव-यज्ञ युक्त पहचान समत्व-शान्त न त्रस्त;
अधियज्ञ देह रूप, अधि भूत ईश्वर-स्वरूप अधिदैव जीव-रूप,
अम्बा, प्रकृति-जीव, ईश अंतकाल भी चलते, स्मरण रूप ।

यह सनातन है अव्यक्त भाव आत्मा के रहता साथ साथ;
व्यक्त-अव्यक्त सब भूतमात्र, ज्ञान-कर्म पहुँचते आस पास;
उत्तरायण के छः मास, शुक्ल पक्ष, दिन को तो तजे प्राण;
योगमाया से होता दूर, अधिभूत ब्रह्म ज्ञाता विद्वान ।

ज्ञान औ अज्ञान दो हैं मार्ग, अम्बा जो चाहे स्वीकार;
ज्ञान मार्ग हैं मोक्ष मार्ग, अज्ञान मार्ग में पुनर्जन्म प्राप्तः
अज्ञान में आसक्ति, योग-माया, मन - संकल्प - विकल्प,
मृत्यु के क्षण जिस ओर ध्यान हो, उसी ओर आते है लोटं ।

एकादश-पर्व

अम्बा आत्म चिन्तन

विचार औ अनुभूति है सार्थक सब,
व्यक्तित्व-निजत्व से होते सम्बद्ध ।
अन्तर्मन में धटित संगति-विसंगति,
समग्रता में समझ आती जब तब ।

मानव की व्यापक होती समग्रता-
की ओर बढ़ाते कदम सदा चलते हैं ।
परम-प्रत्यय के सार तत्व को -
समग्रता से ही मन पलते हैं ।

ये विचार और अनुभूति दूर ले जाती;
मानव - मानव में भेद और बढ़ाती;
वस्तुगत दृष्टिकोण हृदय जब पाता;
व्याकुलता निराशा को और बढ़ा जाता ।

ये चिन्तन मन मेरा तो स्वीकारे न;
पदार्थत्व कुछ और पंख निहारे न;
दस्तुगत चिन्तन निराशा लाता है;
मनोवेगों को रोक कहाँ यह पाता है?

त्रिशंकु सा हुआ स्वत्व है छीना;
मन आग़त की शंकाओं से झीना;
'स्व' की पहचान नहीं मन कर पाता;
'शाल्व' ठुकरा पीड़ा ही है भर लाता ।

अस्तित्व ही अनास्तित्व किया मैंने?
घोर उदासी को निमन्त्रण दिया मैंने ।
स्व हाथों से ही लता उखड़ी जीवन की;
स्व चाहना ने ही अपमान दिया है ।

बालू से ही भवन बनाना मनचाहा;
एक पवन के झोंके ने तोड़ गिराया;
भाव-लहरों पर ही अस्तित्व लहराता,
अस्तित्व भावनाओं की तो घनीभूतता !

समय-मगर बन मन-मछली निगला;
भावना के घर बैठा अति चंचल था;
तरु-शरीर की शुष्क अस्थियों में;
भाव ही अग्नि बन जलता एकांत क्षणों में ।

इसी आग में छिप जीवन है चलता;
भावना से अलग कहाँ है रहता ।
'शाल्व' को वह तो अब न स्वीकारे;
अपमान-बोध की पीड़ा ही उसे नकारे।

स्व-संयम के बिन नियंत्रित नहीं भावना;
आकार, संकेत, गति, चेष्टा, नेत्र चाहना;
अन्तर्मन में छिपा शब्द फिर पा जाता है;
मन कर्म बन्धन को ठुकराता है ।

री भावना के पंखों पर चढ़ी रही;
पुरुष-भाव, न तूने कभी पहचाना ।
वह चाहता है क्या, कैसे, क्यों कर?
स्व चिन्तन से ही तो तूने अनुमाना?

पुरुष बहुत कठोर शंकायुक्त रहता है;
हीन-भाव से ही नारी को है देखता ।
जितना तुम ठुकराओ, उतना ही चाहता;
जितना पीछे भागो, वह दूर ही जाता ।

'स्व' पहचाना प्रथम न हाय, हृदय;
असीम सम्बन्धों से जो बन्धा रहता,
'स्व' से ही प्रेम किया तो 'स्व' ने?
'पर' जान सका न ये 'पर' से क्यों?

निश्चित लक्ष्य रखूँगी सदा सामने;
अस्तित्व निर्मित करूँगी मान से ।
दृढ़ - संकल्प से बढ़ हृदय अब;
भाव-पूर्ण प्रत्यय और विचार पकड़ ।

प्रेरणा-सम्पन्न जीवन अरी सफल कर;
निरर्थक न हो अस्तित्व मचल कर ।
भाग्य की रेखाएं करूँगी निर्मित मैं;
ससीम से ही असीम को पकड़ सकूँ मैं ।

शिव-चरणों में बैठूँगी अनन्त मैं;
स्वातन्त्रय भावना करके उत्तम मैं ।
भीष्म को ही वरण करना अब मन;
अस्तित्व उसी से बंधा पहुँचे सान्त ।

आत्म चिन्तन से निकला निष्कर्ष यह;
इसी में रहना और मरना नहीं पराजय;
'मैं' हूँ 'मैं' न वस्तु मात्र हूँ;
नर-समाज की न कठपुतली पात्र हूँ ।

शाल्व-भीष्म तो दोनों कठोर हैं;
दृष्टि, क्यों उठता अन्तःविरोध है?
शाल्व का बौनापन हुआ प्रकट अब;
भीष्म-बढ़प्पन को ही औढ़े हुए जब ।

हम अनन्त, अमर, सर्वव्यापी नहीं है,
नरवर, सान्त, अपूर्ण, सीमित कहीं है?
उठता मन में क्यों अन्तर्विरोध है?
भरता, भय, वेदना, संत्रास-रोग-है ।

प्रभुता लघुता का करे उपकार क्यों?
मन क्यों सोच रहा ये बार-बार क्यों?
भक्ति से सिद्ध करो दृढ़-हृदयनुराग;
प्रयत्न, निष्फल न हों कर्म-पुरुषार्थ ।

उपलब्धि ले आता तो सदा कर्म है;
पूजा-वन्दन कभी न हुआ व्यर्थ है ।
दुःख, पीड़ा लाया घोर-कष्ट क्यों?
प्रभु की सत्ता पर लगा प्रश्न-चिन्ह ज्यों?

मेरे सन्दर्भों में मृत्यु हुई क्या उसकी?
ईश्वर-सत्ता - के हो चला पराधीन,
नारी को प्रताड़ना-उपेक्षा, देता है नर;
अस्तित्वहीनता से भटके पग-पग पर ।

मैं फिर शिव-पूजन-करूँ तो विश्वास?
शिवता का भ्रम नहीं टूटा अब तक?
भाग्य-की पड़ती रही मुझे क्यो मार?
'स्व' मृत्यु टूटेगा, होगा अपकार?

समाधि-स्थल पर बनते क्यों मन्दिर?
नर ने किया धर्म इतना उच्छृंखल;
स्व-निर्माण का कारण बनते स्वय है;
नारी को बौनापन ओढ़ा कर प्रसन्न हैं ।।

बौनेपन से मुक्ति मैं जग पाऊँगी;
अग्नि सा अस्तित्व तो मैं चाहूँगी;
ईश-रहित इस जगती में नारी को;
अन्धे-जीवन-मूल्यों से टकराऊँगी ।

स्व-शक्ति आह्वान किये चलती मैं;
स्व-मूल्यों को ही चुनती बढ़ती हूँ मैं,
मानव जीवन को दिलाऊँ अर्थ बोध,
सामाजिक सुसभ्यता, तेरा भ्रम छोड़ ।

अवचेतन के असामाजिक-कु-भाव;
करने नारी का पूर्ण-अनर्थ प्रभाव;
मानवता में कहाँ कल्याण-छोड़?
अति मानव बनकर जीना सुसार ।

मनुष्य की दृष्टि में बन्दर जैसा;
अतिमानव को है यह मानव वैसा;
पूर्णत्व मानव के हैं कहाँ पास?
लक्ष्य तक जानेका है सेतु मात्र ।

अति नारी-अस्तित्व बिना ओढ़े;
भीष्म-समय से न टकरा पाऊँगी,
बल-बुद्धि और गर्व का वहन कर,
मैं अतिनारी कर्म जगाऊँगी ।

समाज विकलांगी प्रथाओं का शिकार;
नष्ट होना तो चाहिए ऐसा नर-समाज ।
व्यक्ति की शक्ति तो होता समाज;
व्यक्तित्व के बढ़ने का होता आधार ।

स्वयं समाज भी कभी साध्य कहाँ?
अतिमानव बनाता यदि है नहीं;
साधारण-जन की पहुँच से ही बाहर;
कब पकड़ पाता है ये जनाधार?

अति मानव के सृजन स्थापन हेतु;
श्रेष्ठतम नारी-पुरुष चाहिए सम्पर्क;
पाणि-ग्रहण के कभी बिना जग में;
रच तो पाता नहीं अति मानव ।

अतिनारी का मैं अम्बा रूप धरूँ,
श्रेष्ठ-समाज निर्मित नित्य करूँ?
अति-नर भीष्म, को तो वरुँगी मैं;
है जीवानाधार-सागर करुँगी मैं?

स्वच्छ-रक्त रच सकता सुन्दर समाज;
विकलांग-प्रथाएं पथ भ्रष्ट और बेकार;
नारी के स्वत्व यह करती हैं प्रहार;
जननी है देती फिर कुण्ठित समाज ।

शक्ति - संचय ही बना है लक्ष्य;
निर्भय आत्म-बल - शूर है समक्ष;
यह शक्ति-इच्छा पर ही है निर्भर;
इसको संजोये अम्बा, चलो हर पल ।

कुछ नहीं, अम्बा सुनो मेरी तुम;
शक्ति-इच्छा से सब है संचालित;
उत्थान-पतन पंचभूतों का तो;
इसने कर रखा है व्यवस्थित ।

अति - नारी शक्ति-इच्छा-सागर;
भाग्य इस पर तैरता तिनका बनकर;
संकट में कभी नहीं चंचल, व्याकुल;
विवेक बल कभी न भयाकुल ।

सत् और असत् का नहीं है डर;
असत् से भी सत् तक जाते हैं नर;
ये संसार शक्ति का है एक दैत्य;
इसका आदि है पर नहीं है अन्त ।

तूफानी शक्तियों की प्रचण्ड लहर;
उथल-पुथल-कोलाहल पूर्ण डगर;
इसपर चलना ही है शान्त-ठहर;
अस्तित्व-शक्ति परिमित, मन्थर ।

शक्ति-हीन नारी, कहाँ है अस्तित्व?
अम्बा दुर्जेय-कठोर धरो व्यक्तित्व?
शक्ति-सम्पन्नता, उठो बनाओ लक्ष्य;
भीष्म सी भीष्म तभी रहो शाश्वत्?

भीष्म क्यों कर्कश कठोर प्रस्तर?
सागर ही लहरों से हुआ क्यों वंचित?
संवेदनाओं के कहाँ गए हैं बन्धन तट?
क्यों विलुप्त कोमल अनुराग तत्व?

सौन्दर्य के प्रति यह अनासक्ति क्यो?
सर्म्पण-के प्रति भरि यूँ विरक्ति क्यों?
दृष्टि सुन्दर कोरों पर जमीं री कैसे काई,
जो नहीं देख पाती, निर्मल-शाश्वत क्यों?

यौवन और बसन्त का तो है बन्धन,
लावण्य - भरा तभी रोमांच स्पन्दन;
जगती के जीवन का तो यही आनन्द;
कैसे ठुकराना सम्भव अरे साल मानव ।

अपार सौन्दर्य-देह में था भरपूर,
भ्रमर-पुष्प-रस से भागा क्यों है दूर?
अपमान किया सौन्दर्य तेरा, अनर्थ;
सौन्दर्य का प्रभाव कहाँ जाता है व्यर्थ?

नदी-लहर हो, पर प्रवाह नहीं;
हृदय लिये हो मानव, पर चाह नहीं,
सुन्दर का आकर्षण, महाबलशाली,
क्यों कर गया भीष्म, झोली खाली?

सौन्दर्य का अपमान, प्रतिकार करेगा ही?
शक्ति-मद में मस्त फुंफकार भरेगा ही?
शेषनाथ तो कुण्लडी तब खोलेगा,
सौन्दर्य का सिंहासन, जब जब डोलेगा?

लज्जा का आवरण उतारा नारी ने;
स्वत्व का अधिकार-पुकारा नारी ने;
साँप-केंचुलि मगर अभी उतारे न;
विष-दाँतों पर चोट कोई मारे न?

सुन्दर-कोमल-पंखों के हुए रंग फीके;
सत्यं-शिवं-दर्पण के भी हुए हैं टुकड़े;
समाज-की सूरत अब विखंडित है ।
जीवन के सभी मूल्य अब दण्डित हैं ।

लोह-कवच औढ़ाया, व्यक्ति स्वार्थ ने;
बलि-वेदी पर ही बिठाया परमार्थ ने,
एक प्रतिज्ञा से ही वह तो छला गया,
भावावेश नें ही वह तो स्वत्वहीन किया ।

एक-शिला-हृदय तो है बना दिया,
अवहेलित कोने मे सत्ता बिठ़ा दिया,
धर्म-शास्त्र भी मौन-पंगु खड़ा रहा,
देव भावगत शोषण-पटों में पड़ा रहा ।

व्यक्ति हो कर भी देवता बना दिया,
आदर्शों की सलीब पर लटका दिया,
निजत्व नर का समाज ने छीन लिया,
संवेगों के झरनों पर प्रहार, अवरुद्ध किया ।

व्यक्ति में सौंदर्य की है अमिट प्यास;
रूप-शिवं है, कैसे न करता स्वीकार;
यदि मानव ही होता, अति मानव न;
जीवन में जीने के अमित साधन न?

हृदय और शासन में ही उलझ गया;
प्रतिज्ञा की जंजीरों ने ही जकड़ लिया;
अति-शोषण - आदर्शों का बना प्रतीक;
नैतिकता ने पलट ही दी उसकी तकदीर ।

तरुण-अरमानों से स्वप्न ही छीन लिये;
रूप-यौवन के कलष सभी हैं रिक्त लगे ।
पुष्पों से सुगन्धी - मुस्कान ही छीनी;
कोमल-हृदय पर दीवारें ही चुनदी ।

सौन्दर्य रंगों को लिये सदैव निखरा;
नेत्र, स्मित, स्वर, केश-वर्ण में पनपा;
सभी विधि से मिला, क्यों होता है व्यर्थ?
देवव्रत के द्वारों पर दे रहा दस्तक ।

प्रथम-दर्शन से अनुरक्ति भरी मन;
युद्ध में विजय का किया कैसा उपक्रम;
पुष्प-सौन्दर्य, बल - बुद्धि सम्पन्न;
विचार भावना से भी है अति उन्नत ।

वह तो शतदल कंटकों पर मुकुलित;
'स्वयंवर' से ही जीत लिया, सकुशल;
'लक्ष्य' की एकाग्रता, पर टिका-धनुष;
बाण छोड़ रहा है, अकाट्य लक्ष्य ।

राज्य बलि-पशु ही क्यों माना?
कीट-पतंग सा अस्तित्व क्यों जाना?
मर्यादा-आदर्श-नीति के दीपकों ने;
क्यों किया है पंख-हीन, पालकों ने?

पर अस्तित्व के लिये हुआ उपयुक्त?
चरित्र यह किन विडम्बनाओं से है युक्त;
'स्व' हत्या का क्यों मार्ग अपनाया;
धर्म सुरक्षा कवच क्यों पहनाया?

प्रस्तरों से भी झरने फूट पड़ते हैं;
ज्वालामुखी का कभी रूप तो धरते हैं;
मौन-धरा का यूँ करता है विस्फोट;
जब आवेगों का कम्पन्न करे चोट ।

प्रातः सूर्य-आतप शीतल रहती है;
शीत-दुपहरी में सुखद तो लगती है.
यदि-ग्रीष्म में बैठें तो तन जल जाता;
पर संध्या और प्रातः तो सुख ही ले आता

धर्म-सूर्य में मानव जब चलता है;
शीत, प्रातः संध्या में ही तो पलता है;
भीष्म को जून-दुपहरी प्राप्त है;
जठर-अग्नि ने भस्म किया-भाल है ।

कटि - पतंग सा कटा अस्तित्व;
जीवन, भीष्म की, कैसी विडम्बना?
इच्छा-कल्पना - मनोवेगों पर प्रतिबंध;
पर-अस्तित्व के लिए न्योछावर उतंग ।

मौन स्व-हत्या का क्यों किया विधान?
कूटनीति ने चरित्र बना दिया आवरण,
धर्म-नीति ने लिया भीष्म को शरण;
मन-सुन्दरता का किया, समाज हरण ।

हृदय विवश लहर सा काँपे;
यौवन का उन्माद जब रोमांचे;
संन्यासी-रागात्मकता कब होती?
ये कुण्ठित-बन्धित है न रहती?

भीष्म की हृदय की हाय ! विवशता;
दैवी-शक्ति की लगे अभिशाप सरीखी,
रोकती हृदय की रागात्मकता को;
जीवन में एक गहन शून्यता है रहती ।

एकाकीपन-अजनबीपन ही देता है,
मोह-भंग उसका जीवन-सार से होता,
प्रेम पथों को अवरुद्ध करता तन,
भीष्म-कवच के भीतर है कैदी मन ।

नर में देहात्म-बोध सदा रहता है;
स्वच्छ-प्रेम मधु-तारों से बंध चलता है;
रहस्य की पर्तें क्यों और जमीं आ रहीं?
इन प्रश्नों का उत्तर न हृदय को मिलता?

सौन्दर्य के प्रति मात्र आकर्षण न;
शृंगार-यौवन का ये तिरस्कार क्यों?
कौन सी 'ग्रन्थी' है उसे रोकती?
कोमल-भावों पर निर्मम प्रहार क्यों?

अतिमानव होने के लिए सीढ़ियाँ;
जिनपे चढ़ कर जाना पड़ा भीष्म को,
स्वेच्छा से तो नहीं, विवशता वश है;
आग की लहरों में ही बैठा भीष्म क्यों है?

सौन्दर्य लहर मन्थर कल-कल ।
अनुभूति में आनन्द भरता निर्झर,
उद्वेलित लहरों पर चंचल हिलोर;
भर जाती है रसता से ओर-छोर ।

प्रेम - तरंगों में दूरागत सन्देश;
ले सरिता आई - प्रियतम के देश;
खग-मन उड़ता है सुदूर आकाश;
नीलाम्बर-सागर में आतप के पास ।

सुन्दर मन: शान्ति - सुखही लाता,
दु:ख आतप की धनीभूतता हर जाता,
शीतल-जल में पाँव उतरते हो चंचल,
लहरों से टकरा कर होते और अधीर ।

हृदय - तरंग लहराती - पवन बहती;
नारी-तन के सुख को इंगित करती;
मांसलता मे तपन-तरलता - शीतलता;
जीवन की सार्थकता और आनन्द भरा ।

मन तरंगों में नित्य नहाना चाहता है,
देहात्म-बोध सें सुख मानव पाता है;
लहरों को छोड़ भीष्म प्रस्तरो पर लेटे;
पुष्पों को त्याग कर, कंटकों पर बैठे?

हृदय-में तो उठें पावन - लहरें,
शीतल-पवन की नमी, शुष्कता सोखे;
नारी संसर्ग सदैव, तरूणाई लाता;
नीरस जीवन में उमंग है भर जाता ।

चारों तरफ है लहरें रोमाँच भरती;
भीष्म-हृदय इनमें खड़ा पत्थर बनकर,
बार-बार टकराती तो प्रस्तर से रह-रह,
आर्द्रता को भरने होती रहें विकल ।

फिर लहरों में प्रस्तर क्यों चला आया?
शक्ति-प्रवाह का, इसे तो संग बहा लाया;
अडिग-खड़ा यह अटक गया तट आकर,
सटक गया ये प्रचण्ड-लहर से बहकर ।

तट-रक्षक इसको हैं साथ पकड़ लाये,
लहरों से कहीं बाँध सभी न ढह जाये?
ढाल-बनाकर इसे किनारे मतवाले,
बने रहेंगे सदैव समझते, रखवाले ।

लहरों को ही दिशा दे रहा है पत्थर,
धीरे-धीरे सरक रहा है यह पत्थर,
लहरें पल-पल, बली बनी हैं टकरातीं,
इसे साथ लेकर जो जाना हैं चाहती ।

फेन उगलती; क्रोध भी दर्शाती हैं;
भीष्म-पत्थर से, प्रतिपल टकराती हैं;
लिए निराशा बढ़ती हैं आगे आगे,
मगर राग-तारों को भीष्म से बांधे ।

हृदय-भवँर लहरों के चक्राते हैं;
धीमे-धीमे-पत्थर तक चले आते है,
नहीं टूटता पत्थर न ही सरक रहा;
भँवर-कलेजा यहाँ मगर है हूक रहा ।

दूर-पर्वतों से सम्बन्ध नहीं टूटे;
सागर-तक ये नाते कहां हैं छूटे;
भले लहर बढ़ती है-सागर को मिलने;
मगर-नदी का रूप किनारों से बाँधें ।

जीवन यही सम्बन्ध जन्म से पाता;
सागर तक भी नाता तोड़ नहीं पाता;
नदी शिखर से ही सागर तक बहती;
बहती रहती मगर सदा बनीं भी रहती ।

भाव निरन्तर जल की धारा से बहते हैं?
जन्म-मृत्यु के शोरों से बंधे चलते हैं;
टूट नहीं पाते जन्मान्तरो में भी तो यह,
संस्कार बने बहते ही रहते हैं यह ।

व्यक्ति कभी न तोड़ आज तक पाया;
पत्थर हों फिर है संग लुढ़कता आया;
भीष्म ने किस आवरण को ओढ़ा है;
पर भीतर से भावों ने पत्थर तोड़ा है?

कल-कल नदी उमड़ती बढ़ती है;
लहरों का रूप आलिंगित करती है;
स्वच्छ हरीतिमा बहती ही चली आती,
स्वर्गिक-यह संगीत रोमांचित कर जाती ।

भाव लहर और नदी लहर में न अन्तर;
ये आलिंगन करें-गति शीतल मन्थर,
इनका स्पर्श मात्र हो अतुलित सुख लाता;
अनुभूति के महल-सुख-रत्न-भर जाता ।''

भीष्म तन में भाव लहर कहां छिपी?
अम्बा व्याकुल, पर इसे है खोज रही;
मुखरित होते भाव, वाणी कम्पाती,
भीष्म-पत्थर को तोड़ मगर न पाती ।

दृष्टि-में वेदना गहरी, हो मार पड़ी;
भाव-मीन की तड़पन होती-गहरी;
लोह-कवच में बंधा हृदय तड़पाता,
वाणी तक-फिर कैसे पहुँचाता?

मगर लहर-स्वर निरन्तर बजते हैं,
जीवन के तारों को तरंगित करते हैं,
सागर-तक यही ध्वनि है सुन पड़ती;
कभी होती है तीव्र कभी मन्द बजती ।

मन-पक्षी लहरों से मीन उठाता है;
सदा तटों पर ही देखो मंडराता है;
सुख लहरें-टकराती-प्रस्तर से टूटें;
लहरों के उजले आँसू भी है छूटे ।

मन-मुरगाई सा डूब है सुख लाता;
रागात्मक-लहरों पर सदा बहा आता ।
सुख और आनन्द सदा मन लहरों में;
रहते हैं, पत्थर हृदय कहाँ इन्हें पाता?

बुद्धि को ऊर्जा ही दे जाते और;
सुन्दर मन: शान्ति का आधार,
इसके अवलोकन में खिलें भाव,
चक्रायित जड़-चेतन समाज ।

कैसी गहरी वेदना को ढो रहे,
मन-मुख पर ताले हैं डाले हुए?
किस समय की प्रतीक्षा में खड़े,
अतिमानव-हृदय भीष्म लग रहे?

कैसा अंकुश 'स्व' पर व्यक्ति डालता?
कोमल-सुन्दर को क्यों चले नकारता?
विद्रोह-मेरा हृदय क्यों है कर रहा?
ऐसा अंकुश 'स्व' नहीं क्यों मानता?

समाज के कुछ ऐसे कुएँ स्वार्थ के;
भीष्म को उनमें धकेले जा रहे,
पर-संचालित रथ-अश्व सा ही है वह;
मार कोड़ों की हैं कब से खा रहे?

शुष्कता-परजीविता है दे जाती;
सत्ता-रथ से अश्व सा इसे बांधा है;
कमल ही पंकज में कैसे डूबता?
स्वार्थ-जल आधार, मिलता कहाँ?

संकटों से सदैव व्यक्ति जूझता,
अस्तित्व-भावना बनती फिर प्रेरणा,
संकटों से महत्त्व और पाता है वह?
त्रासदी-जीवन भरे, नहीं पर टूटता?

'स्व' के प्रति उदासीनता इसमें नहीं;
व्यक्ति ऊपर से ही इसको ओढ़ता?
आत्मिकता जागृत, बढ़ता है वह;
भावों और विचारों से नहीं टूटता ।

आत्म-सुख पाने से स्व रोकता;
'स्व' से 'स्व; विद्रोह मानव करें;
संकटों से फिर सदा है जूझता;
ये जुझारूपन ही जीवन-शक्ति है?

भीष्म फिर 'स्व' से हुआ निढाल क्यों?
हृदय में किस त्रास को है ढो रहा?
मुख पर आकर क्रोध बन जाता है जो,
संगति-विसंगति में रहे क्यों भटकता?

व्यक्ति ही यथार्थ को पा जाता है?
जब प्रत्येक पल चुनौती आस्तित्व की?
संत्रस्त नर फिर इसे स्वीकारता;
भीष्म का अस्तित्व है पर्वत तले?

विद्रोह की भावना क्यों न जगे?
यह कैसा अतिमानव हृदय तूँ समझ?
प्रयुक्त-शासन तो उसका 'स्व' करे;
कैसी मर्यादा-आदर्श हैं गढ़ दिए?

स्व-हित भी सुरक्षित न कर सके?
अति-शोषित ही बनता अतिमानव है;
कैसे आदर्शों की प्रतिष्ठा कर रहा?
भीष्म तो इनकी बलि चढ़ गया?

हृदय ! यह क्यों वेदना छुपा चले?
सारी शक्ति से दबाता पल-पल मिले ।
आरोपित - आदर्श होते हैं खोखले?
जीवन - विसंगतियों से तो भर चले?

परम्पराओं का शिकार-यथार्थ सामने,
सत्य यह, कितना-क्रूर होता है समाज,
स्व-हित पर दृष्टि, बलि-पशु-आदर्श,
शान्त बैठा क्यों जुगाली कर रहा?

आत्म-चिन्तन से अम्बा खोजती;
नियम और मूल्यों का यह संसार;
अपने चिन्तन खोज चलती हुई;
बाहर-को प्रक्षेपण ही करती है सार ।

आत्मगत-सत्य ही बनता है जगत;
इससे इतर और कोई संसार न;
सत्यासत्य समझ पाती है यूँ ही;
शून्यता के बाहर 'स्व' को खोज कर ।

अपना प्रामाणिक अस्तित्व पा गई;
जो भीष्म से ही जुड़ा लगता उसे;
सोचती अपने अलग अस्तित्व को;
जो उसकी आन्तरिकता से है जुड़ा ।

"भौतिक और बौद्धिक ज्ञान से छूटकर;
मैं हूँ 'स्व' अन्तर्तम पहचानती;
यह नवीन चेतना हृदय में भी तो जगी,
अस्तित्व स्वतन्त्र रूप में ही सत्य है ।

स्वतन्त्रता अस्तित्व की अस्ति भी है,
इस स्वातन्त्र्य में सोचती, चुनती हूँ मैं,
इस चयन में स्वतन्त्र तो पहले भी मैं,
पर चुनाव कर तो सकी भीष्म न मैं ।

नर-पशु तब बाधा बन आया था;
शक्ति बल से मैं न उसे हरा सकी;
चयन का अधिकार मेरा आज भी;
समाज में दबने न दूँगी मैं यह कभी?

स्वयंवर में ही नारी अस्तित्व है;
एक बार फिर से इसे स्वीकारती;
फिर से चयन कर लिया हृदय भीष्म,
शाल्व को हृदय से ठोकर मारती ।

परशुराम न युद्ध में हरा सके;
क्या हुआ संघर्ष, फिर अस्तित्व का?
जन्मान्तर तक तो चलता आ रहा,
मैं न लूँगी जीवन से अपूर्णता?

यह ससीमता भी न रही कुछ कामकी,
शरीर की भंगुरता, आसक्ति है भरी,
घोर-निराशा आज मुझमें भर रही;
इहलोक में क्यों शून्यता हूँ पा रही?

पारलौकिक शक्ति हूँ पुकारती,
ईश के आगे हूँ फिर मैं प्रार्थी,
मानव-अस्तित्व, असत्य, कपट,
अहं-मृत्यु-दु:खों से हूँ घिरी ।

निराशा-हताशा प्रताड़ना पाती हूँ मैं;
हृदय - पीड़ित, व्यथा-शेष अब बची;
विषाद के सागर में अब मैं तैरती;
दु:ख सरिता को तट न भीष्म दे रहा ।

तट ने ही नदी को है ठुकरा दिया,
दूसरा तट छोड़ तो आई मैं सदा,
फिर लहर किस ओर को बढ़ रही,
हृदय-जीवन की ही नौका भंग है?

शिव ही शायद् बचा पायें इसे;
यही अन्तिम मार्ग अब, हृदय मेरे,
यही नियति बनगया - दुर्भाग्य जो,
मानव-अस्तित्व ही लगा अब दाव पर?

क्यों न भीष्म से जाकर पूँछूं मन?
क्या कमी मुझमें जो नहीं स्वीकारते?
नारी-लज्जा का आँचल छोड़ कर?
सामना करूँ मैं इस नर समाज का?

दासत्व ही जो हमें है दे रहा;
छीनता स्वत्व जो अधिकार को;
उखड़ी लता बनकर मुर्झाने से,
अच्छा हैं फिर से रोपित हो जाऊँ मैं ।

है समय खिल सकती हूँ मैं फिर से अब;
इस धरा को ही चुनूं भीष्म-जो हुई?
परशु बल स्थापित तो करना चाहा था,
घोर-संग्राम में भी तो कुछ मिला फल नहीं ।

गुरुजनों से पिता-नाना से तो मैं;
पूछ न पाई थी जो नारी लज्जा वश,
तोड़कर अब उन सभी आवरणों को,
बढ़कर स्वयं प्रस्ताव तो मैं करूँ ।

हरण कर मेरा क्यों मिटाया है मुझे?
अस्तित्व ही मेरा जला डाला कुकर्म से?
पदार्थ ही समझा था क्यों कर मुझे?
चेतना मेरी पर से सामाजिक प्रतिबन्ध क्यों?

बलि-पशु तो कभी नारी नहीं;
देवता ने भी जिसे हो ठुकरा दिया,
स्वर्ण-माला के है मनके जो छूटते,
धूलि में मिल क्यों मूल्य खो रहे?

नर-पाशों से और धँसते जा रहे;
स्व मूल्य जो और मिट्टी हो रहे,
मेरे मन माला के मनके तोड़ कर;
क्यों इन्हें मिट्टी में भीष्म मिला दिया?

टूटी हुई माला, बनकर क्यों रहूँ?
नर-पगों के नीचे क्यों दबकर मरूँ?
मेरा अपना भी तो एक अस्तित्व है?
उसको पाने के लिए निरन्तर कर्म है?

नासिका तक जल में डूबी हुई?
डूब जाऊँ या मैं उभरूँ प्रश्न है?
लज्जा-मर्यादा निभाऊँ तो मृत्यु वरूँ,
क्यों न समक्ष पहुँच भीष्म तुम को वरूँ?

लज्जा वश सब कुछ मिटा तो है दिया,
तोड़ दो रेशमी जंजीरें नर पहनाई तुम्हें?
नर-स्वार्थ ने तुम्हें बलि - पशु किया,
इससे बाहर अस्तित्व अपना खोजो तुम''।

द्वादश-पर्व

भीष्म अम्बा प्रसंग आत्म-दाह

1

भीष्म के शिविर में पहुँच कर;
अम्बा:-नर श्रेष्ठ सागर तो होता है;
कलुषित-नद का ग्रहण करता है;
रौद्र-रोर उठाती लहरें टकरातीं;
धरा - छोड़ सागर अपनाती ।

सागर, महानद शान्त करता है;
सहज-दु:खों का वहन करता है ।
प्रचण्ड लहरें मन्थर होती हैं,
तट-बंध थाम मुक्त बनती हैं ।

महापुरुष पर पीड़ा हैं हरते;
आत्मा-दु:ख वहन हैं करते;
आँधी दूब है कहाँ उखाड़ती?
तने तनों को है लताड़ती !

मर्यादा का कहाँ उल्लघंन,सागर?
नदी-नालों से भी भरता गागर;
शरणागत न सागर ठुकराता;
मंगल करता है गले लगाता ।

अम्बा-नदी तटों को तोड़ा बल से;
दिशा - हीन भटके मरुथल से;
भीष्म - सागर तट अब पहुँची;
स्वीकार करें' सागर , संकोची ।

नारी मर्यादा में नदी बहती है;
तटों में बंधी न उच्छृंखल चलती है ।
धर्म, पति हैं दो तट तो उसके;
अम्बा कर से हैं क्यों सरके?

दोनों तटों में बंधी इट्‌ठलाती,
सहज-गति से सागर तक जाती ।
प्रेम-प्रणय - ममता - करुणा जल,
अन्तिम शोर, मिलता सिन्धु तल ।

"गांगेय तुम बतलाओं क्यों उल्ट कर्म है,
आधार-हीन किया अम्बा को, यही धर्म है?
सागर की क्या यही मर्यादा है होती,
नदी तटों में बंधी, मिलन को रोती ।

हूँ मानती पावन-सागर सम नर हो,
विष के एक घड़े से दूषित कब हो?
अति विशाल, महान ही सागर तुम हो;
ज्वालामुखी - हृदय क्यों बंधित हो?

हृदय-दया से पूरित, वाणी अमृत,
वन्दन के तुम योग्य, कर्म क्यों कुंठित?
राज्य-स्वार्थ से बंधा चलाता क्यों है?
हृदय-पीयूष से भरा, जलाता क्यों है?

परोपकार से भरा कर्म का घट है;
क्यों राज्य लेकर आया, इस तट है;
कर्म-कुल्हाड़ा क्यों चन्दन को काटे?
कटा हुआ, सुगन्ध ही अपनी बांटे ।

राज्य-कर्म-से कटे हुए नर, चन्दन हो;
महापुरुष-प्रतीक, समय-शक्ति नाभिबिन्दु हो;
सत्त्वगुणों से पूर्ण वर अन्त:करण लिए हो,
जीवन को ही होम किये, अनल पिए हो?

यज्ञ से तुम हो जलते, समिधा स्वयं हो,
यजमान आत्मा तेरी, श्रद्धा-पत्नी हो,
वेद-शिखा है, हृदय धूप, काम घृत है,
क्रोध-समग्री, शरीर-इध्म, बलि पशु हो ।

यज्ञ सत्य, ज्ञान बल, प्राण देता है;
यह रक्षा है करता, दान, कृपा देता है,
यज्ञ मधुरता लाता, आत्म तेज भरता है;
यज्ञ सृष्टि-केन्द्र, हर्ष, ऐश्वर्य, भरता है ।

यज्ञ-सरीखे जब होम होते है;
अधर्म-अनीति, सिर उँचे होते हैं?
अमृत ही विष उनको लगता है;
'स्व' को सदा 'स्व' ही ठगता है ।

व्यक्ति-जीवन त्याग, समष्टि अपनाया,
श्रद्धा, त्याग, सेवा, तप का फल पाया;
सद्‌गुणों की अग्नि में अधर्म है जलता,
पर अम्बा को भाग्य, भीष्म क्यों छलता?

नर वर मुझे स्वीकार करो, उभारो,
अपमान-बोध से पीड़ित, दंश उतारो,
बाल-बुद्धि के वश, मन चंचल होता;
ये तीव्र-खग उड़ता कहाँ बंधित होता?

स्वयंवर से नर-श्रेष्ठ उठा कर लाये,
छोड़ तुम्हें भला कोई क्यों कर अपनाये?
कल्याण तुम्हें अब मेरा करना तो होगा,
वचन तोड़ कर पुण्य कर्म करना होगा?

धर्म श्रेष्ठ होता है वचन कभी न?
आदर्श बड़ा होता है मनादेश कभी न?
परिवार-धर्म से ऊपर समाज-धर्म है?
महापुरुषों के कार्य ही सत्य-धर्म है ।

पर-दोष को महा-नर चले मिटाता,
उसी आग में उसे न कभी जलाता,
महा-मानसों के कर्म महान होते हैं,
कल्याण,कर्म,परमार्थ,पहचान हैं ।

विवेकशील नियमों को चले बनाता,
लोक-व्यवहार का मार्ग सदा अपनाता;
नर-श्रेष्ठ तो धर्म-सत्य मार्ग दिखलाते,
सर्वसाधारण उसी डगर बढ़ते जाते ।

पर्वत, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड से तुम भारी हो,
प्रलय से अविचलित, तुम बलधारी हो,
नारी-बल की सत्ता, नर-वर पहचानो,
अटल-शिखर-संकल्पी, इसको भी जानो,

विपत्ति में हूँ पड़ी, कारण तो तुम हो,
मन से थी संचालित, स्व-हन्ता हूँ सुन लो,
टूटी-सरिता पथ से, तुम इसे प्रवाह दो,
महानदी हैं इसे सागर की राह दो ।

राज्य-बल से मानव-बल बलशाली है,
महापुरुष इसकी ही करते रखवाली हैं;
राज्य के पथप्रदर्शक, आदर्श बनते हैं;
परिवारों से ऊपर स्व-समाज रखते हैं ।

महानरों ने विश्व इतिहास रचा है,
धर्म-नीति का मार्ग पावन रखा है,
नारी-शक्ति का सम्मान सदा करते हैं,
सृजना-शक्ति-जननी, वन्दन करते हैं ।

नारी-अस्तित्व पर ही अब प्रश्न चिन्ह है?
आधार हीन हो रहा सबला का जीवन है?
इसे उभारो स्वामी, स्व-यश को छोड़ो;
मानवता की रक्षा हित, तुम व्रत को तोड़ो?

भीष्मः- समाज में व्यक्ति बनकर जीना अच्छा है;
स्वहित, स्वत्व सदैव सर्वोपरि रहता हैं;
स्वार्थ-सुख तो, सर्वोत्तम धन हैं;
परहितकारी तो रहता विपन्न है ।

मैं साधारण जन ही अच्छा भीष्म,
स्व दुःख, उपेक्षा, तिरस्कार, न शोषण;
कर्त्तव्य-पालन का भ्रम न पालूँ;
पर-पीड़ा से हृदय क्यो जालूँ?

मानव में दानव रहता कुमार्ग दौड़े,
स्वार्थ-सुख-लिप्सा, से ही नाता जोड़े;
अपने लिए ही हितकर कर्म करता है,
सुखद-आनन्दित-स्व गृह निर्माता है ।

मन - निर्बल विकारों का घर है,
गति, चेष्टा, वचन, मुख, नेत्र है,
विचार - विवेक-तप-त्याग - क्षेत्र है,
संयमित, सबल मन ही देव मित्र हैं ।''

पराक्रम, धन, मित्र, सुहृदय निर्बल हैं-
संचयित मन समक्ष, न कुछ दुर्लभ है?
सभी दुःख मिटाता, संयमित मन हैं,
सामाजिक, व्यक्ति को करता मन है ।

लोभ-मोह-अंह - मद के वश हो;
अपयश-कलुष ही यह लाता है ।
निर्मल - भाव तरंगों को, स्वार्थ;
कलुषित-मलिन ही कर जाता है ।

मन - मन्दिर तो एक तीर्थ है;
गंगा - यमुना, सरस्वती, बहती है;
त्याग, परमार्थ, पावनता कीर्ति;
रे, देव, इसी श्रेष्ठ तीर्थ में रहती है ।

मन का प्रमाद अम्बे दुःख लाता,
मन-संयम सब कष्ट मिटाता ।
देश-जाति-धर्म का रक्षक मन;
स्व-सुख करे जनहित समर्पण ।

रे, मन शक्ति मन ही शिव है;
यही व्यक्ति है, यही विश्व है ।
विश्व-रूप अपनाता है जब जब;
अम्बे पूजा जाता यह तब तब ।

व्यक्ति-रूप में कुंठित होता;
विषय - वासना बंधित होता;
करोड़ो जन्म, भटकाता मन है;
मन- शान्ति न पाता मन है ।

सभी धर्मों का मन अग्रगामी है,
परमधाम का यही स्वामी है,
स्वस्थ-मनः सदा मुक्ति है पाता,
रोगी-मन बन्धन ही लाता ।

मन-दर्पण, मोह-धूल जो चढ़ती;
ज्ञान-ज्योति बहू-मद्धम पड़ती ।
इन्द्रिय-सुख को प्रभुता मिलती है,
मांसल-रूप बना छलती है ।

रे, देव, यह अम्बा मे आई;
माँसलता - भरती तरुणाई;
माया के सुन्दर आवरण है;
स्वस्थ-मनः के लिए मरण है ।

निश्चित-लक्ष्य से गंगा बहती;
हिम शिखरों-सागर तक बहती;
जन्म-जन्म से कर्म बंधा है;
सर्वोत्तम गंगा-रूप वरा है ।

व्यर्थ सालती हो क्यों मन को?
पथ-भ्रान्त मुझे क्यों करती हो?
मधु-रूप - यौवन - तट भरमाते;
मांसल-मदिरा घट भर-भर लाते ।

काया के पिंजरे के भीतर-आत्म,
विवेक - तरंगे-चित्र बुनती है;
इस जीवन के विशुद्ध रंगों से;
अलौकिक-मानव रूप चुनती हैं ।

लालसा-तृष्णा का सागर सदा प्यासा,
असंख्य नदियाँ इस में, भरे निराशा,
मरुभूमि है ये-नहीं सुमन खिलाती,
मृगतृष्णाएं कभी, शान्त हैं हो पाती?

मन - मरुभूमि में सुमन खिलते हैं;
हँसते हुए-मृगतृष्णाओं को मिलते हैं ।
किसी भी जल से लालसा-तृप्त न होती;
एक फसल कटती है तो दूसरी बोती ।

सिंह मरे से जीवित श्वान है अच्छा;
भूतकाल से वर्तमान तो नहीं चिपकता ।
जब अंधेरा हो तो है रखवाली करता;
चोर आने पर रात-भर तो रहे भूँकता?

क्यों बकरा बाँधे, जो बलि पशु है?
क्यों पिंजर यूँ पालें, जो सर्प-रज्जु है?
पांच-मित्रों के घर में हम घायल है;
लोभ, मोह, मद, सत्ता से पागल हैं ।

दो स्वामी बना लिए-कैसे सेवा होगी?
स्वत्व और 'परत्व' की दुविधा जो होगी;
व्यक्ति और 'समाज' में एक चुनो तुम,
समाज पर व्यक्ति करो न्योछावर तुम ।

फिर देखो समाज करेगा व्यक्ति-रक्षा,
मन में संयम धारो करेगा तेरी पूजा;
मांगोगे तुम पत्थर तो फूल मिलेगा;
जो माँगोगे फूल तुम्हें तो शूल मिलेंगे ।

मनस्वी हैं वृक्ष सदा बढ़ते हैं जग में;
तनस्वी है पत्ते सदा झड़ते हैं पथ में ।
अन्धा-मन तो अन्धेरे से प्रेम करता है;
जागृत-मन तो उजाले को और भरता है ।

जो सुन्दर दीखता है नहीं रहता है;
पर असुन्दर सदा असुन्दर ही रहता है ।
देव असुन्दर और सुन्दर अन्तर जानो;
मांसल और आत्मिक पर्तों को पहचानो?''

अम्बा:- अपने ही दायरे में विवेक न अभिमानो,
स्व-केन्द्र को छोड़, सत्य को पहचानो,
इस जलने से अच्छा है विवाह करो तुम;
एक साधारण जन की नियति को धरो तुम?''

भीष्म :-
भावावेश के बुदबुदे झट फूट है जाते?
जब मांसलता के जल से हैं जीवन पाते;
प्रेम-प्रभु है और प्रभु ही प्रेम होता है;
जिस व्यक्ति में नहीं, समाज रोता है?

कर्म करो तुम वही जो अन्तरात्मा माने,
हंस है चुगता मोती, मिट्टी को पहचाने,
प्यास बुझाता जल है, मधु और बढ़ाती ।
मछली जल के बाहर-कब जीवन पाती?

मानों इसको देव कर्म की गति गहन है;
विद्या-श्रद्धा-योग युक्त पुण्य कर्म है ।
कर्म-अकर्म की सीमा तो मन+विवेक है;
मानवता+न्याय यथार्थ कर्म ही श्रेष्ठ है ।

व्यक्ति-धर्म से ऊपर तो राज्य-धर्म है;
यही कर्त्तव्य का मार्ग श्रेष्ठ कर्म है ।
कर्म वही होता है न बन्धन कारक;
त्याग पूर्वक कर्म होता फलदायक ।

कर्म करने से पूर्व विचारों सदा तुम;
मन-घोड़े पर चढ़ कर मत भागो तुम ।
कर्म करो तुम ऐसा न फिर अनुताप हो;
प्रसन्न रहे आत्मा, मन में न सन्ताप हो ।

अम्बे, कर्म सदा कर्त्ता का पीछा करते;
सद्-कार्य पर-हित स्व-सुख से भरते ।
सुकर्म वही आत्म-विकासक होता;
अकर्म है वे जो, आत्म-बंधक होता?

जितना कर्मों को है हम निर्धारित करते,
उतना ही कर्म सबसे हमें सुव्यवस्थित रखते ।
वही कर्म सबसे उत्तम कहा जाता है ।
जो लोगों को प्रसन्नता दे आता है ।

मन और कर्म में बड़ा अन्तर होता है;
एक व्यक्तिगत, दूसरा सामाजिक रहता है ।
स्वस्थ मन: ही सामाजिक कर्म करता है;
रोगी-मन: व्यक्ति तक ही सीमित रहता है?

पूर्वकर्मों का फल इस जन्म में मिलता है;
करते हम जो भी वही विधाता लिखता है।
अम्बा तुम्हें न जाने कौन कर्म सताते?
राज-कन्या होने पर भी हैं जो भटकाते?

स्व-कर्मों का फल मनुष्य अवश्य पाता है;
विधि अधीन हुआ सुख कभी दुःख पाता है ।
अल्पज्ञ जीव इसे कब जान पाता है?
पूर्व-जन्म कर्मों से न टूटे तो नाता है?

आकाश में फेंका कीचड़, ऊपर गिरता है;
अपने कर्मों का फल ही यूँ मिलता है ।
पूर्व कर्मों का फल फूल कांटे लाया;
छोड़ सका न कोई, सब ने फल पाया ।

मेरे हाथों अम्बा तेरा अपकार हुआ है;
वरूँगा तुमको जाते, मन तैयार हुआ है ।
पूर्वकर्म के बन्धन मैं कैसे काटूँ?
कर्मों का फल-उसका, फिर कैसे बाटूँ?

अम्बा तुम स्व मन को न वाणी देती,
स्वयंवर की मर्यादा की भी पालना होती,
पुरुष यदि शंका के रथ पर न चढ़ता ।
भीष्म फिर परशु से युद्ध क्यों करता?

राज्य-धर्म की पालना पर अंकुश होता?
नारी का स्वत्व, न्याय अवलंबित होता,
पशु-बल की मानव-बल पर विजय न होती,
तो अम्बा न तुम जीवन में प्रताड़ित रोती ।

नर - पशु शक्ति से न भेड़े हाँकता;
राज्य यदि नर-नारी समान मानता ।
कूट नीति से 'भीष्म' को यदि छला न होता;
देव क्या, अम्बा को जीवन न देता?

गरुढ़ के पंख काट उसे पवन में छोड़ा,
सर्प पकड़ पंजों में कहाँ जाता दौड़ा?
यदि छोड़ता उसको वे विष भर जाता;
अब निगला है उसने पर कर्म सताता?

पूर्व जन्म के कर्मों का फल कहता हूँ;
भाग्य वाद की चादर से कुकर्म ढंकता हूँ ।
'शार्क' ने शक्ति-जल में 'सील' को मारा;
सागर की लहरों ने उसे ही लताड़ा ।

मकड़ी के पाँवों ने तितली को तोड़ा;
निर्बल-को बलवान ने है सदा निचोड़ा ।
सत्य तो देव यही है, चिड़ियों को पकड़ा,
बाज सा ही मदांध मैं था उन पर झपटा ।

रह-रह कर अम्बे, भीष्म है पछताता;
राज्य-दासता-बंदी, था नमक चुकाता ।
कर्म विवेक-आधार हीन नर जब करता है;
अपनी ही नज़रों में तो हर-पल मरता है?

पूर्व जन्म के कर्मों से पीड़ित तो हो अम्बा;
प्रभास-द्यु वसु पत्नी लोभ किया है ।
उसी के फल को मैं-देव बन भोग रहा हूँ;
धरा-लोक की त्रासदी मैं देख रहा हूँ ।

सति-सात्विका वसु ही पत्नी हो,
मुझे लौटाने, धरा लोक में आई हो,
पूर्व जन्म के कर्म देव बन भोग रहा हूँ;
जन्म से ही मृत्यु की ओर बढ़ता हूँ ।

देव, हो तुम संसारी, मांसल-बंदी,
सहज-ज्ञान प्रचालित, हैं अंगी संगी ।
यह तन तो तेरा है, मन भी तेरा है;
मगर आत्मा तो वसु-भीष्म तेरा है ।

ज्ञान-चक्षु से देव यह जान लिया है,
वसु पत्नी हो अम्बा, पहचान लिया है,
हो मिलनातुर, व्यथित, आभागी नारी,
पश्चाताप की अग्नि हृदय में जागी ।

जीवित रह कर भी तो मुझे पा न सकती;
मुनि-वशिष्ठ-अभिशाप तुम मिटा न सकती;
मरण ही चाहती मेरा, मुक्ति है मेरी?
देव तृष्णाओं का ही दुःख है मेरी ।

दण्ड विपुल है मेरा एक पूर्ण आयु?
जन्म-मरण की सीमा ये नापे साधु ।
इस धरती के नर को ये न वर सकती,
विधि-कर्म की रेखा इस ओर मुड़ती ।

आत्म-दाह नहीं था वे पश्चाताप था;
देव-भार्या हो कर जो किया पाप था ।
पुण्य-कर्म के फल सब मेरे थे छूटे;
अम्बा के कारण ही कर्म थे फूटे ।

तृष्णा प्रभुता - सदा अधर्म करवाती;
नित्य-उद्वेग है करती पाप-बन्धन लाती ।
लोह-पिण्ड की अग्नि ये विनाश बुलाती;
कभी नही सिमटती यह बढ़ती ही जाती ।

सबला-पापिष्ठ ये, भयंकर अग्नि है;
मन-शरीर के भीतर सदा जलती है ।
जीर्ण कभी न होती है नित्य-यौवना;
यश-शरीर को देव लूटे ये तृष्णा ।

तृष्णावान किसी लोक में न शान्ति पाता;
सदा प्रज्वलित अग्नि में ईंधन डालता?
तृष्णा के तरकस में तीव्र बाण है;
विषय-वासना ने तो पकड़ी कमान है ।

तृष्णाओं का दावानल-जग जलती है;
ये इच्छाधारी नागिन, स्व-घर डसती है;
तृष्णा-नारी मोह-रूप सम्मोहित करती;
सब जन्मों के पुण्यों को नष्ट करती ।

तृष्णा इसकी ने है मुझको लूटा;
पुण्य-धाम-रिश्तों से है नाता टूटा ।
मोहाँध-नर को सदा छलती है;
स्वर्ग लोक से ठोकर फिर मिलती है ।

देव: समझ लो, तृष्णा ही दु:ख है;
तृष्णा के अधीन, वे ही नरक है,
तृष्णाओं से मुक्ति ही मोक्ष है;
इसी धरती पर, फिर स्वर्ग लोक हैं ।

जो दु:खी करता, तृष्णा के कारण;
जन्म-मरण बन्धन करता है धारण ।
रे, मन-तृष्णाओं का, देव उत्पति स्थल है;
यह सारा संसार इसका क्रीड़ा स्थल है ।

पुष्प में कीट बनी उसको खाती है;
सदा विनाश के मार्ग पर लाती है ।
मैं-देव-और अम्बा क्यों पीड़ित हैं?
तृष्णा बाण से घायल, खंडित हैं ।

विधि का लिखा नर जान न पाता,
पूर्व-कर्म का पुण्य मुझे बतलाता ।
देव, साधारण प्राणी, सत्य कहती हो;
प्रेम-स्नेह-ममता नद में बहती हो ।।

सागर का जल खारा व्यक्ति न चाहता,
मीन-मगर असंख्य जलचर जन्माता;
देव के तट से दूर भीष्म का तट है;
नज़र नहीं आ सकता, यही संकट है ।

नर में औ अतिनर में यह अन्तर है;
एक में व्यक्ति, समाज उसके भीतर है ।
अतिनर सदा समाज को ही जीता;
नर स्व-सीमित-खारा जल ही पीता ।

भीष्म बन कर मैंने हत्या; तेरी की;
अम्बा तेरे जीवन को भी अग्नि दी;
परिस्थितियों ने देव-भीष्म बना दिया,
राज्य-धर्म ने स्व-धर्म छुड़ा दिया ।

मैं दोषी हूँ तेरा, मन से मानूँ;
लोह-कवच का बन्धन तुम पे डालूँ.
व्यक्ति औ समाज अभिन्न होते हैं;
मन से ऊपर उठ मर्यादा ढोते है ।

नर ही तो देव अतिनर बनता है;
स्व-हित को त्याग दीपक जलता है ।
विधि खेलती खेल, वह सभी जानता;
मृत्यु-इच्छा वरदान वह नहीं मानता ।

मृत्यु-इच्छा न चाहूँ, देव हो चाहते;
कर्म-गति में क्या है तुम नहीं जानते?
आत्मा के संकेत मेरा हृदय सुनता है;
स्व-कर्मों को कब व्यक्ति चुनता है?

विधि का है विधान अतिनर हूँ मैं;
कर्त्तव्य-धर्म-मर्यादा से बंधा हूँ मैं ।
अधर्म के पथ पर-जब तुम हावी हो;
रोटी-नमक की कीमत जब भारी हो?

नर भी तो अतिनर में भी रहता है;
भूख-प्यास-पालन वह भी चाहता है ।
नमक-हलाहल ही तो बन जाता है;
कभी अधर्म की राह पर ले आता है ।

कैसा दोहरापन है ओढ़ना पड़ता;
मन-इच्छा के उलट जब करना पड़ता?
जीव-विवशता तन की समझ आती है?
पांच-तत्व-कठपुतली बन जाती है?

देव तुम्हारा आना सुख लाता है;
नर की इच्छा चाहना भर जाता है;
शुष्क-नीरस-भीष्म खड़ग से तीखें;
तुम से मिल होते हैं सुमन सरीखे?

सुन्दर के उपवन में रहना चाहता हूँ;
मन की रेशमी तारें बुनना चाहता हूँ ।
तमस-एकांत सताता, मिलना चाहता हूँ;
कुछ क्षण मन के सुख में जीना चाहता हूँ ।

अम्बा:-

निम्न धर्म न्योछावर जब होता है;
उच्च-धर्म स्थापित तो फिर होता है,
स्वार्थ को ठुकरा कर, परमार्थ करते हैं,
अपने कुल से बंधे कहां तक चलते हैं?

जान चुकी हूँ नरवर, ब्रत धारी हो,
भावागत शोषण के हाथों दण्ड-धारी हो,
परशुराम से युद्ध किया व्रत पालन है;
पर सबला नारी का यूं ही उत्पीड़न है ।

फंसी भंवर में कली मैं चकराती हूँ;
कभी भटकती इधर-उधर जाती हूँ;
छः वर्ष हैं बीते, अपमान झेलते,
नारी होने का चलूँ दण्ड भोगते ।

भीष्म :- असमर्थ भाग्य के हाथों अकिंचन हूँ,
सत्यवती को दिया वचन, उससे बंधा हूँ;
क्षत्रिय-कुल में वचन भंग महापाप है;
इसी वंश में आना, कोई अभिषाप है ।

प्रतिज्ञा का तो पालन, सदा होता है;
जो न पूरी करे-बहुत असभ्य होता है;
प्रतिज्ञा की रक्षा तो अम्बे करनी होगी;
जान-हथेली पर इस हित धरनी होगी ।

क्षत्रिय-मर्यादा का यूँ ही निर्वाह है;
स्व-हित की करता वीर नर न प्रवाह है;
सत्य-व्रत-अनुरक्त प्राण तक तजते हैं,
प्रतिज्ञा-भंग कलंक न माथे धरते हैं ।

वचन-भंग का अपयश सहन न होगा;
इस जीवन के लिये भयंकर विष होगा;
'स्व-होम' करना ही तो वचन भंग है,
अपकीर्ति से अच्छा तो मृत्यु वरण है ।

नहीं उठाकर मैं अम्बा अपने हित लाया,
राजेश्वरी का भाग्य तुमने स्वयं लौटाया,
मनो भावों का संयम तेरा था टूटा,
हस्तिनापुर-शासन से तेरा नाता छूटा ।

मैं व्यक्ति अब नहीं मात्र शासन हूँ,
कर्म-वचन-मन से इसको अर्पित हूँ,
मन-इच्छाओं से रहित, मात्र दास है;
राजाज्ञाओं के पालन में ही तत्पर हैं ।

व्यक्ति में ही नहीं, हस्तिनापुर-शासन हूँ,
बस इसके लिये अम्बा जीता-मरता हूँ;
बाँध-लिया है स्वयं को, मैंने तो इससे,
क्रीत-पशु सा बंधा हुआ, हस्तिनापुर से ।

भरतवंश की रक्षा ही मेरा व्रत है,
उपरिचर वसु पुत्री का ही से सब है,
मीन-गर्भ से जन्मी, दाशराज, पाली,
उसे दिये वचन की करता रखवाली ।

राजनैतिक जीवन-यश में जीता हूँ;
देवव्रत नहीं मैं भीष्म बन जीता हूँ?
नियति के भी प्रहार रोज सहता हूँ;
समय-गर्भ में छिपा, दण्ड सहता हूँ ।

अन्तर्मन में भी गहन अन्धेरा रहता,
अनकही कहानी मगर नहीं है कहता,
आकाश-तारों को हर रात मैं पड़ता हूँ,
असंख्य-गंगाओं में न कहीं दीख पड़ता हूँ ।

पूर्व कर्मों का ये दण्ड नज़र आता है,
हृदय व्याकुल, कुछ मगर न पड़ पाता है,
यौवन में ही संन्यास धर्म पाले हूँ;
सांसारिक-जीवन को मगर ढाले हूँ ।

इस जीवन में सुकाल कभी न आया,
दुभार्ग्य-शिला से मैं हूँ टकराया,
वरण किया अग्नि से, समिधा माना,
होम किया है 'स्व' पीड़ा पहचाना ।

मुनि वशिष्ठ से दण्डित तो जीता हूँ,
प्रभास-वसु, देव बना विष पीता हूँ,
वसु पत्नी के कारण पाप किया था,
ऋषिवर की गाय-नन्दिनी को हरा था ।

मृत्यु-लोक का दण्ड जन्म से पाया,
मूनि वशिष्ठ से अभिशप्त धरा पर आया,
वश-हीन रहना ही तो निश्चित है,
नारी-संसर्ग पर पड़ा हुआ पत्थर है ।

वे ही अभिशाप-साकार रूप धरा है,
देवव्रत ने जो भीष्म का रूप वरा है,
ये रहस्य-माता ने जो था समझाया,
गांगेय का पावन रूप मुझे पहनाया ।

यह जीवन तो नहीं अभिशाप मिला है,
सृष्टि के हर सम्बन्ध ने मुझे छला है,
धर्म-भाव पर अधर्म शासन करता,
अम्बा ये देव, अन्यथा तुम्हें न हरता?

भाग्य बचाने वाला कवच न पहना,
दुर्बल मानव है, उसके तन पर गहना,
हम पहनते अंगारों की नित माला,
समय ही करता है भाग्य को काला ।

कहते तो हैं मनुष्य भाग्य निर्माता,
भाग्य से पुरुषार्थ बल से टकराता,
समय, मगर संकट लेकर सदा आता,
भाग्य रहित-पुरुषार्थ को कर जाता ।

भाग्य तो कांटे ही लेकर आया,
जब से है मैंने यह जीवन पाया,
कर्म के बल पर ही आगे बढ़ता हूँ,
पुरुषार्थ-रहित भाग्य से डरता हूँ ।

भाग्य को पुरुषार्थ बल चलाता,
कुमार्ग से सुमार्ग पर हूँ इसको लाता,
पुरुषार्थ ही तो अन्त भाग्य बनता है,
दैव सदा पुरुषार्थ बल की सुनता है ।

दैव पुरुषार्थ सदा साथ रहते हैं,
कर्म के पीछे दैव बंधे चलते हैं,
बीज कर्म का ही तो फल लाता है,
भाग्य अकेला कुछ न कर पाता है ।

जीवन-खेत में कर्मबीज तुम डालो,
समय-कर्म और भाग्य युक्त बना लो,
भाग्य अरी पूर्व कर्म ही तो होता है,
पुरुषार्थ इस जन्म के कर्म ढोता है ।

पूर्व जन्म के कर्म भाग्य कहलाते,
इस जन्म के कर्म पुरुषार्थ बन जाते,
कभी जीतता भाग्य, कभी पुरुषार्थ,
कभी होते दान वीर, कभी याचक ।

पुरुषार्थ का फल भाग्य है लाता,
इन में बंधा है अदभुत नाता,
पुरुषार्थ के बिना सिद्ध भाग्य न होता,
भाग्य रहित पुरुषार्थ बीज न बोता ।

भाग्य सहायता करता तो वीरों की,
भाग्य है शक्ति बनता, कर्म-धीरों की,
मैं नियति के चक्कर में घूम रहा हूँ,
पुरुषार्थ बन भाग्य-मुख चूम रहा हूँ,

पूर्व जन्म के कर्म, दूर ले जाते,
अन्धी गलियों में मानव को भटकाते,
अन्तर्मन में रूप की ज्वाला जलती,
भाग्य की रेखाएं रह रह कर ठगती

अम्बा; विचित्रवीर्य के लिए हूँ लाया,
उसने भी, दुर्भाग्य, अरी ठुकराया,
तन और मन से नर, नारी को वरता,
भावागत प्रेम-प्रणय का ही रिश्ता ।

राज्य लक्ष्मी समझ तुम्हें मैं लाया,
मैं राज्य-दास हूँ, ये मन न समझाया,
स्वामी-सेवक एक कभी न होते,
अपनी मर्यादा के पालक हैं होते ।

मन से किया वरण किसी और नर का,
तन कैसे अपनाए, नहीं पतन क्या?
दुविधा में तुम बैठी, अब लगती हो,
मन द्वारा संचालित 'स्व' हरती हो ।

आयु भी तो नहीं, अन्तर है भारी,
सुता ही लगती हो, लगती न नारी,
अनमेल अवस्थाएं हैं दोनों की,
जगती अरी नहीं है ये बौनों की ।

ब्रह्मचर्य के पालन का व्रत है;
देवव्रत के जीवन का यह सत् है,
छोड़ इसे न सकता, अपयश न पाऊँ,
ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य आमरण निभाऊँ ।

यश-शरीर में ही तो मानव रहता है,
इसके लिये असंख्य वह दुःख सहता है,
मानवता का तो यही भारी-बल है,
शीलवान नर का यह चारित्र्य बल है ।

माता, सुता, अनुजा ही मैं मानूं;
नारी का कोई रूप न पहचानूं;
सृष्टि की निर्माणक शक्ति है नारी,
महापूर्ण-गंगा, सरस्वती, भयहारी,

व्रत पालन का हठ बहु-बलशाली,
मृत्यु वरण कर लेता, करता रखवाली,
वचन-भंग करना, गरल पीना है,
अपकीर्ति की अग्नि में ही जीना हैं ।

भले सम्पूर्ण नारी, अम्बा तुम हो,
सोलह कला ही धारण किये तुम हो,
किसी मूल्यपर भी न अपना सकता हूँ;
मगर कठोर हृदय, ठुकरा सकता हूँ ।

अम्बा:-

बाहरी कारणों से ही ठुकराते तुम हो;
अन्तर्मन में नारी-सुख को पाले तुम हो,
पुरुष-अधूरा सदा नारी बिन होता,
देवव्रत ! क्यों 'स्व' को देते तुम धोखा?

नर और नारी ही सम्पूर्ण सृष्टि;
मेघ इसी से करते है सम वृष्टि,
ये जन तो फिर जीवन पाती है;
सौभाग्य-शाली फिर कहलाती है ।

नर इस का आधार अर्थ तत्व है,
नारी बिन पूरा नहीं ये ही सत्य है,
अर्ध नारीश्वर तभी तो हैं कहलाते,
पार्वती से मिल पूर्ण रूप हैं पाते ।

भीष्म क्यों ओढ़ा अधूरापन है,
स्वार्थों ने तुम्हें बाँधा, प्रण है,
समझ जगत को पूर्ण नहीं तुम पाये,
आदर्श की बलि-वेदी पे चढ़ आये ।

चतुर शिकारी, सिंह आगे बकरी बाँधें,
क्षुधातुर-करने को बाड़े है साधें;
हस्ती को वश करते, कुआँ खोदे,
पाँवों में जंजीरों के छल वो दें ।

निशाद-राज के स्वार्थ-सर्प डसा है,
भावुकता के जाल से सर्व छला है,
तेजस्वी को, कुण्ठित कर के छोड़ा,
स्वार्थ-दूब को चर रहा है घोड़ा ।

धर्म के विकरित रूप को ही घड़ा है,
भाव-शोषण ने, पिता का रूप धरा है,
बलि वेदी को ही-सिहासन माना,
पशु समझ कर भीष्म तुम को बांधा ।

यह कैसा सामाजिक न्याय भारी,
सम्बन्धों के कारण-चली आरी,
जनक ही स्वत्व को नोच लिया,
स्व-सुख, खातिर, तुमें दबोच लिया ।

बाज, झपट पड़ें हैं, हंसों पर क्यों?
टुकड़े-टुकड़े हुए, बिखरें अंशों रे ज्यों,
रेशम के तारों को छाँट लिया है लगले,
कूपन में, भीष्म उबाल दिया है सबने,

स्वार्थों की शार्क ने सब निगला,
सागर की लहरों ने विष ही उगला,
'पेंगुअन' को ही वेल ने झपट लिया,
सम्बन्धों के जल में शिकार किया,

समझ नहीं देव दानव को पाता,
आदर्शों के छल करता-लूट ले जाता;
कूटनीति-शासन की निर्मम होती,
मानवता इसके समक्ष सदा रोती ।

बड़ी मछली ने ही तो निगल लिया है,
स्वत्व क्या, जीवन से विहीन किया है,
अपना क्या, भीष्म, शेष बचा तेरा?
विधि-समय-जनक ने प्रहार किया है ।

भावावेश के कुओं में नर डूबे,
विवेक शिखर खड़ा रहे, और हूके,
पर-सुख की करता है नर अभिलाषा,
स्व-सुख वे क्यों कर भूल है जाता?

समय देखलो भीष्म खूब हँसा है,
भाव-शेषनागों ने तुम्हें डसा है,
हरा-विवेक-औचित्य समय ने छल से;
काम ने तीर चलाए-बहुबल से ।

पिता-में कुसमय, वासना जागी,
देव-विधाता की रेखाएँ आभागी;
पावन-हृदय को मिल सब ने लूटा;
शील-सौम्यता का सम्बल है टूटा ।

भरत वंश को तेज मिला था भारी,
वसुओं की शक्ति का बहुत आभारी;
परशुराम को भी ललकार सका जो;
क्षत्रिय-वध-व्रत उसका नकार सका जो ।

'स्व' रक्षक ही 'पर'-रक्षक बन सकता है,
जीवित रहते ही-रिपु से तो लड़ सकता है;
स्वत्व को खोना, स्वाभिमान खोना है,
स्वहन्ता बनना, पराधीन होना है ।

परतन्त्रता तो ग्लानि-कुण्ठा लाती है;
'निजत्व' को तो आग लगा जाती है;
'निज' रहकर ही हम 'परहित' करते है,
अधिकार-शून्य तो खुद से ही लड़ते हैं ।

छल से छलना, तो प्रतिकार चाहती है,
यदि त्रुटि हुई, तो बुद्धि सुधार चाहती है,
दल-दल में धंसते-जाना नहीं शोभित है,
हालात बदलने हित विवेक क्रोधित है ।

दल-दल को चीर हस्ती बाहर आता है,
मानव-बल, सदा पशु-बल से टकराता है ।
कौल्हू में बाँधे, देव पशु नहीं, सुन लो,
पुरुषार्थ-विवेक सत्य मार्ग तुम चुन लो ।

है, समय देव, स्वार्थों का घेरा तोड़ो,
कूट नीति-छल-बल लिया व्रत उसे छोड़ो,
भरतवंश के भाग्य की कि बंद गली है ।
जीवन पतझर में-कली कहाँ पली है?

समय नया अवसर है लेकर आया,
रे भीष्म तुमने क्यों इसको ठुकराया?,
भरत वंश का सूर्य उदय सदा, करो तुम;
विनाश-गर्भ में छिपा, न देख डरो तुम ।

पूर्व कर्म के बन्धन हैं तुम तक लाये,
यही तो भाग्य कौन तुम्हें समझाये,
काटो भीष्म काटो, इन जंजीरों को तुम,
इनमें जकड़े रहोगे अन्यथा आमरण तुम ।

मुझे भीष्म तुमने इनमें बांध दिया है,
मानवता की करुणा, को ही लाँघ लिया है ।
नारी संकोच त्याग कर, भीष्म तुम्हें पुकारा,
इस उखड़ी लता को, तरुवर मिले सहारा ।

जल-दैत्य ने तुम्हें तलहटी दी है,
और विधाता ने रेखाएं उलटी ही हैं,
'पैंगुअन' सा अनटारटिका में छोड़ा,
शस्य, श्यामला से नाता है तोड़ा ।

समय भालु नें हैं मीन सा निगला,
स्वार्थ की आँखों में आँसू न निकला,
शार्क के मुख में पहुंच गए हो भीष्म,
शेष तुम्हारा बचा, ग्रास सा जीवन ।

साहस के अजय शिखर तो तुम हो,
चन्द्र शोरों में फैले बर्फ से तुम हो,
पहुँच कोई नर नहीं वहाँ तक पाता?
धरती के गुरुत्व को तोड़ न पाता ।

उत्तरी ध्रुव की रांत को ओढ़ लिया है,
सूर्य किरणों से तेज नाता तोड़ लिया है,
दिन निकला था जन्म गांगेय जब पाया,
पूरे-यौवन में आकर है उसे लुटाया?

अग्नि से प्रचण्ड़ बाहुबल स्वामी,
निर्बलता की करते क्यों गुलामी?
परिवार-स्वार्थ से बंधी तो सत्यवती है,
निर्विघ्न विचरना चाहतीशार्क मछली है ।

भीष्मः- री अम्बा क्यों, विचार-दोहन करती,
'स्व' को ही कूट रही हो चलो भटकती?
साबुन से तो मैल निकल है जाती,
कपड़े की न फटती, थपेड़ों से छाती ।

कर्म-निचोड़ ही देते हैं, स्वजन हैं,
इस धरती का तो, अरी यही जीवन है,
जन्म-मृत्यु के बीच खींचा वस्त्र हूँ,
दोनों ही हैं नीचोड़ रहे, परिचित हूँ ।

छन-छन कर दिन जल बूँदे गिरती,
भाग्य ही रेखाएं री हाथों मे तिरतीं,
लिखा हुआ जो, कैसे नर मिटा सका है,
सृष्टि का रथ यूँ ही नहीं रुका है ।

पूर्व जन्म को नर तो जान न पाता,
जन्मों-जन्मों से बंधा कर्म का नाता,
चढ़ कर भी मन अपना सका न तन है,
संकल्पों-विकल्पों का घर यह मन है ।

चाहकर भी अनुपम-सुन्दर अपना न पाऊँ,
टंगा-कर्म-शूली पे, मन सदा पथराऊँ,
तन के बल की जग करता है मन पूजा,
मन के बल को, दुत्कार रहा, फल दूजा ।

मन की परतों पर ही लोह कवच है डाला,
भावावेशों पर मैं लगा चुका हूँ ताला,
भाव ही अम्बा, सुख-दुःख है बन आते,
कर्त्तव्य-कर्म-पथ से है उसको भटकाते ।

मैं विवश-कर्म के हाथों , न टकराओ,
मैं पत्थर बना दिया हूँ , न पिघलाओ,
स्वामी ने ही तो मेरा स्वामीत्व है छीना,
दास्यत्व का अपमान गरल नित है पीना ।

अम्बा तुम लौटो हृदय फटा जाता है,
तुम्हें देख, खुद पे भी तरस आता है,
कठपुतली-मानव की क्या दशा होती है?
सत्यवती जाल में बंधी आत्मा भी रोती है।

भीष्म की पलकों पर आँसू मत आना,
यदि आ जाये तो, पलकों में ही पथराना,
'स्व' के निर्णय में मुक्त रहा न 'अम्बा',
'पर' के निर्णय से बंधा लड़ूं बन अन्धा ।

'स्व' संचालित होता, तुम को अपनाता,
प्रथम मिला-प्रस्ताव, न मैं ठुकराता,
अपकार हुआ निश्चित है, मेरे हाथों,
उपकार तुम्हारा करता, अपने हाथों ।

रेशम का कीड़ा खाता, तार उगलता,
स्व-हत्या के लिये है कैप्सूल बुनता,
विधि के स्वार्थ को जान नहीं है पाता,
अपने ही हाथों-कब्र तो बुन जाता ।

एक-मील तक री लम्बी तार बनाता,
उसके बदले भर-पेट है भोजन पाता,
मरकर भी तो जग को रेशम है दे जाता,
जरा सोचो इस जगती से है क्या ले जाता?

अम्बा तुम भी इन तारों को ही लपेटो,
नर-कीट की न मार्मिक हालत देखो,
मैं भाग्य कीट सा ही लिखा कर लाया,
स्वजनों के हाथों, जगती में निचुड़ाया ।

अन्तर्मन की पीड़ा को न बाहर लाओ,
भीष्म को अम्बा, देव न फिर बनाओ,
हृदय का दर्पण मुझे न फिर दिखलाओ,
इस पत्थर को छोड़, सखी दूर, तुम-जाओ ।

श्वासों तक तुमको न अपना पाऊँगा,
अपमान-बोध से जलता और जाऊँगा,
अपराध-भावना, मन धिक्कार रही है,
कुकर्म किया है, अम्बा, फटकार रही है ।

तेरे आँसू-सागर में डूब रहा हूँ,
ग्लानि से मैं भरा पसीज रहा हूँ,
अम्बा-आत्म-बल से तुम अपनाओ,
नश्वर-भीष्म-तन को तुम ठुकराओ ।

अम्बा:- भीष्म देख हृदय पर करुणा जागी,
धनीभूत-पीड़ा से व्यथित, अनुरागी,
व्यर्थ हुआ यह जीवन, दिशाभ्रम है,
आशा अन्तिम डोर, टूटने का क्षण है ।

सभी दिशाओं ने द्वार न बन्द किये हैं,
विपुल-क्रंदन-हृदय, श्रवण बन्ध किये हैं,
आधार बचा न कोई, उखड़ी है नारी,
प्रचण्ड-नर ज्वाला, जला दी है साड़ी ।

"नग्न-आत्मा, हृदय भी रोता है,
धोर-निराशा का पल मृत्यु ढोता है ।
यह यातना, तो न सह पाऊँगी,
लकड़ी कुंदें सी न सुलग पाँउगी ।

वरा तुम्हें हृदय विवेक और तन से,
नर-श्रेष्ठ न तुम सा माना मन से,
घोर-यातना-पीड़ा-तुम तो सहते हो,
हृदय को वाणी, नर वर न देते हो ।

ठुकराते यदि भीष्म तुम मन से,
स्वीकार इसे मैं करती पूर्ण-यत्न से,
ठुकराने का आधार, भीष्म-बद्ध है,
देव-हृदय तो अनुराग से लथपथ है ।

क्रोध नहीं आंखों में बसी श्रद्धा है,
सुन्दर के हाथों पराजित, क्यों ठगा है?
आवरण-ठोस मैं, देखूं कोमल-हृदय,
सामाजिक-अन्याय से देखूं मैं तड़पे ।

भीष्म-कारा से मुक्त करूँगी, सुनलो,
अभिशाप-की ज्वाला भस्म करूँगी, सुनलो,
अपने संग ही लेकर अन्त मैं जाऊँगी,
जन्मान्तरों में मैं तुमें ही अपनाऊँगी?

चिता जलेगी-तन यह राख करूँगी,
देव-मिलन का फिर प्रयास करूँगी;
शिव का है, वरदान, मुक्ति पाँऊगी;
अपमान-अन्याय से छूट जाऊँगी ।

यह जीवन यदि अर्थ नहीं पायेगा,
आत्मा धर कर रूप नया आयेगा ।
घृणा-प्रेम में, प्रेम ही जीत चुका है,
प्रतिकार-की ज्वाला को भी फूंक चुका है ।

स्वतन्त्र नहीं रहे तुम, छले गए हो,
आदर्शों की बलि वेदी पर, चढ़े हुए हो,
इन आदर्शों की कारा से मुक्त करूँगी;
भीष्मता का तो त्याग-तुम्हें देव करूँगी ।

यह सामाजिक छलना का ही छल है,
व्यक्ति से निजत्व छीनने का फल है;
भोग रही है नारी, नगों से टकराती,
स्व-हाथों से 'स्व' की चिता जलाती ।

चिता जलाई अम्बा, आत्म-दाह किया,
नया-जन्म पाने को यह उत्साह किया,
व्यर्थ-धरा पर जीना, है कैसा जीना?
लक्ष्य सामने हो तो, गरल भी पीना ।

2

द्रुपद-सुता का फिर से रूप धरा,
कार्तिकेय- की माला को स्वयं वरा,
टांग आई थी जो-द्रुपद द्वार पर,
शुष्क-पड़ी थी अब तक उसी द्वार पर ।

द्रुपद इसे जब जाना था चकराया,
भीष्म से टकराने का न बल पाया;
सुता के इस कार्य से, संकट की छाया,
विवेक-हरा समय ने, सुता को ठुकराया ।

भटक-रही फिर अम्बा नए रूप में,
थी प्रताड़ित, कुण्ठित नए रूप में,
लिखी यातना, नारी के हिस्से में,
दु:ख-संताप, उपेक्षा ही हिस्से में ।

ममत्व ने ही अब प्रहार किया था?
जनक ने ही तो घर से बाहर किया था,
कितने उलाहना देती, प्रतिज्ञायित नारी,
दृढ़-संकल्प के कारण मुसीबत भारी,

पूर्वजन्म के बन्धन कोई न जाने,
अज्ञात-बद्ध-नर-मेधा इसे न माने,
हो प्रत्यक्ष उसे ही है प्रमाण मानता,
परोक्ष-सत्ता-अस्तित्व नहीं जानता ।

स्वार्थ ने फिर अपनी शक्ति अजमाई,
जनक ने अपनी सुता थी मार भगाई,
मृत्यु के डर से भयभीत-द्रुपद हुए हैं,
तात-पालन की मर्यादा भी भूले हुए हूँ ।

पूर्व-जन्म की बातें सभी स्मृत थीं;
इस जन्म में भी न भूल सकी थीं,
लक्ष्य-ज्ञात था, भटक नहीं पाई थीं,
भीष्म-को अपनाने ही आई थी ।

द्रुपद गृह में पली बड़ी कुछ;
खेल-खेल में माला-धरे खुश;
कमल के फूलों की माला थी;
कार्तिकेय-वरदान मिली थी ।

उसे उठाकर गले में डाला;
द्रुपद ये क्रीड़ा लख घबराया;
मैं, पगली कन्या के कारण,
भीष्म से क्यों वैर अकारण?

शिखंडनी माला नहीं उतारी;
द्रुपद पर विपदा थी भारी;
भीष्म से किस बल टकराता;
सुता-स्नेह भी था कंपाता ।

आदेश दिया माला यह छोड़ो,
नहीं तो घर से नाता तोड़ो;
पिता की वाणी सुन घबराई;
दृढ़ प्रतिज्ञा मन दोहराई ।

यह माला मैं उतार न पाऊँ;
पिता, सीधी मैं यमपुर जाऊँ ।
अटूट मेरा इससे नाता है;
समझ मगर न कुछ आता है?

यह माला नहीं वर माला है;
अमृत-कलश, भरा प्याला है?
इसे पहन मैं धन्य हुई हूँ,
मैं खण्डित अखण्ड हुई हूँ?

स्थापित कर दो कोने में;
मैं खिली हूँ जिस उपवन में;
अपनी छाया के पंखों में;
जीवन का ताप हरने दो ।

यह माला वपु जीवन धन;
संतोष मिला क्यो अन्तर्मन?
त्रिभुवन का सुख देती क्यो?
इसी घर में जन्म लेती क्यों?

तरल जलधि की लहरों पर,
शान्त-दीप-शिखा, पहरों पर,
प्रतिबिम्ब उभर लहराते;
उस शोर पे है ले जाते?

आवाज सुनाई कुछ पड़ती,
चिर-चित्र स्वप्न सा बुनती;
शान्त-अम्बर मुसकाता है;
फिर इन्द्र-धनुष छाता है ।

स्मृति के उर्वर आंगन में;
पाटल-रक्ताभ खिलता है;
इस अग्निर्मय जीवन से;
अन्तर्नाद चीर चलता है ।

पावक-कण आकाश से बरसें;
हिम-पात भयंकर, तरसें?
प्रचण्ड-वेग से अग्न बही हैं?
लगता कोई कुटी जली है ।

माला यह शान्त क्यों करती?
मानस की भड़की ज्वाला को,
यह शीतल मरहम सी लगती,
हृदय-घायल-पीले तन को ।

यह कमल सर्प हैं शिव के;
कल्याण को पास बुलाते;
स्वर्णिम-आत्मा के प्रकाश में,
स्वर्गिक कुछ चित्र बनाते !

रहने दो वपु इसी घर में;
शरणागत, बन कर ही आई;
किन्हीं पूर्व-जन्म कर्मों ने,
माला-गले में पहनाई ।''

सुता के मुख से सुनकर सब;
द्रुपद - हृदय और पथराया;
यह-पूर्व कर्मो का बन्धन;
अनिष्ट है बनकर आया ।

परित्याग करो इस घर का;
कल्याण - मेरा जो चाहती;
भीष्म से टकराने का साहस न-
मुझमें, क्यों मुझे जलाना चाहती?

पिता-गृह को फिर छोड़ा,
माला को पहन ही निकली;
तितली सी आयु में भी;
वह बिजली बन कर कड़की ।

बन में जा कुटि बनाई;
ममता ने जब ठुकराई,
दुर्भाग्य-विधि के हाथों;
जलती फिर से तरुणाई ।

तप-बल-पूजा - वन्दन से;
स्त्री-रूप को उसने त्यागा ।
मेघा-तेज - शौर्य जगाकर;
पुरुष-रूप धारण, महाभागा !

तपोबल प्रसार किया फिर;
नाम शिखण्डी-शूर अपनाया;
महारथी ही बन कर चमका,
पूर्व कर्मों का फल पाया ।।

त्रयोदश-पर्व

महाभारत-भीष्म का युद्ध

I

द्रुपद सुता को प्रतिकामी सन्देश दिया;
"राजसूय-यज्ञ अधिकारी, चौसर में हार दिया;
राजाज्ञा, धृतराष्ट्र-महल में दासी अब तुम !
चलना होगा-महारानी, दुर्योधनजिता तुम ।''

हिमालय-कैलाश-गिरी-शब्द - गूँजे - भयंकर;
भूकम्प उठा हृदय में सागर-कुपित - शंकर;
पाँचाली:- "प्रतिकामी, यह क्या सुन रही हूँ, मैं दासी!
राजयमही पांचाली चौसर की बाजी में हारी !

नारी, कब से वस्तु हुई चौसर की?
राजा, की सम्पत्ति मात्र-मात्र नहीं;
निजत्व, स्वत्व-अधिकार छिना है;
ये कैसा शासन, राज्य नियम है?

'रथवान ! जाकर हारने वाले से पूछो;
पहले जुए में स्वयं-हारे या मुझ को !
भरी सभा से इस प्रश्न का उत्तर लाओ ?
नारी को पराजित-नर की न वस्तु बनाओ ।''

भरी सभा में द्रोपदी का प्रश्न यह गूँजा,
साँप-सूंध गया सब को, युधिष्ठिर; समय गूँगा;?
कोई उत्तर न देते बना धर्म जुआरी से;
अवाक् अर्धचेतन से बने रहे भिखारी से ।

दुर्योधन ''पांचाली स्वयं पति से पूछे आ,
शीघ्र उसे इस सभा में जाकर तूँ ला ।''
"पवन को बाँधकर कौन है ला पाया?
घायल सिंहनी से कौन प्रतिकार टकराया?

सभा में स्वयं पूछें, दुर्योधन कहता,
पाण्डवों-का दल क्यों बड़ा मौन बैठा?
टूटी-शाख से झुके हैं मस्तक सब के;
वृक्ष-विशाल हैं, पर उखड़े हैं सब लगते ।

द्रोपदी:- "नहीं, मैं वहाँ नहीं नर जाऊँगी,
भीष्म-पितामह से मैं उत्तर चाहूँगी;
सब को तुम मेरा प्रश्न जाकर सुनाओ,
नारी स्वत्व है क्या? जाओ उत्तर ले आओ?''

मगर-सभा से कोई न उत्तर आया?
आया, दु:शासन, अपमान साथ ही लाया,
"हमने जीत लिया तुम्हें, सम्पत्ति अब हमारी,
अन्याय तो किया नहीं, चौसर में पतियों ने हारी ।''

ये सुनाकर, लगा खींचने अबला को,
अन्त: पुर को घायल-हरिनी थी भागी,
पीछा किया पशु, बालों से खींच लिया,
नारी निजत्व-स्वत्व को रौंद दिया ।

घायल पक्षिनी पंख कटी कराही,
भरी सभा में, नारी-मर्यादा चिल्लाई,
सभी वृद्ध सज्जनों से प्रश्न किया फिर?
''नारी-सम्पत्ति नहीं किसी भी नर की?

जो हार चुका सर्वस्व शेष बचा क्या?
स्वतन्त्रता छिन गई, हुआ पराधीन पूर्व जो,
स्व पत्नी कैसे दाव पर लगा सका फिर;
पत्नी का अलग स्वतन्त्र-अस्तित्व है धर्मात्मा?

यह क्या न्याय, पराधीन की पराधीन नारी?
नर की सम्पत्ति क्यों स्वीकारी सब ने नारी?
कुरु कुल के बुजुर्ग-सभी, यहाँ-मौन न धारो,
जो न्यायोचित कथन धर्मानुसार उसे विचारो ।

नत मस्तक-बगुले सा सिर नीचा किये हो,
मछली चोंच में पकड़े बने बहुज्ञानी हो,
दुर्योधन-बल-सत्तामद से पराजित तुम हारे;
भीष्म, द्रोण, कृपा, शकुनि, यह पांडव सारे ?''

पांचाली का आर्तनाद, अनाथिनी हुई व्याकुल,
धर्म-जल से फैंकी बाहर, बैठा सारा कुरुकुल ।
भीम उठा चिघांड़ आर्त स्वर न सह पाया,
बरसी प्रश्नों की आग, शीतल जल गर्माया ।

भीम:- 'गए गुजरे भी जुए में रखैल तक न हारें,
अन्धे हुए चौसर में द्रुपदसुता क्यों हारे?
धूर्त्तों के कारण हुई सभा में, अपमानित,
भयंकर-पीड़ा-वेदना सह गए राजा - जन ।

घोर अन्याय हुआ यह पांचाली सह न सकूँ मैं,
धर्मराज के हाथों हुआ-पाप से भारी कहूँ मैं,
द्यूत-क्रीड़ा में जिन हाथों ने यह बाजी हारी;
चाहता हृदय पावक-से हाथ जला डालूँ मैं ।

भाई-सहदेव कहीं से जलती अग्नि तो लाओ,
पांचाली-अपमान किया जिस कर, उन्हें जलाओ।
युधिष्ठिर ने पाप-मार्ग अपना धर्म-सत्य त्यागा है;
भरत-कुल का दहन भरी सभा में कर डाला है।

अर्जुन:- रुको भीम ! धैर्य का वरण तनिक करो तुम;
शत्रु के रचे-कुचक्र में सभी फंसे हुए हम,
विपरीत काल हो तो, बुद्धि पलट जाती है,
धर्म-पथ छुड़वा कर अधर्म पर ले आती है ।

यदि हम फंस गए इस मकड़ी-जाल में,
तो निगल जाएगी लघु-मकड़ी भी?
भीम शत्रु-पक्ष, उद्देश्य पूर्ण न हो,
कुसमय का मनोरथ न यूँ पूर्ण हो ।

"दुर्योधन, यह कार्य वीरोचित नहीं है,
बाहुबल छोड़ कर द्यूत-बल अपनाना,
पराजित-खिलाड़ी को रह - रह बहकाना,
शकुनि भड़काया, द्रोपदी को दाव पर लाना ।

द्यूत-नशे में चूर युधिष्ठिर था यूँ पुकारा;
"अपनी द्रोपदी दाव पर मैं लेकर आया ।"
हाहाकार मचा सभा में, वृद्ध-लोगों धिक्कारा,
छिःछिः कैसा घोर पाप है सबने फटकारा ।

दुर्योधन आदि आनन्दित कोलाहल, हुए मस्त;
पर 'युयुत्सु' हुए व्यथित और शोक-संन्तप्त ।
धर्म को अधर्म-हिंस्र-पशु ने आन दबोचा;
आ पहुँचा कुकाल ! युधिष्ठिर न कुछ सोचा ।

विजय-लोभ पराजित से क्या न करवाता?
अर्जित-कीर्ति-परमार्थ; सब मिट्टी कर जाता;
पराजय, विवेक-अन्ध, कुंठित है करती;
धर्मराज-युधिष्ठिर को भी वश है करती ।

भीष्म सब देख रहा पर मौन खड़ा था,
मन ही मन युधिष्ठिर को धिक्कार रहा था,
बँधा-पशु वाणी पर भी बन्धन डाला?
पौत्र-वधू की दुर्गति क्यों मुख पर ताला?

विकर्ण जैसा भी जब बहुत दुःखी हुआ था?
पूछ रहा था सबसे, क्यों आप ने मौन धरा है?
न्यायोचित यह कर्म कहाँ धर्माचरण है?
पत्नी नहीं है वस्तु पति न मालिक है?

स्वत्व नर का ही नहीं; नारी का भी है;
द्रोपदी जुए में कभी हारी वस्तु न है?
हारे-हुए की कोई नहीं सम्पत्ति रहती,
नारी अपना अलग अस्तित्व है रखती ।

कर्ण-दुःशासन, शकुनि, दुर्योधन का छल है,
भरी सभा में पाण्डव-वधू का चीर हरण है,
धर्मराज-भीष्म द्रोण, कृप, अर्जुन झुके थे,
भारतीय-नारी पर विपदा के जब मेघ-गरजे थे?

भीष्म क्रुद्ध, असमर्थ, विवश खड़े थे,
नारी-मर्यादा-चीर होते छिन्न-भिन्न थे,
हस्तिनापुर-शासन, कर्म-कंलकित हो रहा,
नरवर-व्रतधारी, मूक, सब कापुरुष सह रहा?

भीष्म-विदुर असहाय सब देख न पाये,
भरी सभा से उठकर, सब सज्जन थे आये,
लाज बचाई कृष्ण ने था चीर-बढ़ाया;
नारी-मर्यादा की सुरक्षा हित वसु ही आया ।

भीष्म मन प्रताड़ित और दुःखी था,
नारी की अस्मत को लुटते देख चुका था,
हिंस्र-पशु-सत्ता-मद में ऐसा मतवाला,
किया भीष्म के होते, मानव मुख काला ।

भीष्मः- खड़ा-नपुंसक सा रहा देखता रे उसे क्यों?
क्यों, न बल की चिन्गारी से उसे जलाया?
पौत्र-वधू को ही नग्न करते रहा देखता?
कृष्ण न आते तो, स्त्रीत्व क्या रहता?

धिक्कार-तुझे और तेरे अतुलित बाहुबल को,
तेरे इस बौने अस्तित्व, दोहरे तल को?
खड़ा है जिस पर तूँ, सिर ऊँचा किए चलता,
लज्जा से धँसी जा रही नारी की अस्मिता ।

अधर्म, समझ न आया क्यों मूक रहा मै?''
दुर्योधन-दुःशासन-पाप किया खड़ा रहा मैं;
वसुओं के बल स्वामी, फिर भी कायर बनकर?
कुकर्म, अन्याय, अनाचार, सब सदा सहन कर?

नमक-हलाली इतनी क्या होती अच्छी,
क्या-पाण्डव पक्ष से तुम्हें न मिलती रोटी?
हस्तिनापुर के सच्चे अधिकारी वो थे !
अन्याय-अधर्म-उपेक्षा सह रहे जो थे?

पाप की अग्नि ने सब तेज जलाया,
एक मरधट सा ही जीवन क्यों पाया;
राजाज्ञा पालन में धर्म कभी न अन्धा होता,
मानव सदा मानव है कभी पशु न होता?

हाय रे मेरी विवशता ली क्यों प्रतिज्ञा;
पाली सदा रे क्यों हस्तिनापुर की आज्ञा?
हिंस्र पशु दुर्योधन मदाँध हुआ है,
सता के मघ में वे पागल सांड हुआ ।

पागल पशु से रक्षा क्यों कर न पाये?
पौत्र वधू की लाज को बलि चढ़ा तुम आये,
भरत कुल के माथे पर कलंक लगा है;
भीष्म इसमें तूं भी भागीधार बना है ।

नारी अस्तित्व ही रौंदा शासन ने,
भरी सभा अपमानित किया दुशासन ने;
नारी सत्ता तो पराधीन से भी भद्धत्तर;
हारे एक प्राणी ने भी हारी स्व भार्या ।

सूर्य तेज अन्धकार को मिटा सका न?
अपनी असमर्थता पर क्यों आँसू बहा सका न?
विरान घाटियों में ही पांचाली चीत्कारी;
मरु-भूमि में हिरनी, थे हिंस्र शिकारी ।

2

सत्यवती अम्बिका और अम्बालिका;
भीष्म-पर सब छोड़ स्व-सिद्धि-पालिका ।
घृतराष्ट्र-विदुर की सलाह मान चलते थे,
भीष्म पाण्डवों-कौरवों पर स्नेह रखते थे ।

"बचपन से कौरवों ने ईर्ष्या-द्वेष विष पाला,
पाण्डवों का यश-कीर्ति-बल, करते थे काला;
भीमसेन समक्ष सौ कौरव न टिक पाते,
लड़कपन से ही दुर्योधन, मन से थे काले?

दुर्योधन मन दूषित भीम हत्या चाहता;
षड़यन्त्र रच कर उसे विष भी खिलता,
लताओं से बांध-गंगा में फैंक आये थे;
भीमसेन वहां से पारे का रस पी आये थे?

शारीरिक बल इससे तो बहुत बड़ा था;
धर्म-राज रहस्य, कभी न प्रकट किया था,
कर्ण-शकुनि इस पापाचार में सदा भागी थे,
विदुर पाण्डवों के सदा रक्षक और साथी थे ।

भीष्म तुमको तो यह सभी पता था-
क्यों न दुर्योधन को, धिक्कार सका था?
कृपाचार्य और द्रोणाचार्य से शिक्षा पाई,
अर्जुन की सेवा उसे ब्रह्मसत्र तक थी लाई ।

द्रुपद को भी जीत लिया द्रोण मित्र पाया,
कौरवों हृदय में अर्जुन का आंतक छाया;
वारणावत नगर में कूटनीति से लाया,
लाक्षागृह में सभी को था जलाना चाहा ।

भीष्म-तूने कहा कौरव-पाण्डव हैं एक सरीखे !
एक अधर्म चलते और एक धर्म पर नीके,
मैं चाहता हूँ रक्षा दोनों की ही क्यों?
आधा-आधा राज्य दुर्योधन बाँटों तुम ।

सकुशल-जीवित पाण्डव तो लौट आये हैं;
दुष्ट-पुरोचन लाक्षागृह-पापी, स्वयं मरे हैं,
यह जानता हूँ इसमें तुम्हारा ही हाथ है,
दुष्ट-पुरोचन में कहां इतनी बिसात है?

हे दुर्योधन-घृष्टता से नम्रता उत्तम है;
अपकीर्ति से सदा यहाँ सुकीर्ति उत्तम हैं,
कलंकित-राजा,होता समाज पर ही भार है,
अपने पूर्व-पुरुषों के लिए भी तो काल है ।

पाण्डव हैं धर्मात्मा, सुहृदय, सदाचारी हैं?
समाज-कुल-धर्म-मर्यादा के अनुचारी हैं,
अधर्म-पूर्व ही वह यहाँ से निकाले गए थे,
अपने ही अधिकारों से वंचित तो हुए थे ।

पाण्डव - द्रौपदी सहित सुखपूर्वक विचरें;
खाण्डवप्रस्त वन को भी-सुव्यवस्थित किये ।
श्री कृष्ण की कृपा सहायता सबने पाई;
दैवी-सम्पत्ति की अभिवृद्धि उन पर छाई ।''

राजसूय-यज्ञ युधिष्ठिर सम्पन्न कराया;
जरासन्ध महापापी को भीम ने मारा;
असंख्य-राजाओं को बन्धन मुक्त किया,
भीष्म और कृष्ण के सहयोग से सब हुआ ।

राजसूय यज्ञ के समाप्त पर पूजा-वन्दन,
बोले युधिष्ठिर "पितामह ! अब यज्ञ में आये-
राजाओं को अर्घ्य दें, इनमें किसकी पूजा?
आप है वयोवृद्ध, तपस्वी-बलशाली हैं ।''

भीष्म तूने कहा था कृष्ण सर्वोत्तम सबसे हैं;
तेज, बल, पराक्रम, ज्ञान, विज्ञान निपुण, कुशल हैं;
सूर्य सम हैं तेजवान, हम सब हैं नक्षत्र इसके,
पाते हैं प्रकाश सूर्य से, कहाँ समकक्ष हैं इसके?

तपोमय स्थान को सूर्य की भाँति करते है;
निस्तब्ध-धामों को प्राण वायु से भरते है;
उनके प्रकाश से सब प्रकाशित तो होता है,
उन्हीं के आनन्द में जड़-चेतन आनन्दित रहता है ।

बस वही योग्य हैं पूजा के हम सब में राजन्;
श्रीकृष्ण की महिमा को हे तुमने भी जाना;
सहदेव को दी आज्ञा, प्रधान अर्ध्य लाकर दो इनको,
श्री कृष्ण-शास्त्रानुसार, अर्ध्य प्रसन्न हो ग्रहण किया?

शिशुपाल के मद का घड़ा-भरी सभा में फूटा;
श्री कृष्ण के महातम को-उसने कम कर क्यों आँका?
श्री कृष्ण के तत्व, रहस्य, गुण, प्रभाव को है जाना;
भीष्म पितामह ने उनकी महिमा को है पहचाना?

भीष्म-परम ज्ञाता, प्रभु की लीला-रहस्य समझें;
शिशुपाल, के मुख से कटु वचन जब सौ फूटे;
भीष्म, तूने ही तो, प्रभु की लीला को समझाया,
श्री-कृष्ण के दिव्य-गुणों कर्मों को था दर्शाया !

'पूजा तो नारायण की है, नर की नहीं है?
इस धरती पर भगवत्तापर और तो नहीं है?
सर्वगुण सम्पन्न बस एक-कृष्ण ही है धरा पर,
ज्ञान, बल, दान, चातुरी, शूरता धैर्य, नम्र,
बुद्धिमता-कीर्ति, तुष्टि-पुष्टि, मर्यादा के मर्म ।

असंख्य गुणों के स्वामी यहाँ और कहाँ है?
यह सबको प्रिय, सब के सब कुछ कृष्ण ही हैं,
यह वत्स, आचार्य, पिता, बन्धु-गुरुवर हैं,
इसी से हमनें पूजा की यह सर्वोत्तम नर हैं ।

श्रीकृष्ण की पूजा सबकी है पूजा,
नर-होता प्रसन्न-महा नर की पूजा;
जगत् को उत्पन्न करते हैं ठहराते,
उसे संवारते रहते सत्य को अपनाते ।

जगत् रूप में प्रकट तो वही हो रहे,
प्रकृति-पुरुष दोनों है वही हो रहे ।
सबके अन्तर्यामी' घट-घट वासी हैं;
जगत्-जीव-प्रकृति में सर्व-व्यापी हैं ।

पांचों भूतों के स्वामी अरे कृष्ण हैं?
मन-बुद्धि-अहंकार-प्राण में खड़े हैं ।
चतुवर्ग-फल के प्रदाता यही कृष्ण है;
चतुवर्ण के आश्रयदाता अरे कृष्ण हैं ।

इस लोक में नहीं-सभी लोको में,
श्री कृष्ण-पुरुषोत्तम ब्रह्म लोकों में ।
एक-एक रोम से है ब्रह्माण्ड उपजता;
सागर की असंख्य लहरों सा बहता ।

समुद्र की तरंग में. सीकर कणों से;
असंख्य-ब्रह्माण्ड हैं बनते बिगड़ते ।
क्षितिज के उस पार सब भार-हीन है,
यह सारा आकाश उनमें ही लीन है ।

"नर-मेघा का सभी है भ्रम टूटता,
जब कण सा है उड़ता, गुरूत्व छूटता;
श्री कृष्ण की पूजा जो नर नहीं चाहता,
मूर्ख भव सागर से तरना नहीं चाहता ।

श्रीकृष्ण की पूजा शिशुपाल क्यों माने?
चार-हाथ, तीन-आंखे लेकर थे जन्मे ।
उनके स्पर्श से एक आंख दो हाथ हुए-गुम,
माता की वह बात इसे है नहीं मालूम ।

कृष्ण:- "शठ पामर ही रहता न कभी सुधरता;
स्व-कुकर्मों की खड्ग से ही कटता !
वचन दिया माता को उसे निभा रहा हूँ;
अपकार सदा करता, सहता आ रहा हूँ ।

प्राग्ज्योतिषपुर जानेपर, द्वारका आग लगाई,
राजा भोज के अनुचरों पर, अकारण चढ़ाई?
पिताश्री के यज्ञ में इसने अश्व चुराया,
बभ्रु-पत्नी का था सतीत्व इसने जलाया ।

करुष राज के वेश में भावी पत्नी उड़ाई;
मैंने क्षमा करने की थी तो रीत निभाई;
अब सौ अपराध क्षमा मैं कर चुका हूँ,
दिये वचन से इससे आगे तो मुक्त हूँ ।"

शिशुपाल इतने पर भी लज्जित न,
श्री कृष्ण को उलटे फिर लगा कोसने,
101वां अपराध किया अब उसने,
सुदर्शन चक्र स्मरण किया कृष्ण ने ।

चमकता हुआ बढ़ा शिशुपाल जिधर था,
धड़ से बिजली की तेजी से सिर अलग था;
शिशुपाल के शरीर से ज्योति-एक निकली,
श्रीकृष्ण-पगों को छूकर उनमें ही लीन थी ।

धन्य हुए सब लोग-सभा में जो थे;
श्रीकृष्ण के महा-रूप को देख सके थे ।
यज्ञ हुआ निर्विघ्न - सम्पूर्ण - हर्षायि;
भीष्म की प्रशंसा में जयघोष गूँझाए ।

दुर्योधन-के मन में आनन्द नहीं था,
निर्विघ्न यज्ञ पूर्ण से बहुत दुखी था,
सम्मानित-पद पर भले उसे बिठाया;
ईर्ष्या-जलन-द्वेष ने उसको भड़काया !

शकुनि, दुर्योधन ने मिल फिर जाल बुना था;
पाण्डवों को द्यूत-क्रीड़ा का दिया निमन्त्रण;
चालाकी से धन-सम्पत्ति-राज्य जीते तो;
द्रोपदी को भी युधिष्ठिर द्यूत में हारे ।

राज्यलक्ष्मी-द्रौपदी को भरी सभा में,
नग्न करने की चेष्टा की दुशासन ने,
भगवद्-कृपा से नारी-सम्मान बचा था,
कृष्ण-सहायक बन कर जब आन खड़ा था ।

'भीष्म थे धर्मज्ञ - धर्मात्मा बैठे,
द्रौपदी के प्रश्नों के न उत्तर थे;
दुर्योधन-के अन्न-भरण के कारण,
भीष्म द्रौपदी के गूढ़ प्रश्न अनसुने ।

सभी युधिष्ठिर पर छोड़ा था निर्णय;
अशुद्ध भोजन सहवास प्रभावी उनपर था,
विवेक-धर्म-मर्यादा पर अन्न हावी था,
शर शय्या पर पड़े उपदेश दिया जब,
द्रौपदी ने व्यंग्य-बाण छोड़े थे तब !

भीष्म :- "सुता-उस समय कौरवों के संग था;
उनके दूषित अन्न-कृपा पर पलता था ।
बुद्धि-हुई थी कुण्ठित, सत्य मुझसे छूटा था;
धर्माधर्म का निर्णय, सभी तो झूठा था ।

असमर्थ हो गयी मेघा तब निर्णय में,
धर्माधर्म की सीमा-व्याख्यायित करने में;
दूषित-वायुमण्डल औ मनोवृति-जनो में;
उनके अन्न और दया पर ही रहता मैं !"

द्यूत-क्रीड़ा के कारण फिर विपदा आई-
राज्य-लक्ष्मी-सत्ता थी पूर्व तो पाई,
इस बार फिर पराजित-बनवास मिला था,
अन्तिम-वर्ष का फिर अज्ञातवास था ।''

बारह वर्ष तो थे बिताये जंगल में,
अनेक कष्टों को भोग रहे मन में;
द्यूत-क्रीड़ा ने किया सर्वनाश था,
पाण्डव-बल कूटनीति से कुण्ठित था ।

विराटनगर में अन्तिम वर्ष अभी था बीता;
सुशर्मा के कहने पर मत्स्यदेश पर की चढ़ाई,
विराट सुशर्मा से एक तरफ युद्ध रत थे;
दूसरी ओर से अर्जुन फिर प्रकट हुए थे ।

धर्म के बन्धन में बंधे रहने के कारण;
असत्य मार्ग न पकड़ा, न पराक्रम दिखाया;
अब स्वत्व के लिए संघर्ष जरूरी है लगता?
इन्द्र भी पांडवों का हिस्सा दबा न सकता?

अर्जुन समक्ष फिर कोई ठहर सका न;
कौरव हारे हस्तिनापुर लौट गये थे;
भीष्म को कौरव पराजय की तनिक न चिन्ता,
पाण्डवों के सकुशल मिल जाने पर प्रसन्न थे ।

चाह रहे युद्ध बिना वे अधिकार पायेंगे;
कौरव-पांडव मिल कर सुख-दु:ख बांटेगे ।
भगवद्-भजन में लीन, विश्वस्त लगते थे;
प्रभु-इच्छा के अनुरूप ही सब कर्म करेंगे ।

विराट सुता उत्तरा अभिमन्यु गठ-बन्धन;
विचार-विनिमय हुआ नम्रता अपना कर;
पाण्डव राज्य-अधिकार पाने की करें कोशिश;
भीष्म-पितामह पर सब थे नजर टिकाये ।''

पंचाल नरेश-पुरोहित राजदूत बने वहाँ पहुँचे;
धृतराष्ट्र की राज सभा में सन्धि-प्रस्ताव पहुँचाया;
राजकुल-धर्म, पिता-सम्पत्ति अधिकार पुत्र को देता,
महाराज विचित्रवीर्य पुत्र महाराज धृतराष्ट्र औ पाण्डु ।

संपूर्ण राज्य स्वामी न महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र,
राज्याधिकारी भी हैं महाराज पाण्डू के पुत्र?
उनका हिस्सा न्यायोचित-धर्म. बिना देर लौटाएं !
कुरु-पांडू कुल रहें मिल, सुख-शान्ति लौट आए।

इसी सभा में देवव्रत भीष्म बोले थे;
"दुर्योधन, जीत सकोगे कभी न तुम पांडव;
श्रीकृष्ण एवं अर्जुन हैं नर-नारायण सुन;
सभी देवगण-ऋषि-मुनि कहते हैं, कुरुधन?

'ब्रह्मा सभा में बृहस्पति, सप्तऋषि यह जाने;
शुक्राचार्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, वसु पहचाने,
यह अपने प्रभाव से तीन लोक प्रकाशित करते;
सकल जगत में आनन्द-शान्ति-सुख हैं भरते ।

असुरों के ही नाश को प्रभुलीला के द्वो विग्रह है;
इन्द्र ने दैत्यों से प्रभुकृपा से ही पाया छुटकारा?
नर अर्जुन, नारायण कृष्ण का जब लिया सहारा,
वेदज्ञ नारद मुझे, सत्य-यश-पराक्रम इनका मुझे सुनाया ।

'बेटा ! भाईयों के कल्याण हित श्रीकृष्ण की आज्ञा मानो;
क्रोध-अहंकार को त्याग कर, सच्चा सुख-शरणागत जो !
श्री कृष्ण के वचन धर्म-अर्थ-सत्य-अभीष्ट सिद्ध हैं,
प्रजा नाश करो न सन्धि-प्रस्ताव मानो, सब का हित है।

अभिमान में बावले होकर, मत सबको संकट में डालो;
अज्ञान, दम्भ ही पराभव का कारण बनते अपनालो?
बिना नर-नारायण को जाने, हठपूर्वक यदि युद्ध करोगे,
तो सुनो कर्ण-दुर्योधन, सभी विनाश को ही ले आयोगे ।''

अहंकार सत्ता-घन-यश का सदा अपकीर्ति है लाता;
धर्म-सत्य-औचित्य-विवेक से इसका कहां है नाता?
अभिमान-आग है ऐसी जो है सर्वस्व जला देती है;
सृष्टि-जीवन-सागर में भी यह आग लगा देंती है ।

दुर्योधन दुर्बल जनों में अहंकार प्रबलत्तम होता;
तुम महाबली हो कुरुवर तुम को कैसे दें धोखा?''
अभी समय विनाश को रोको, अभिमान को मारो,
नर और नारायण की धर्मोचित बात स्वीकारो ।''

अनेक उदाहरण दे भीष्म ने दुर्योधन को समझाया,
नर औ नारायण का सत्य, अभिमानी समझ न पाया,
उलटे अहंकारी बन मधुसूदन को ही बाँधना चाहा,
हठी-अज्ञानी-दम्भी सब को महाभारत युद्ध में लाया ।

सत, त्रेता, द्वापर में न हठी हुआ कोई ऐसा,
कलियुग में दुर्योधन को, अधर्म-देवता ने भेजा ।
सतयुग में दीर्घायु हजारों वर्षों तक पुण्य कमाते,
त्रेता और द्वापर में भी, दीर्घायु यश-फल पाते !

कलियुग में तो बस जीवन सौ वर्ष तक चलता,
अल्पायु-रोग, शोक से और कभी गर्भ में मरता;
सतयुग, मुनि तपोधन होते थे प्रज्ञा, सत्व-महाबलशाली,
धर्म-न्याय-सत्य-शील की सदा थे करते रखवाली ।

त्रेता-युग में उत्साही, धार्मिक, सत्यवादी, प्रिय-धनी, महात्मा,
अहंकार-लोभ-मोह-तृष्णा-द्वेष-घृणा से दु:खी न होती आत्मा ।
सदाचारी, सात्विक, सुहृदय, महावीर, धनुर्धर, न्याय प्रिय होते थे;
अपने अपने चक्र में चक्रवर्ती-स्वाधीन, सुराजा, ही होते थे ।

द्वापर सभी वर्ण उत्साही, वीर्यवान, तेजस्वी, जीवन-इच्छा धारें,
अब अन्त को पहुँच रहा है, एक दूसरे को मारना चाहें ।
सुधर्मी-क्षत्रिय राजा, तपोबल से सातों द्वीपों तक सुशासन करते;
जम्बु, कौञ्च,शाक, कुश, शाल्मलि,पुष्कर,अन्धकार, मुनि देश हैं ।

हरिगिरी, सुधामा, मेनाक, मेरु, गोबिन्द, क्रौंच, वामन, द्युतिमान गिरी;
इन द्वीपों-पर्वतों के पास, घी, दही, मदिरा जल के भी सागर है,
वहां लोकों में विख्यात वामन, ऐरावत, प्रभिन्न, कटरा मुख गज-दिशा रक्षक है।

कलियुग में अल्पतेजी, क्रोधी, झूठे स्वार्थी कामीं है;
ईर्ष्यालु, अभिमानी, अहंकारी, माया, असूया, राग द्वेषी हैं,
दुर्योधन चरित्र में सभी लक्षण विद्यमान, कलियुगी प्राणी हैं,
क्रूर-राक्षस, दुर्भाग्य वश अर्जुन, कृष्ण से करते द्रोह हैं ।

विजय धर्म की होगी; जहाँ कृष्ण है वहीं धर्म है दुर्योधन;
भगवान रक्षक-पाण्डवों के-जो सृष्टि के हैं स्वामी !
गन्धमादन-पर्वत पर आसन से उठ ब्रह्मा करें इनकी अभ्यर्थना,
ऋषियों, देवताओं-मुनियों ने की उनकी स्तुति, पूजा, अर्चना ।

"प्रभो ! हम शरणागत, जगत् के कर्त्ता-धर्ता, संहर्ता तुम हो;
परम पुरुष पुरुषोत्तम-सकल विश्व का आधार तुम्ही हो,
जगत् तुम्हारा व्यक्त रूप हम सब प्रभु तेरे सेवक हैं,
हम सब तुम्हारे गुण, प्रभाव, तेज बल से अनभिज्ञ हैं ।

तुम्हीं सबकी एकमात्र गति, कृपा से ही पृथ्वी ठहरे;
धर्मस्थापना औ पृथ्वी-भोज को यदुवंश में आन उतारे?
तुम चतुर्व्यूह के संग मनुष्य-शरीर ग्रहण कर आये;
अभिलाषाएं पूर्ण, नाम, रूप अद्भुत, चरण-शरण आये ।

दुर्योधन यह कृष्ण, सभी के आत्मा परम प्रभु परमब्रह्म है;
ये तत्पदवाच्य, तत्पद लक्ष्यार्थ समन्वित श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हैं;
ये तीनों कालों में एकरस, तीनों कालों के आश्रय स्थल है,
ये ब्रह्मा-देवता-ऋषियों के अनुरोध, यदुवंश में प्रकट हुए हैं ।

जगत् हित की प्रार्थना, वसुदेव के घर उद्धार किया है;
देवासुर-संग्राम मारे दैत्य-राक्षस, धरती पे जन्म लिया है,
उनके नाश हित है पुरुषोतम साकार रूप तुम धारे,
उन्होनें की स्वीकार प्रार्थना-नर-नारायण अवतार हैं धारे ।

साधारण-मनुष्य समझकर ही तुम कभी अवज्ञा मत करना;
वे सबके पूजनीय, हैं सब तो सन्तान, सर्वदा सम्मान करना ।
महापुरुष परमात्मा जो मनुष्य समझ अनादर करेगा;
वही पाप-का फल पायेगा नरक-यातना में वही जलेगा ।

दुर्योधन जगी अभिलाषा वासुदेव के आविर्भाव जानने की;
भीष्म:- बेटा भगवान कृष्ण सभी देवताओं के भी देवता हैं,
श्रेष्ठ और कोई नहीं, उनके असाधारण गुण हैं,
है सबमें अविनाशी-आत्मा, सृष्टि के परम कारण है ।

किया है धारण तो सृष्टि को, देश काल-नियमन करते;
संकर्षण, नारायण, ब्रह्मा और शेषनाग अस्तु जन्म हैं पाते ।
वारह, नृसिंह, वामन का रूप वे ही धारण कर आते;
वही सबके सच्चे सुहृद, माता-पिता, मित्र-भाई-गुरु हैं ।

उनकी शरण में है जो जाता, प्रसन्न होकर हैं वह अपनाते,
देवर्षि नारद लोकभावन और भावज्ञ कहा, है जीवन सफल बनाते,
मार्कण्ड यज्ञों का यज्ञ, तप का तप, भूत, भविष्य, वर्त्तमान रूप कहा,
भृगु ने उनको देव-देव और विष्णु का पुरातन परमरूप ही कहा ।

द्वैपायनव्यास ने उन्हें इन्द्र को स्थापित करने वाला कहा है;
महर्षिअसित-देवल ने वासुदेव-शरीर से अव्यक्त, मन-व्यक्ता कहा है?
सनकादिकों को श्रीकृष्ण-पुरुषोत्तम, ऋषि, महर्षि, धर्म पति हैं;
हे दुर्योधन नर-नारायण-अर्जुन-कृष्ण, वास्तव में जगतपति हैं ।

3

(महाभारत-युद्ध)

गाण्डीव धनुषधारी, कपिध्वज अर्जुन रथ बैठे,
भगवान श्रीकृष्ण बागडोर थे थामें हुए चलते;
तदनन्तर युधिष्ठिर भीष्म सामना करने को ललकारा,
व्यूह के मध्यभाग अर्जुन सुरक्षित शिखण्डी की सेना थी ।

अमांगलिक-ध्वज फहराता शिखण्डी-युद्ध में आया;
भीमसेन, घृष्टद्युम्न, सात्यकि व्हूय-रचना कर पाया;
भगवान् अर्जुन से बोले सेना के मध्य भाग में,
जो रोष से तप रहे-सिंह के समान देख रहे हैं,
तीन-सौ अश्वमेघ यज्ञों के अनुष्ठाता भीष्म हैं ।

इस युद्ध में भीम, युयुधान, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न,
धृष्टकेतू, चेकितान, काशीराज, पुरिजत्, कुन्तिभोज शैल्य ।
युधामन्यु, उत्तमौजा, अभिमन्यु, सभी पांडव सुत आदि,
शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख बजाने लगे थे भारी ।

भीष्म, कर्ण, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा, सोमदत्त, भूरिश्रवा,
विकर्ण, शकुनि, शत-कौरवों, पंचाल, सोमक असंख्य-गण,
युद्ध को हुए तत्पर-युधिष्ठिर भीष्म चरणों में आशीर्वचन मांगा,
हे पुत्र युद्ध करो, जय प्राप्त करो और जो इच्छा हो मांगो ।''

हे, महाराज, पुरुष अर्थ, धन का दास है, और अर्थ-
धन किसी का दास नहीं है-यहीं सत्य सृष्टि में;
इस धन के कारण युधिष्ठिर कौरव पक्ष से मैं बंधा हूँ,
मैं नपुंसक सम ही यह वचन तुमसे कह रहा हूँ ।

कौंतेय मैं धन के द्वारा हर लिया गया हूँ ।''

युधिष्ठिर:- "आप युद्ध में अपराजित है, मैं कैसे जीत सकूंगा?''

भीष्म:- "कुन्तीनन्दन संग्राम में मुझे हराये कोई ऐसा वीर नहीं है,
साक्षात् इन्द्र भी युद्ध में मुझसे जीत सकते नहीं हैं?

अभी समय नहीं आया है-शत्रु कोई न अभी ऐसा;
युद्ध में मुझे पराजित कर, इच्छा-मृत्यु करा जो पाये;
अभी मृत्यु काल नहीं आया, क्यों व्यर्थ पूछते तुम हो?
फिर एक बार तुम आना, सब कह दूँगा में तुमको ।''

'अर्जुन का मोह तब टूटा जब कृष्ण उपदेश सुनाया,
जीव-मृत्यु-आत्मा, अमरता का जब उसने पाठ पढ़ाया,
उठा फिर धनुर्धारी-युद्ध में कौरव दल प्रहार किया;
धर्म-अधर्म की चिन्ता छोड़ विकराल रूप लिया ।

जगत में नियति ही सब का कारण हैं,
नियति ही समस्त कर्मों-का साधन है ।
यही सभी को विभिन्न कर्मों में है लगाती;
कुकर्मी, अधर्मी, मूढ़ को अन्त तक है लाती?

प्रारब्ध को विवेक ग्रास नहीं बना पाता;
विवेक सदा प्रारब्ध का ग्रास है बन जाता !
प्रारब्ध-प्राप्त अर्थ को कोई भी न जान पाता;
जगत-पति की माया का रहस्य समझ न आता ।

पुरुषार्थ से हम भाग्य को कब मिटा हैं पाते?
नियति के रहस्य को भी कब हम जान हैं पाते?
इसकी गति न जान पाते हें ज्ञानी-सज्जन;
यही तो अर्जुन है दैव का निश्चित नियति-विधान ।

भाग्य विचित्र होता? गति जान कब पाते हैं?
कुछ भी नहीं है दुष्कर, न टाल सकते है !
मानव-वृद्धि और क्षय कारण यही विधि है;
ललाट पर लिखी लिपि नर ने पढ़ी नहीं है ।

रूप, कुल-शील, विद्या, सेवा भी न फल देता हे;
पूर्व किये तप-संयम से ही तो सब मिलता है;
सत्त्वशाली पुरुषों की सहायता दैव ही करते है;
कुकर्मी-अधर्मी-अहंकारी नियति हाथों मरते है ।

नियति क्षमा न करती, दण्ड सदा ही देती है,
भाग्य से बचा सके जो, ऐसा कवच नहीं है;
छोटी क्षमताएं दे बड़ी महत्त्वाकांक्षा भरती है !
नियति ही अर्जुन, उनको रण में ले चलती है ।

युद्ध हुआ अनिवार्य-नियति तुम पलट न सकते;
इन्हें मारता कौन? सभी दैव के हाथों मरते ।
कर्म ही हर नर के निश्चित नियति करती है;
भाग्य का लिखा खड्ग भी काट कहाँ सकती है?

पहला दिन

भीष्म के प्रहारों से पांडव सेना थर्राई;
जिधर चला उधर ही काल ने की चढ़ाई ।
कालदेव का नृत्य भयंकर-घट फूटें;
अभिमन्यु के धनुष से बाण फिर छूटें ।

कृत्तवर्मा शल्य ने भीष्म पर बाण चलाये;
दुर्मुख सारथिओं के धड़ से ही शीश उड़ाये?
कृपाचार्य के धनुष को ही काट दिया था,
भीष्म के भयंकर बाणों को काट रहा था ।

सुकुमार पोते से जब भीष्म युद्ध करते थे;
रण-कौशल, उसके साहस पर रीझ रहे थे ।
कोस रहे थे साथ ही अपने दुर्भाग्य को;
वृद्ध-अवस्था में पोते से युद्ध रत जो ।

विराट, उत्तर, घृष्टद्युम्न, भीमसेन फिर सामने आये;
अभिमन्यु के सब वीरों ने मिल कर थे प्राण बचाये ।
मद्रराज शल्य ने शक्ति अस्त्र मरण उत्तर पर छोड़ा;
उत्तर के गज के प्रहार को भी शल्य, मरण दे मोड़ा ।

उत्तर-अनुज श्वेत ने भयंकर उत्पात मचाया;
सात-महारथियों ने मिलकर ही शल्य बचाया;
दुर्योधन फिर दल-बल से उस पे प्रहार किया,
अद्भुत रण-कौशल-पराक्रम श्वेत को रोक दिया;

भीष्म से श्वेत भिड़ा रथ-ध्वजा काट थी डाली;
श्वेत-रथ-अश्वों और सारथी पर आफ्त ही लादी;
श्वेत गदा से भीष्म-रथ चूर-चूर कर डाला,
पितामह क्रोध भरे बाण से उसे स्वर्गलोक दे डाला ।

दस-सहस्र पांडव-सेना मृत्यु-लोक भीष्म पहुँचाई,
भीष्म, भगवद्-इच्छा प्रतिज्ञा स्व निभाई;
भगवद् प्रेरणा से ही गांगेय युद्ध में तो आये थे,
प्रभु-कार्य में अपना हिस्सा वह डाल पाये थे ।

भीष्म के पराक्रम-बल-शौर्य ने भी घूम मचाई;
पाण्डव-सेना, शक्ति-बल-साहस के आगे थर्राई !
श्री कृष्ण, युधिष्ठिर को थे साहस-प्रोत्साहन देते;
धैर्य-बांध रहे थे सबका, भीष्म-प्रशंसा करते ।''

दूसरा दिन

घृष्टद्युम्न ने पांडू सैना का सतर्क-व्यूह रचा;
भीष्म-बल-रण-कौशल के आगे सब टूट गया;
हाहा-कार मचा पांडव दल, तितर-बितर-गई सेना;
भीष्म-तेज अग्नि के आगे कोई भी ठहर सका न ।

अर्जुन प्रकंपित रहे देखते फिर वासुदेव से बोले;
'भीष्म-तेज ज्वाला से प्रभु बिखर गए सब शोले,
पाण्डव-दल तृण-दूब बना ही देखो जला जाता है;
महाभारत युद्ध आज, ही पराजित करना चाहता है ।''

श्रीकृष्णः- "ठीक कहते हो, धनंजय-रथ उसी ओर लिए चलता हूँ;
विश्व,पूजता बली-भीष्म को, उसी ओर ही अब मुड़ता हूँ;''
भीष्म-की रक्षा पंक्ति को ध्वस्त किये-बड़े जब आगे;
दुर्योधन के मस्तिष्क में भय-शंका-पराजय भाव जागे ।

भीष्म को लगे कहने "अर्जुन-कृष्ण कुरु सेना नष्ट करेंगे;
द्रोण, आपके होते ही रण-भूमि में मुझे पराजित करेंगे?''
क्रोध-भरे भीष्म ने भयानक-संग्राम फिर अर्जुन से छेड़ा;
देव-सुरो-मुनियों का ध्यान भी महाघोर युद्ध ने तोड़ा ।

दीर्घ-समय तक महाबली दोनो रहे आपस में टकराते,
भीष्म-बाण आग बरसाते, कभी कृष्ण को भी लग जाते,
श्याम-वरण पर रक्त बूंदें, पलाश-शाख, लाल पुष्प ही थीं,
अर्जुन-क्रोध को भड़कातीं, अग्नि-बाण बन चलती थीं।

श्वेत-अश्व-रथों पर दोनों सिंह-श्वेत भिड़ते थे;
वेश से टकराते आपस में पहचान न कुछ पड़ते थे,
मानव तो रहे दूर स्वयं देवगण विस्मय में पड़े हुए थे;
उधर आचार्य द्रोण-घृष्टद्युम्न पर तीखे प्रहार करते थे ।

पांचालकुमार और भीम ने धृष्टद्युम्न को रथ बिठलाया;
कलिंग राज की नष्ट कर सेना-भीम ने उत्पात मचाया,
भीष्म छोड़ अर्जुन को कुरु-सेना का साहस आ बांधा;
पराजित होकर भाग रही सेना को फिर सम्भाला ।

सात्यिक, अभिमन्यु, भीम संग मिल भीष्म पर टूटे;
महाबली-पितामह रण-कौशल देख सबके मनोबल टूटे ।
कौरव-सेना के योद्धाओं पर भी भीम ने मचाई तबाही;
सूर्यास्त कब हो-सब छूटें, भीम बाणों से आग बरसाई ।

सूर्यास्त पर फिर भीष्म पितामह द्रोणाचार्य से शान्त हो बोले;
"आचार्य; उचित यही होगा अब युद्ध-बन्द करने की सोचो;
युद्ध विनाश ही लाता, भरतवंश तो नष्ट हुआ जाता है;
दुर्योधन के हठ समक्ष-भरतकुल का भाग्य ही फूट रहा है ।''

तीसरा-दिन

गरुढ़-आकार का व्यूह रचा पितामह दुर्योधन को कर आगे;
अर्जुन पर टूट पड़े सब शक्ति ले, पाण्डव-दल को भागे ।
शकुनि ने सात्यिक के रथ को तहस-तहस कर डाला;
अभिमन्यु के रथ चढ़ा-सात्यिक-शकुनि-दल नष्ट कर डाला ।

भीष्म-द्रोणचार्य मिलकर युधिष्ठिर पर एक साथ टूट पड़े थे;
नकुल-सहदेव देखकर यह सब सहायता को दौड़ पड़े थे ।
भीम-घटोत्कच ने भी मिल कर दुर्योधन पर प्रहार किया था,
भीम के शक्ति-बाण से घायल-दुर्योधन बेहोश हो रथ पे गिरा था ।

गिरते दुर्योधन सारथी - रथ ले रण - भूमि से भागा,
कौरव-सेना ने जब देखा उनका साहस-बल सब काला;
भीष्म ने आ फिर संभाली बिखरी भाग रही जो सैना,
मुर्च्छा-गई दुर्योधन की, भीष्म-द्रोण संग प्रहार किया फिर पैना ।

दुर्योधन ने जली कटी, भीष्मपितामह को बहुत सुनाई,
"अर्जुन-कृष्ण-पाण्डवों की पितामह, द्रोण सोचते हो सदा भलाई ।''
बोले भीष्म'' नर-नारायण अर्जुन-कृष्ण हैं मैंने तो समझाया;
दुर्बुद्धि-अहंकार-दम्भ-हठ के कारण न तेरी समझ में आया ।

मैं केवल कर्त्तव्य से प्रेरित होकर-वृद्ध हूँ पर युद्ध करता हूँ,
अपने पूर्ण-बाहुबल-पराक्रम से ही तो रण-भूमि में लड़ता हूँ ।
वृद्ध भले तन से हूँ पर मन-वचन-कर्म-बल से दृढ़तम हूँ;
नित्य-दश-सहस्र शत्रु-सेना का दुर्योधन वध करता हूँ ।''

इतना कह-भीष्म ने भयानक हमला किया पांडव-दल पर;
मानों भीष्म ने माया से अपने को एक से अनेक बनाकर;
जिधर देखो, उधर भीष्म-ही-भीष्म दिखाई पड़ता अर्जुन को,
समक्ष-भस्म, पतंगों सा प्रलयंकारी-भीष्म, विह्वल पांडव दल तो ।

श्री कृष्ण, अर्जुन और शिखण्डी अनुशासित सेना करते;
तितर-बितर हो बिखर गई सब, सब मृत्यु से भागे डरते;
कहा कृष्ण'' अर्जुन तैयार रहो, तुम्हारी परीक्षा का समय आया;
भीष्म, द्रोण, मित्रों-संबंधियों के संहार की शपथ-का पल आया ।

भीष्म के प्रहार को रोको, सेना-उत्साह बाँधो, नाश को रोको;''
माधव, सेना के पांव उखड़ रहे हैं, रथ-भीष्म की औ मोड़ो;
गांडीव-चढ़े तीन बाणों से भीष्म के धनुष-बाण को तोड़ा,
भीष्म हुए प्रसन्न बहु, अचूक-बाणों से अर्जुन को रोका ।

कहा कृष्ण 'हे, अर्जुन पितामह समक्ष युद्ध ठीक करो तुम,
पांडव सेना घबरा भाग रही, मोह-हिचकिचाहट अर्जुन तजो तुम; ।
भीष्म के बाणों से बचने को रथ घुमा फिरा कर रहे चलाते;
मगर भीष्म बाण-वर्षा में; अर्जुन-कृष्ण के तनों को रहें जलाते ।

बाणों से बिंधा कृष्ण-तन; यदुवंशी क्रोध में आये;
रुक न सके माधव, भीष्म वध करने स्वयं बढ़े आगे;
अश्वों की रास छोड़ कर, कूद पड़े टूटा रथ-चक्र उठाया;
दौड़ पड़े भीष्म की ओर, पितामह न विचलित था हर्षाया;
''आओ, माधव, नमस्कार, अहोभाग्य, मेरी खातिर रथ से उतरे ।

यह लो, करो मेरा वध तीनों लोकों में यश मिले मुझको;
करूँ वन्दना-पूजा जिसकी, आज वही दुभार्ग्य मिटाने आये;
मृत्यु-लोक ने बन्धन डाला मुझपर, स्वयं प्रभु काटने आये,
प्रभु स्व-हाथों मार मुझे, लो अम्बा, अमर करने अब आये ।''

आगे बढ़कर अर्जुन ने, माधव को इस वध, से रोका;
'रुष्ट न हों, माधव; युद्ध करूँगा, मोह ने मुझको रोका,''
भीष्म-धन्य हो रहा मन में प्रभु स्वप्रतिज्ञा को तोड़ा;
संहार किया कौरव सैना का, पर भीष्म बल ने इसे रोका ।

चौथा, पांचवा दिन

युद्ध में हर दिन एक जैसी ही घटनाएं तो होतीं;
मार-काट व हार-जीत के सिवाय उसमें और क्या?
अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन, शल-पुत्र पांचों के,
सिंह-शावक अभिमन्यु को घेरा, पर उसने भीष्म युद्ध किया ।

अर्जुन भारी सेना-संग, घृष्टद्युम्न भी संग आया,
कौरव-दल में फिर अभिमन्यु था हाहाकार मचाया;
शल-पुत्र की मृत्यु हुई, शल और शल्य फिर आये;
भीमसेन और दुर्योधन फिर आपस में थे टकराये ।

भीमसेन किया युद्ध भयंकर गजबल नष्ट किया था;
कौरव-सेना मची खलबली, दुर्योधन भी देख डरा था,
भीम हुए मूर्च्छित रथ बैठे, सुत घटोत्कच हुंकारा;
भीषण-आक्रमण हुआ कुरु-दल पर, भीष्म दौड़ा आया ।

युद्ध समाप्त हुआ-दुर्योधन चौथे दिन पितामह पास आये;
कहा पितामह पांडव-पराजित करो, कुरुकुल विज़य दिलाओ ।
कहा भीष्म "भगवान कृष्ण रक्षक हैं जिनके बस वही जीतेंगे;
बार-बार मैं समझाता हूँ मगर दुर्योधन क्यों न सुनते हो?

आखिर दोनों एक ही कुल के हो तो भाई-भाई;
राज्य-बाँट लो तुम आपस में समाप्त करो लड़ाई ।
बंधुगण-सुखपूर्वक रह कर भोगो राज्य-शासन को;
नर, नारायण से टकराओगे तो सर्वस्व लूटेगा यम तो ।

सर्वनाश निश्चित है उनकी अवहेलना यदि करोगे;
गुरुजनों, स्वजनों, बन्धु-बान्धवों के नाश का कारण बनोंगे ।
सुबह होने पर दोनों सेनाएं फिर आपस में टकराईं;
भीम, शिखंडी, घृष्टद्युम्न, सात्यिक ने फिर की चढ़ाई ।

द्रोण, भीष्म, शल्य तीनों भीमसेन को मिल ललकारा;
शिखण्डी ने भीष्म-द्रोण पर बाणों को ज़ोर से मारा;
रण-भूमि, भीष्म ने अम्बा को शिखण्डी रूप में देखा;
वसु-स्त्री वही, जन्म ले आई, अम्बा की ही रूप है रेखा ।

शिखण्डी महारथी ही बनकर युद्ध-भूमि में लड़ता था;
दिव्य-तेज-बल-साहस का हरपल परिचय देता था;
द्रोण समक्ष वह खड़ा रहा था, हार नहीं मानी थी,
भीष्म के युद्ध-क्षेत्र से हटने की, उसे न हैरानी थी?

छठा-सातवां दिन

छठे, सातवें, दिन में भी युद्ध में भीष्म पराक्रम दिखाया;
कुरु-पराजय के दिन को उसने था पीछे कुछ सरकाया;
दुर्योधन असहाय पीड़ा सहते, सारा तन घायल था युद्ध में;
भीष्म लेप लगाकर सभी भाव ठीक किये, बढ़ा युद्ध में ।

मकर-व्यूह रचा कर पांडव घृष्टद्युम्न युद्ध में आये;
क्रौंच-व्यूह बनाकर भीष्म छठे दिन कौरवों को लाये,
मोहनास्त्र छोड़कर घृष्टद्युम्न कौरव अचेत किये थे,
दुर्योधन ने वहाँ पहुँच कर मोहनास्त्र के बंध काट दिये थे ।

व्यूह-मंडलाकार बनाकर सातवें दिन-कुरु सेना युद्ध में आई;
वज्र-व्यूह की रचना में युधिष्ठिर-की सेना थी बंध कर आई ।
शिखंडी महारथी के रथ को, अश्वत्थामा जब तोड़ डाला था;
ज़मीन पर कूद ढाल-तलवार लेकर अश्वत्थामा पर ही चढ़ा था;

टूटी तलवार घूमाता युद्ध करता-भयकारी-टूटी तलवार दे मारी;
घायल हुआ शिखण्डी, सात्यिक के रथ पर चढ़कर की लड़ाई ।
अभिमन्यु से भिड़े भीष्म तीन कुरु भाईयों की रक्षा करते,
अर्जुन-संग भाईयों के सभी पांडव उसी ओर बढ़ते थे,
पांचों-पाण्डवों का सामना अकेले भीष्म युद्ध में करते थे;
सूर्य ही धरा से उतर गए युद्ध-ये न बन्द करते थे ।

आठवां-नवां दिन

आठवां दिन आ पहुँचा कूर्म-व्यूह रचा पितामह भीष्म;
घृष्टद्युम्न ने युधिष्ठिर कहने पर तीन-शिखर-व्यूहरचना की;
युद्ध-शुरू होते ही भीमसेन ने आठ कुरु-भाईयों को मार डाला;
दुर्योधन का हृदय विदीर्ण हुआ, कौरव-सैना को था मथ डाला ।

अर्जुन-नागकन्या सुत वीर इरावन-को अलम्बुष मार डाला;
पाण्डव-हुए शोकाकुल, अर्जुन को शोक-विह्वल कर डाला,
घटोत्कच ने जब यह देखा इरावन ही मारा गया है;
कुरु-सैना में घुसकर महा-अग्नि का चक्र जला है ।

नवां दिन जब आया, दुर्योधन भीष्म को फिर फटकारा;
उत्साह से न लड़ते रहे, पितामह, बात फिर कही दोबारा;
पीड़ित-मन से हुए भीष्म, पर धैर्य नहीं था छोड़ा;
नर-और नारायण की ही फिर बात दोहराई पितामह ।

भीष्मः- दुर्योधन यथाशक्ति युद्ध-करता हूँ मैं तुम्हारी खातिर;
युद्ध-भूमि में स्व प्राणों की आहूति देने को हूँ तत्पर ।
उचित अनुचित को भूले तुम व्यर्थ दुःखी करते हो;
इस वृद्धावस्था में युद्ध-रत हूँ, क्यों कटुवचन कहते हो?

विनाश पास जब आता हरा भी पीला दीख पड़ता है,
हित में अहित का भ्रम, सब उल्टा जानू पड़ता है,
जान बूझकर तुमने जो वैर मोल लिया है धर्म से,
परिणाम-भुगतना तो होगा, घबराते क्यों हो कर्म से?

इन हालात में दुर्योधन धर्म और कर्त्तव्य निभाओ;
उचित यदि है, पौरुष शौर्य से निर्भय युद्ध में जाओ;
मैं, वचन निभाऊँगा धर्म का शिव-ताण्डव युद्ध करूँगा;
'शिखंडी' महारथी हैं-पर उसपे भी न प्रहार करूँगा ।

पूर्वजन्म में अम्बा बन कर-मुझे यह वरने थी आई;
धरती से मुक्ति देने हित फिर बन शिखंड़िनि आई !
स्त्री-रूप में ही जन्म लिया है-स्त्री वध करूँ कभी न;
'शिखंडी' को न मारूँगा और किसी को छोड़ सकूँ न ।''

दुर्योधन :-"शिखंडी" के विरुद्ध लड़ना, प्रतिज्ञा अनुकूल नहीं है;
दु:शासन, यह व्यवस्था करना न वह सामने आये,
गाफिल-सिंह का जंगली कुत्ता कहीं न वधकर जाये;
यह सच्चे हृदय से ही युद्ध भूमि में फिर हैं आये ।"

भीष्म :-
हे, दुर्योधन, ईर्ष्या पतन तक लाती बड़ें बड़ों को,
अपमान-लज्जा है मिलती, सभी-ईर्ष्यालु जनों को;
ईर्ष्या एक पाप-दुर्योधन, तुमने सदा यही किया है,
कौरव पाण्डव दोनों को रण-भूमि में लाया है ।

विद्या-ज्ञान के बल पर हम इसे रोक पाते हैं,
अज्ञानी, क्रूर-अहंकारी, मगर समझ नहीं पाते हैं?
घृणा-सदा घृणा देती है, प्रेम-स्नेह नहीं मिल पाता,
घृणा-उसी से हम करते हैं जो अक्सर हमें डराता ।

घृणा की अन्धता ही दुर्योधन ज्ञान की अन्धता हैं;
ज्ञान की ज्योति से ही यह दूर हो सकती है ।
हृदय में घृणा है जब तक सन्तोष न पाता नर है;
ग़लत-कार्य में उसको न दोष कोई नज़र आता है ।

ईर्ष्या तो तुम रहे पालते बचपन से ही दुर्योधन,
अपकार ही करना चाहा, भले भाई तुम्हारे पाण्डव,
ईर्ष्या-भाव तेरे के कारण हम विनाश तक आ पहुँचे,
है नष्ट-हो रहा भरतकुल, जिसपर इतरा हम चलते ।

तनिक तो सोचो बेटा, मैं युद्ध भूमि में हूँ लड़ता,
मृत्यु-की तनिक न चिन्ता, मैं मरने से न डरता;
है-अभी समय दुर्योधन, ईर्ष्या, घृणा को मार भगाओ,
युधिष्ठिर-अर्जुन हैं भाई बढ़कर उनको गले लगाओ ।

यह जीवन का ताना-बाना, अच्छे-बुरे-धागों से बनता;
यह तीर्थ-यात्रा भी है, जीवन परमात्मा से ही मिलता ।
यह निरर्थक स्वप्न नहीं है, सार्थक कर्म का पथ है,
एक आश्चर्य-श्रृंखला भी न है, यह ज्ञान-ज्योति का घर है ।

ईर्ष्या, घृणा, और हिंसा कभी आधार न होते इसके,
प्रेम, त्याग, समर्पण सतोगुण ही सूत्रधार सदा इसके ।
संघर्ष सदा तो इसमें, चाहे विजय मिले पराजय;
एक चलचित्र ही है यह जीवन कितने मार्ग हैं इसके ।
स्वास्थ्य-बुद्धि-ज्ञान-बल तो दीर्घायु दुर्योधन करते हैं,
अज्ञानी, मूढ़, अहँकारी तो अल्प-काल रहते जीवित हैं ।

जीवन सत्य, महत्त्व का, मृत्यु ही इसका लक्ष्य नहीं है,
मिट्टी में तन ही मिलता है आत्मा पर घटित नहीं है ।
जीवन कटंकमय है धर्म-अधर्म पर क्यों दौड़ रहा है?
सत्य का आधार छोड़ कर जंगल-युद्ध में भटक रहा है ।

जीवन दुःख की एक कविता-पर सुख ही दे जाता है,
जब सार्थक स्वप्न हैं करते, ईर्ष्या को छोड़ आता है ।
आत्म-विश्वास, ज्ञान, संयम यही तो तुम छोड़ रहे हो;
ईर्षा के अश्वों पर चढ़ क्यों सुत, मुझपर टूट रहे हो?

संयोग की बिखरी ईटें में कहाँ तक जोड़ सकूंगा-
दुर्भाग्य ने दूर जो फैंकी, कैसे भवन उसार सकूँगा,
कोई भी अन्धा होकर, भाग्य निर्माण न कर पाता है,
सचेत-सत्य शक्ति के श्रम से, मानव सुख पाता है ।

पराधीन ही मैं. तन, कर्म से हस्तिनापुर का बेटा,
अधर्म से पराजित होकर, दुःख भोग रहा हूँ बेटा;
मैं ने तो निष्ठा-बल से तेरे हित-युद्ध किया है;
पराजित हुए मनुष्य को किसी ने न यश दिया है?

धिक्कार है इस मानव-तन पर इस पथ पर लाया है;
जिसके हित अधर्म-स्वीकारा, उसी ने ही फटकारा है ।
स्वाधीन-वृत्ति ही सार्थक है, पराधीन-वृत्ति, कुछ न;
पराधीन-कर्मों में चलना, जीवित रहते ही मृत्यु है ।

पराधीन जो नर है सुख का आनन्द क्या जाने?
दुःख ही उसको है मिलता, सन्तोष कभी न माने ।
पराधीनता तो पशु का चित्त भी संतप्त कर जाती;
मैं तो मानव हूँ बेटा मुझको यह क्यों न तड़पाती?

मैं तो पिंजरे का पक्षी निर्माण स्वयं किया है?
सब पंख काट हैं डाले अपना अपकार किया है ।
सत्य ही कहते हैं शास्त्र, पराधीनता से मृत्यु अच्छी !
जीवन सफल वही है जिसकी स्वाधीनता न छिनती ।

कौन कहता मैं जीवित हूँ? मैं केवल दास तुम्हारा,
तन्मय होकर युद्ध हूँ करता, हर बार क्यों मुझे लताड़ा?
धर्म नाश जब करते, पराधीनता को नींव है मिलती;
पर-जीवी, नमक-हलाली, अधर्म की राह न खलती?

मन-वचन-कर्म में अन्तर तो सदा बना रहता है,
जब तक विवश परामुखी-पराधीन ये जन रहता है ।
तुम तन-बल के स्वामी हो, इसी लिये युद्ध करता हूँ;
विषम-पराधीनता में, मन से सदा दुखी रहता हूँ ।

पिंजरा भले स्वर्ण-निर्मित पर रहता तो पिंजरा है,
पक्षी पड़ा हुआ उसमें कब पंख फड़फड़ा सकता है,
प्रतिज्ञा के पिंजरे में मैं बंधा पक्षी हूँ मन से,
शस्त्र-खड्ग उठाए लड़ता हूँ कौरव-श्रेष्ठ मैं रण में ।

भाग्य रहित पुरुषार्थ सर्वत्र ही व्यर्थ होता है;
दैव-सहयोग के बिना, न दुर्योधन कुछ होता है;
मेरा तो पुरुषार्थ तुम्हारे भाग्य से टकराता है;
हर प्रहार मेरी-शक्ति का क्यों लौट आता है?

पुरुषार्थ दास बन करता हूँ मैं तो पूरे बल से;
दश-सहस्र-शूरों को मुक्ति नित्य देता हूँ भू-तल से,
पुरुषार्थी सर्वत्र भाग्य अनुसार प्रतिष्ठा यश पाता है,
विधि के लिखे को पुरुषार्थ भी न कभी मिटा पाता है ।

लो, देखो पूर्ण-बल-पराक्रम-पुरुषार्थ परिचय देता हूँ,
पाण्डव-दल-महाबल को अभी रसातल देता हूँ;
पर बेटा लिखा भाग्य में जो मैं न बदल पाऊँगा;
पूरे-साहस-शक्ति से नारायण को भू पर तो लाऊँगा ।

अभिमन्यु और अलम्बुष नवम् दिन घोर संग्राम छिड़ा था;
धनंजय पुत्र पिता के रण-कौशल का परिचय दिया था;
अलम्बुष का रथ तोड़ा था फिर युद्ध-भूमि से भागा;
सात्यिक और अश्वत्थामा में भी संग्राम हुआ था भारी ।

सभी पांडवों ने मिल कर भीष्म-पर प्रहार किया;
अद्भुत पराक्रम से लड़-भीष्म ने था रोक लिया;
पाडंव-सेना की उस दिन दुर्गति हुई, कारण भीष्म;
बन में भटकी, गांवों सी दयनीय अवस्था, उसदिन ।

श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले "जिसदिन की थी प्रतीक्षा,
आज आन पहुँचा है; तेरह वर्ष बनवास था भोगा;
क्षत्रिय-धर्म स्मरण कर भीष्म पर टूट पड़ो सब ।''

अर्जुनः- "पूजने योग्य पिता-वध से बनवास भोगना अच्छा ।''

श्रीकृष्णः-"अनमन ही मन से, भीष्म से क्यों अर्जुन जूझ रहे हैं;
वह सूर्य-दोपहरी बनकर-पांडव-दल को जला रहे हैं ।''
रथ-उसी ओर बढ़ाया जिस ओर पितामह युद्ध-रत थे,
पाण्डव सेना का काल-बनकर विनाश ही कर रहे थे ।

भीष्म ने अर्जुन रथ को बाण-वर्षा से ही छिपाया;
अन्धकार छाया लगता, कृष्ण अर्जुन नज़र न आया;
श्री कृष्ण अविचलित रहकर रथ को चला रहे थे;
अर्जुन अपने बाणों से भीष्म-धनुष को काट रहे थे ।

भीष्म-अर्जुन-रण-कौशल की हर बार करे प्रशंसा;
धनुष नया धर लेते बाणो की फिर करें वर्षा ।
नर और नारायण दोनों ही घायल-हुए थे भारी;

कृष्णः- "अर्जुन साहस-से क्यों युद्ध में न जले चिन्गारी ।''

तिनकों सा जला रहा है भीष्म पाण्डव सेना को,
गाजर-सा काट रहा है तेरे रथियों-महारथियों को;
अभी पराजय युद्ध में अर्जुन मुझे तो होती लगती;
क्रोध की अग्नि देखो-मेरे भीतर तेजी से जलती ।

कुपित होकर रथ से कृष्ण उतरे कर में चक्र धरकर;
भीष्म की ओर जब भागे तो पितामह हुए गद्‌गद;
"भगवान्-कृष्णा, स्वागत हो ! तुम्हारे हाथों-स्वर्ग में जाऊँ;
इस मृत्यु-लोक दण्ड से वासुदेव, मैं मुक्ति को पाँऊ ।

समय निकट आया है, भगवान भी मारना चाहते,
आप दूसरी-बार हैं आये, प्रतिज्ञा भी तोड़ना चाहते ।''
अर्जुन "केशव न शस्त्र उठाएंगे आप प्रतिज्ञा यही तुम्हारी,
वचन ने तोड़े अपना, पितामह स्वर्ग पहुँचेगे, मैंने ठानी ।

श्रीकृष्णः-"युद्ध में रिश्ते-नाते सब धराशायी होते है,
खड्ग-बाणों के आगे, यह कभी नहीं टिकते हैं ।
हिंसा-प्रतिहिंसा ही तो युद्ध-में वीरों को शोभित;
असि-पकड़ कर बढ़ते रिपु का पीते हैं शोणित ।''

युद्ध लड़ते हैं हम सब ही जब शान्ति रह न पाती,
शान्ति-स्थापन करने की, मानवता मूल्य चुकाती ।
शक्ति-धारी ही जग में सुख-शान्ति ला सकता है ।
निर्बल-कायर-अहिंसक कब असुरों को दबा सकता है?

असुर-वृत्तियाँ ही तो-मानवता का नाश करती हैं;
जीवन-मूल्यों को बल से-शूली पर टाँगे रहती हैं;
दुर्योधन-प्रतीक असुरों का, हैं सहयोगी सभी अधर्मी,
पितामह हो या द्रोण-कृप यह असत्य-पथ अनुगामी ।''

पितामह असुर सहायक उस शक्ति-को भड़काता,
इसके ही बाहुबल पर दुर्योधन दैत्य इतराता,
बढों, काटों मारो, दौड़ो धनजंय यही धर्म है,
मानवता के हित में तेरा उचित यही कर्म है ।

आसक्ति अभी भी बाकी, युद्ध में कब रहती है?
जब पशु-बने हो लड़ते, फिर कैसी भीष्म-भक्ति है?
सिंह तो चिंघाड़ रहा है-हिरनों पर ही टूट रहा है,
यह देख तेरा अर्जुन क्यों न धैर्य छूट रहा है?

क्यों विवश कर रहे मुझको कि मैं चक्र को धारूँ,
यदि नहीं मार तुम सकते, तो मैं भीष्म को मारूँ?
चाहे वचन भंग हो मेरा पर मानवता की रक्षा करता;
मैं रथ से उतर कर भीष्म से जा कर हूँ भिड़ता ।

अस्तित्व-बचा पाता वो, जो युद्ध से न घबराये;
समाज-धर्म-मर्यादा को स्थापित भी कर जाये ।
संघर्ष तो करना होगा, अस्तित्व बचाने हेतु;
असुरी-वृत्तियों पर अर्जुन आतंक बिठाने हेतु ।

वर्ग-संघर्ष से ही तो स्व-वर्ग सुरक्षित होता,
संघर्ष से जो घबराता, अस्तित्व ही अपना खोता,
धर्म-अधर्मवर्गों में बँटे ही हम युद्ध रत हैं,
रिश्ते-सम्बन्धों को अर्जुन हम सब भूल चुके हैं ।

अधिकार वह ही पा सकता, संघर्ष जो कर सकता है;
अस्तित्व-सुरक्षित रखने, अंतिम सांस तक लड़ सकता है,
स्व-बल-पराक्रम का वीर तो परिचय युग को देता है;
यश-कीर्ति पाने की खातिर क्षत्रिय सदैव युद्ध करता है ।

अनिवार्य युद्ध करना है, यदि शान्ति तुम चाहते;
अधर्म, अनीति-अन्याय-पशुता जो न तुम चाहते ।
भीष्म का बल-समर्थन पा देखो यह पनप रहे हैं,
महाबली के कंधो पर चढ़कर, धर्म को ललकार रहे हैं ।''

अर्जुन: क्षमा चाहता हूँ माधव, मोह-त्याग सका न;
भीष्म-पितामह के तन को बल से तो काट सका न;
वह महाबली-यति-व्रतधारी, मृत्युंजय तो माधव हैं,
उनके समक्ष मेरी शक्ति के सभी कोण-कुण्ठित हैं ।

दशवां दिन

दशवां दिन युद्ध का आया, सूर्य अग्न भरता था,
पूरे-बाहुबल से कुरुक्षेत्र में तो तमक रहा था;
प्रलयंकर-आँधी बहती, सब धरा से उखड़ाती थी,
क्रोध-प्रज्वलित आखों से अग्नि ही बरस जाती थी ।

शिखडी को ढाँप वह चलता भीष्म पर बाण-बरसाये थे;
अर्जुन को ढाँप वह चलता-भीष्म पर बाण-बरसाये थे;
वक्षःस्थल बेंध रहा था, शिखंडी अपने बाणों से उनका;
क्रोध बहुत आया था, अन्तिम-समय बन कर खड़ा था ।

संभाल खड़े थे भीष्म, शिखंडी रहस्य तो जान न पाया;
क्यों भीष्म ने उसपर था न एक भी बाण चलाया ।
बिंध-गया तो था तन सारा, अर्जुन थे बाण चलाते;
भीष्म-तन को चीर रहे थे, छल से ही विजय, बुलाते ।

भीष्मः- दुःशासन, शिखण्डी के नहीं पौत्र-अर्जुन के बाण हैं देखो;
उसके पीछे छिप कर-ही धनजय छोड़ रहा है देखो ।''
जैसे केंकडी के तल को बच्चे ही फाड़ देते हैं-दुःशासन;
उसी तरह अर्जुन-के यह मुझे फाड़ रहे हैं शरासन ।

भीष्म-शक्ति-अस्त्र को छोड़ा, अर्जुन ने मार्ग में तोड़ा;
अन्तिम दिन युद्ध का ही है, समय-शिखण्डी रोक लिया है,
"अम्बा, हो तुम फिर आई, प्रभु की ही लीला है यह,
शिखण्डी का रूप दिया है वसुपत्नी-लेने हो आई ।

हाथ में ढाल-तलवार पकड़, उतर रहे थे रथ से,
अर्जुन शत-शत बाणों से, तन करते लथ-पथ थे,
सारा-शरीर बाणों से तर था अगुँली भी जगह बची न;
शिखण्डी रूप में अम्बा को जगती पर देख सकी न ।

सारा-शरीर बिंधा था बाण ही बाण नज़र आते थे;
महाबली के पावन तन को ये बाण ही ढाँप रहे थे ।
श्वेत-सिंह तन को रक्त ने तो लाल किया था;
देवताओं-सुर - ऋषियों ने आर्शीवाद दिया था ।

शर-बिंधा हुआ महाहस्ती धरती पर आन गिरा था;
तन बाणों पर टंगा हुआ था, सिर धरती को लुढ़का था;
धरती भूकम्प उठा था, महा-हस्ती जब चीत्कारा,
गंगा-लहरों में कम्पन्न-तन उघड़ रहा था सारा ।

कार्तिकेय की माला भीष्म तो देख रहा था;
आत्म-दहन ज्वाला की लपटों में ही लिपटा था ।
उत्तरायण-दिशा में ही तो मृत्यु इच्छा थी चाही;
अम्बा साथ ले जाने में, अश्वत्थामा कुछ देर लगाई ।

भाग्य, पुरुषार्थ और काल मिल तीनों फल लाये हैं;
पूर्व जन्मों के कर्म किये, सौभाग्य जगा लाये है ।
इस जन्म में कर्म पुरुषार्थ किया, पौरुष बल से,
प्राण छोड़ सकूँगा मैं तो युधिष्ठिर उत्तरायण से ।

अर्जुन तुम तकिया शूरों का मुझे दिला दो !
सिर-धरती पर लुढ़क रहा इसे तनिक उठा दो ।
प्यास बुझा दो मेरी मैं हूँ जन्मों का प्यासा;
करो पूरी तुम बेटा यह अन्तिम अभिलाषा ।''

तीन बाणों को छोड़ा धंनजय घायल हृदय से,
वीरोचित तकिया बना दिया विह्वल हृदय से,
स्मरण किया ब्रह्मा को, धरा-हृदय तीर चलाया,
'गंगा' के सुधा-कलिश से फूट निकली धारा ।

शर-शय्या पर पड़े ही अमृत पान किया,
'गंगा- के महात्तम का भीष्म ध्यान किया;
अश्रुधारा से नहलाती भीष्म के तन को,
जोड़ रही थी गंगा, टूटे भीष्म के मन को ।''

चतुर्दश-पर्व

भीष्म उपदेश स्वर्गारोहण

स्व विवेक करता है जिस सत्य को प्रत्यक्ष;
सर्व-बुद्धियों से उसी सत्य का होता प्रत्यक्ष,
वास्तविक सत्य वही होता है, पर असम्भव,
सब की बुद्धि और अलग-अलग रहता-प्रत्यक्ष ।

विवेक स्तर हैं-भिन्न, सत्य भी रहते भिन्न हैं-
सर्व-सत्य के शिखर को-हम जीव पाते कम हैं,
आँख देखती सबकी, पर पृथक - पृथक कर,
एक सी शक्ति कभी नहीं, अलग-अलग हैं नर ।

तारतम्य तो कभी नहीं-दृष्टि में रहता,
एक पदार्थ को विभिन्न आकार है मिलता,
विवेक तारतम्य भी नहीं तो रह है पाता,
एक-सत्य को विभिन्न-आयाम चले-पहनाता ।

विवेक और सत्य में नर बहुत अन्तर है,
एक है श्रम-साध्य, एक शाश्वत निर्भर है,
विवेक-युक्ति और तर्क का आधार है लेता,
सत्य-युधिष्ठिर सदैव जगत सत्य ही रहता ।

विवेक पकड़ता सत्य स्व के निर्णय से,
तर्क-युक्ति बल सबका रहता भिन्न है,-
विभिन्न-वर्गों में एक सत्य ही बंट जाता-
अलग-अलग स्वरूप लिए है सामने आता ।

सब कहते हैं सत्य, पर है सत्य अधूरा,
सभी सत्यों का मिश्रित सत्य ही है पूरा,
वही परम-सत्य तो नर कहलाता है,
पर विवेक के बल पर न समझ आता है ।

श्रद्धा-विवेक-आत्मा मन जब मिलते है;
तभी सत्य की सत्ता को पा सकते हैं;
अलग-अलग हम भटकें, बस भरमाते हैं;
स्व-केन्द्र पर बन्धे-अन्धें-चकराते हैं ।

ऐसा भी है ज्ञान, एकरस, एकरूप, अविचल है,
निर्विकार है शाश्वत, व्यक्ति सा न चंचल है;
विवेक-व्यक्ति की विभिन्नता से सदा परे है,
वही ज्ञान-है-आत्मा, परमात्मा, श्री कृष्ण है ।

हृदय में है प्रकट, श्रद्धा से प्रकट होता है;
व्यक्तित्व होता है लुप्त, सत्य समक्ष होता है,
सत्य ज्ञान का सत्य-विशुद्ध प्रसार है पाता,
श्री-कृष्ण के मुख से व्यक्ति हृदय तक आता ।

व्यक्ति-विवेक, अप्रामाणित, आश्रयहीन है,
भगवद्-विवेक, आत्मा, में रहता सर्वांगीण है,
भगवत्-कृपा विहीन, नर, इसे कभी न पाता,
स्व-विवेक-अहं-कुण्ड में नित्य-जलता है जाता;

अर्जित-कुण्ठित-ज्ञान, अहंकार ले आता है,
गंगा का जल-सागर-बन खारा हो जाता है,
'स्व' का खारापन ही 'पर' में नमक घोलता,
विवेक-ज्ञान के अहं-भरा 'स्व' न तोलाता ।

व्यक्ति-ज्ञान कलुष-निजत्व से बँधा हुआ है?
इसीलिए अज्ञान-की लहरों से थमा हुआ है ।
व्यक्तिगत ज्ञान मात्र व्यक्ति तक सीमित है,
सामाजिक-ज्ञान, भगवत्-वाणी में सदा जीवित है;

'स्व' ज्ञान उपदेश, दम्भ-प्रसार करता है ।
स्वार्थ के यह निकट, कहाँ इसमें पुरुषार्थ है;
व्यक्ति-का-ज्ञान, मन-भावों संकल्पों से उपजे;
आत्मा की परतों पर, कब मन यह खोले?

"ज्ञान· सत्य, कृपा-भगवान की से नाता,
व्यक्ति में अलोकित फिर सत्य· समाता,
कृष्णा की महिमा ने किया-विस्तार है;
भीष्म-के हृदय-वाणी से सत्य उतरा है ।

सत्य सदा है नित्य, कभी नश्वर न होता,
जन्म, मरण से परे प्राण - वायु में बहता,
मांसलता के परे-स्वार्थ - स्व से रहता है दूर,
व्यक्ति को मिलता, है जब वरे फिर सामूहिक रूप ।

व्यक्ति ही फिर समाज है बन जाता;
शाश्वत-सत्य, कृपा श्रद्धा से पढ़ पाता,
ईश्वर वाणी फिर मुखरित होती नैसर्गिक,
कोलाहल से दूर-सत्य-वाणी-सम्मखरित ।

प्रभु-कृष्णा की कृपा-भीष्म ने पाई,
सत्य-ज्ञान की महिमा-स्पष्ट हो आई,
ज्ञान-उपदेश-के योग्य, सामूहिक-वाणी,
सृष्टि के सार-तत्व की प्रज्ञा-पहचानी ।

निश्चय किया सभी ने शरशय्या तक आये;
चरण-स्पर्श किया, युधिष्ठिर-आँसू-टपकाये,
ऋषि मुनि, देवर्षि नारद-सभी, वहाँ बिराजे,
श्री कृष्ण, युधिष्ठिर भीष्म-संवाद-उचारें ।

कृष्ण:- शरशय्या पर पड़े थके, पीड़ित हैं पितामह-
धर्म-शिखा सा पावन जल रहे हो महामना,
भीष्म:- "कृष्ण-कृपा जो पाये, कब उसे कष्ट-सताते,
दाह थकावट, उद्वेग मोह-रोग नष्ट हो जाते?

धन्य हुआ मैं कृष्ण, सभी पुण्य यहाँ आये,
मन-भावों के कलुष-पाप-कुकर्म सब धो डाले,
पीड़ा उसे सताए जो कृपा न पाये, रोग उसे सताये,
वे प्राणी हुए धन्य, भगवद्-कृपा सुफल ही लाये।

तुम्हारी कृपा दृष्टि से, तीनों-लोक-उजागर,
वेद-वेदोक्त धर्म, सदाचार, वर्णाश्रम, रत्नाकर,
देश-जाति-कुल-धर्म, सत् हृदय में जागे मेरे,
इस जीवन के पुण्य-सामने आ पहुँचे मेरे ।

अन्तिम-समय में, पाप-पुण्य हैं सामने आते,
पापी-देखे-यमलोक, धर्मी-प्रभु शरण को पाते,
चाहता था मैं देह छोड़ूँ-तुम्हारे अस्त्र-शस्त्रों से;
यह भी भाग्य है मेरा दिखा सब दिव्य आँखों से।

सब कुछ जगा हृदय में, चित, स्थिर, बुद्धि-निर्मल,
जीवित, हुआ हूँ फिर से, प्रभु तुम्हारे चित्त में,
तुम्हारे चिन्तन से भीष्म-नया जीवन पाया,
धार्मिक-सांसारिक प्रश्नों, का है उत्तर पाया,
प्रभु आपने स्वयं युधिष्ठिर को ज्ञान न दिया क्यों?
मुझमें किया आरोपित समग्र मेधा को प्रभु क्यों?

प्रश्न करो युधिष्ठिर प्रभु कृपा है,
अध्यात्म-सुख-ज्ञान परम सत्य है,
प्रभु किया धन्य, बुद्धि-चित-स्थिर है,
परम-सत्य का रूप सब दृष्टिगोचर है ।

कृष्ण:- कल्याण, कीर्ति, कर्म-पुण्य का कारण हूँ,
भाव-लोक-संसार का मैं रचना क्रम हूँ,
सम्पूर्ण-यश-सम्मान का नर केन्द्र मैं हूँ;
मेरे-भक्त को ज्ञान, तनिक सन्देह नहीं हूँ ।

समस्त ज्ञान-मेघा हैं स्थापित तुम में,
नक्षत्र-लोक ज्ञान - सूर्य उदित तुममें;
हृदयाकाश में सभी तत्व प्रकाशित अब हैं,
करें अज्ञान-निवारण, वेद-वाक्य हैं मुख में ।

करेगा जो अनुसरण, जीवन धन्य करूँगा,
लोक-परलोक - परमार्थ सफल करूँगा;
दोष-रहित, हैं आप पितामह जन्म से अब,
सभी-धर्मों-दर्शनों के मर्मज्ञ हो, रत्नाकर ।

चन्दन की सुगन्ध जंगल में फैली;
निर्मल की, मानवता की चादर मैली,
धरती-धैर्य, अपनाकर, ममत्व हैं बाँटती,
फूल-फलों को लाती काँटों को छाँटती ।

जीवन ही यज्ञ-शाला तो बना लिया है,
स्व-सुख अग्नि, स्वार्थ-आहुति-जला दिया है,
मन्त्र-उच्चारण-सत्संग-वट-वृक्ष की छाया,
ऋषि-देव उपासना का मन कमल खिला ।

प्रभु, भक्त-वत्सल हैं, अन्तर्जामी हैं,
उनको फल देते हैं, कर्म-निष्कामी हैं,
नियति मिले आदेश, दुख सुख बन जाता,
सत्य-परमार्थ-त्याग-मोक्ष द्वार खुल जाता ।

करें कीर्ति स्थाई, आदर्श-पराक्रम, धर्म,
शंकाएं सब निर्मूल, सत्य-कर्त्तव्य-कर्म,
मानव-जीवन लक्ष्य-को फिर पा जाता;
प्रकृति-जगत-प्रभु-सत्य को जान पाता ।

सागर-सुख-सन्तोष-पोत पर फिर दौड़े,
तन-मन-दुःख लहरों को तट पर तोड़े,
कृपा-सिन्धु के नलिन-सिहासन पर बैठे;
शेषनाग छाया, समय-काल-चँवर-डोले ।

हुआ-पूर्ण - कल्याण, सर्व ज्ञान दिया,
वाणी-मुख-मेघा - मन वरदान दिया,
करें बखान-सत्य-ज्ञान, उपकार ही होगा,
पितामह-तो सृष्टि में बस एक ही होगा ।''

भीष्म:- "मिली प्रभु आज्ञा, स्थिर चित हूँ,
प्रश्न करें युधिष्ठिर उत्तर को दत्तचित हूँ ।''
युधिष्ठिर किया प्रणाम, शुभ-आशीश पाया,
श्रद्धा-सहित-पावन-जन जन-बैठा-हर्षाया ।

युधिष्ठिर:- 'प्रथम पितामह राजन कर्त्तव्य बतलाएं,
राजा-प्रजा के सम्बन्धों को समझाएं,
नीति-व्यवहार-स्वभाव - अधिकार क्षमता,
शस्त्र-शास्त्र ज्ञान-न्याय-कृपा निपुणता ।

भीष्मः-

उत्तम व्यवहार, प्रसन्न, देवी-देव-मानव हों;
क्षुद्र-क्षत्रिय-वैश्य-सुखी सभी ब्राह्मण हों,
यदि प्रजा-प्रसन्न समझो धर्म-शासन हों,
धर्म-सभी प्रसन्न, सुख-शान्ति-सम्पन्न हों ।

जीवन में पुरुषार्थ बहु सन्तोष है लाता,
इसी के बल पर राज्य सुख-समृद्धि है पाता,
यही हिमालय बन, राज्य, जन, रक्षा करेगा,
व्यक्ति-राज्य-समाज-सुखद भवन उसरेगा ।

बिना पौरुष के भाग्य कोई फल न लाता,
सह काँटे-चुभन - तभी पाटल-मुस्काता ।
प्रथम पौरुष - नरोत्तम तो अपनाते,
दैव-भाग्य का निश्चित-फल कर जाते ।

पौरुष अधीन - दैव - भाग्य सदा जानो,
पुरुषार्थ सर्वोत्तम, राज-व्यक्ति गुण मानो;
पुरुषार्थ-बल - राज्य की शक्ति, बल है,
स्थायीत्व और अस्तित्व इस पर ही निर्भर है ।

करो कार्य आरम्भ, फिर न घबराना,
जो हों आगे विघ्न-उससे निर्भय टकराना,
भू-धर भी तो उखड़े पुरुषार्थ बल से,
विद्युत तो लेते खींच अणु-शक्ति, जल से ।

तड़ित कौंधती जैसे बादल हृदय से;
पौरुष छिपा बँटा लघुकण, जन-जन में,
जन-जन में पुरुषार्थ उसे जगाना तुम,
धर्म-यज्ञ प्रथम-आहुति स्वयं जलाना तुम ।

विघ्न-आपदाएं-रिपु जले हीन - भावना,
पौरुष के बल ही विजय की करो कामना ।
राज्य तभी जीवित, जन-जन-में पौरुष हो;
परमार्थ हित न्योछावर जब जब स्वार्थ हो ।

राजा वही सफल, सत्य मार्ग अपनाता;
स्वार्थ-लोभ-मद-मोह अहं को नहीं पालता ।
जन इच्छाओं पर, स्व-इच्छा कभी न लादे;
मानवता की लक्ष्मण-रेखा को न लाँघे ।

सत्य-आश्रय लेकर ही ब्रह्मलोक पाता है,
अन्यथा भटकता, फिरता, पछताता है ।
अन्तरंग मित्र भी शंकित रहते हैं;
रिपु असत्य घोषित कर, लाभ लेते है ।

राजा, वीर, धीर, सदाचारी, दानी-शान्त,
जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, दयालु, हँसमुख अभ्रान्त,
समृद्धि-प्रसिद्धि, कीर्ति, निजत्व-सुरक्षित रहता,
प्रजा-सुखी होती है, सर्व कल्याण है भरता ।

राजा न हो अतिसरल न उग्र ही होता,
सरल का कहीं न रोबदाब, उग्र भयभीत करता,
सत्य रहता दूर अन्धेरा बढ़ता ही जाता ।
सदाचार, व्यवहार, कुशलता से है नाता ।

राजा का कर्त्तव्य-धर्म की रक्षा करना,
धर्म की रक्षा में प्रजा की रक्षा करना,
प्रजा का सुख-दुःख उस का सुख-दुख हो,
प्रजा की सेवा, कल्याण सबसे ऊपर हो ।

सर्वदा क्षमा को ही नहीं अपनाता राजा,
सदा-दण्ड बल से न राज्य चलाता राजा,
क्षमा-यदि अपनाए तो अपराध बढ़ते हैं?
दण्ड-चक्र चलाए तो जन-शत्रु बनते हैं?

क्षमा-दण्ड दोनों को अपनाकर चलना,
समय-कुसमय का ध्यान सदा पूर्व रखना,
सर्वदा स्व-जनों की परीक्षा लेकर है चलता,
प्रत्यक्ष, अनुमान, सादृश्य, शास्त्र से परखा करता ।

व्यसन से रहता दूर, सदाचारी बनकर,
विपत्ति-काल में धैर्य रखता है बराबर,
अटल-शिखर सा रहकर प्रजा को थामता,
विपत्ति से डरता नहीं, सदा हँसते टकराता ।

राज्य के सातों अंग उससे बल पाते हैं;
स्वामी, मन्त्री सुहृदय, कोष, रक्षा पाते हैं,
राष्ट्र, दुर्ग और सैना हैं व्यवस्था पाते,
यही राज्य की कीर्ति, चार चाँद लगाते ।

इनका जो भी शत्रु, है शत्रु राजा का,
इनकी समृद्धि-शक्ति में, है राष्ट्र पनपता,
व्यक्ति से ऊपर होता फिर राज्य है,
सभी सम्बन्धें से बढ़कर राष्ट्र है ।

वर्णाश्रम के धर्म सबके निश्चित भारत में,
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, क्षुद्र की महत्ता, भारत में,
सभी एक संग रह कर स्व कर्त्तव्य निभाते;
सब तो एक समान ही राजा से रक्षा पाते ।

अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ, दान पर जीता ब्राह्मण,
शान्त, अहिंसक, निर्लोभी, क्षमाशील जितेन्द्रिय-गण,
जगत् ही कल्याण-याज्ञिक का उद्देश्य बनता है;
क्षत्रिय लिए खड्ग धर्म-सत्य, राज्य, रक्षा करता है ।

वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रिय का ध्यान रखता है,
शुद्र है मानव धर्म मन-तन से सेवा करता है;
इसके बिना राज्य कभी धर्माचरण न करता;
यह नीव की ईटें जिन पे राज्यमहल उसरता ।

अधिकार एक सम सबके, क्षुद्र फिर भी उत्तम है,
सेवा, धर्म, त्याग, धैर्य में सर्वोत्तम है,
राज्य से ही पाता घर, रोटी , कपड़ा है;
राज्य सुरक्षित, सुखमय इनको सदा रखता है ।

धर्मचक्र के रथ को यह खींच रहे हैं,
दिव्य-कर्म-अध्यात्म, पर सेवा में लगे हैं;
धन्य वह राष्ट्र जिसकी यह सेवा हैं करते;
धिक्कार उसे राजन् जिस राज्य में ये पिसते ।

क्रिया के अधिकार में है अन्तर होता,
धर्म तो समान फल का अधिकार है देता;
इसके बिना कोई राजा धर्माचरण न करता;
धर्म क्षुद्र को ही सब से है ऊपर रखता ।

चारों आश्रमों का विधान ब्राह्मण को,
गृहस्थ, वानप्रस्थ त्यागे संन्यास धारे जो,
उसकी वृत्ति-परिस्थिति, इच्छा पर ही है,
ब्रह्मचार्य से गृहस्थ, वानप्रस्थ उस पर ही है ।

संन्यास-सुख-दुख रहित, गृह विहीन है;
जो कुछ मिले वे खाये, सब स्वादहीन है ।
जितेन्द्रिय, भोग-वासना शून्य, निर्विकार है,
दान्तः, शम रहे धर्म-सेवा ही आधार है ।

गृहस्थ-देव - उपासना, धर्मानुसरण है,
संयम से विषय-भोग, इसका नियम है,
संतान उत्पन्न करे, पितृ-ऋण चुकाएं;
राष्ट्र की सेवा में, राष्ट्र-ऋण चुकाएं ।

देवता-पितर ऋणों से मुक्त होना धर्म है;
गृहस्थ-कृतज्ञ, सत्यवादी, निष्कपट दानी हों;
देश प्रेमी, उपकारी, चरित्र-बल का धनी हों,
ऋतु काल में स्व स्त्री के साथ रहे सदा वों ।

धन - धान्य - समृद्धि - सुयश - फल पावे,
गृहस्थ में रहकर व्यक्ति-सेवा कर पाये,
राज्य-समाज दोनों का ये ही आधार है,
राज्य के सात-अंगों का इस पर ही भार है ।

सुव्यवस्था-धन-तन में और मन में लाये;
सम्पत्ति, स्वास्थ्य, सन्तोष तभी यह पावे,
वेदाध्ययन - ब्रह्मार्य में ही होता है;
यज्ञोपवीत धारण कर इन्द्रियों को वश कर-

देवताओं की पूजा, मन्त्रजप - आराधन,
आचार्य सेवा, सत्संग, प्राणायाम, ध्यान,
शरीर-बल-सुरक्षित, तप-संयम, वीर्य-व्रत;
अन्त:करण-दृष्टि-विचार वेदाध्ययन-शुद्ध ।

वासनाओं - अधर्मियों, कुकर्मियों को त्यागो,
चारित्र्य-बल से लोभ-काम-क्रोध को साधो,
सहिष्णुता-नम्रता बेंत-वृक्ष सी ही तुम धारो;
समय-वासना-तृष्णा की आंधी से, सदा उभारो ।

अवसर-समय-वय के अनुकूल कर्म हों;
सहिष्णु, विनयी - निस्पृह, बुद्धि-धर्म हो;
प्रह्लाद सरीखा, नर में चरित्र का बल हो,
इन्द्र का भी राज्य फिर नर को प्राप्त हो ।

चरित्र-बल है यहाँ वहाँ धर्म, सत्य रहता है,
शक्ति वहीं है बसती-लक्ष्मी भी पाता है ।
सच्चरित्रता यश, कीर्ति, अमरता लाती,
क्षण-भंगुर मानव को, है कल्प दिलाती ।

युधिष्ठिर:- सच्चरित्रा क्या है? पितामह बतलाएं,
स्व से बंधा हूँ नर मैं, ज्ञान-वृक्ष-उगाएं;
इसकी शाखाओं को, अलकों सम गूँथें,
ज्ञान के फल-रूपों, मान उलीकें ।

भीष्म:- 'मन-वाणी-आचरण शाखाएं-ज्ञान की,
विवेक-आत्म युधिष्ठिर तना है इसका;
भाव-रक्त संचारित-कर्म - प्रवाह है,
सत्य-हृदय-सन्मार्ग-संस्कार अथाह हैं ।

अनिष्ट-इच्छा के कीट हैं भारी,
स्वार्थ-लोभ - मद - अहं - महामारी,
ज्ञान के फल को, खाते रहतें पल-पल,
मन चंचल करते हैं मानव सब मिल ।

विवेक, कृपा, धन, बल बाँटों तुम,
सृष्टि-के अतुल-कष्टों को काटो तुम,
दीन-हीन-निर्वाक, नारी रक्षित हो;
मन-अश्व-तृष्णा-जल न, भटकें हों ।

दया-भाव - सागर सा हो गहरा,
स्व-सुख-दुःख, यश करे न पहरा;
पर अधिकार सदा देते ही रहना,
पर-हित सत्य-ज्ञान का ही गहना ।

कमल-भाव, सदा खिला ही रहना,
शाख की चिन्ता कभी न करना;
ये जग - कीच भरा जलाशय है,
'पंकज' इससे ही पाता जीवन है ।

ज्वाला-मुखी-घृणा-द्वेष का फूटे,
सागर में मिल सब अग्न से छूटे,
ये ही चट्टाने खनिज लौटाएं,
लावा-लहरों में छिपी सम्पदाएं ।

गन्धक के शिखरों में बदले यह ठण्डा,
खनिजों में बदले, अन्तरीप-सुगन्धा,
मानवता का ही एक तट रहता है,
इस ओर कभी न यह बहता है ।

हृदय-भाव-ज्वाला जल भी है,
ज्वालामुखी फूटते तो झरने भी है,
आँधी-अधंड़ का महाकाल दहाड़े,
शीतल-मलय भी सुगन्ध फुहारे ।

आग-बाँधनी जीवन में पड़े सदा ही,
दीपक-ज्योति बनों तभी तमा की,
रजो की रज्जू, सर्प कभी न लगती;
सतो की रेखा है सर्प क्यों बनती ।

तमों में तप है आलोक नहीं है?
इसमें बन्धन है, सन्तोष नही है,
ये भटकन है, सागर-पत्थर है
अस्थि-मज्जा को बिखरा देता है ।

मन वासना- से भरमा देता है;
तन-गिद्ध आहार बना ही देता है,
शुक-चोंच से फल काटता रहता;
जीवन-शाखा से तोड़ ये चलता ।

स्वाति-बूंदें फिर तपत धरा पर,
पत्थर-सीपों में न गिर सकतीं,
तम की यह तमता ले कभी न टूटे;
सर्पी-विष-ग्रन्थि, क्यों कर फूटे?

ज्ञान-की वर्षा न स्वाति नक्षत्र में,
यह-भाव लहरों में, तन-विवेक मंडप में,
तमों-सीप में ही तो सत-मोती उगता,
हंस-आत्मा कभी पत्थर न चुगता ।

पाटल तो लाली-सत यूँ नहीं पाता,
कांटों से बिंधता हुआ रक्त प्रवाहता,
लाली मत देखो-श्रम - कांटे देखो,
फल-पाटल को फिर खिलता देखो ।

तमों सर्प भयकारी, यह मानव निगले,
ज्ञान-खड्ग ही तो विषधर को काटे ।
मन-अफ्रीका जंगल में ही रहते हैं;
तपोभूमि में ये विषधर न पलते हैं ।

मन-वाणी-आचरण-सतोराज में रहना;
रजो-तमो-राजों में इन्हें न भटकने देना,
सच्चरित्रता-ज्ञान इसे ही कहते हैं,
धर्म-राज में रंक-राजा तो न होते हैं?

सत ही तो मानव हैं एकाधिकारी हैं,
ज्ञान-आंखों से अन्धे ही भिखारी हैं,
सुकर्म, सुधर्मी करते सर्व फल देता;
कुकर्म, कुधर्मी को सर्प निगल ही लेता ।

एंश्वर्य वही पाता जो सुकर्म कमाता,
दुश्चरित्र-ऐश्वर्य - हीन ही रह जाता,
मिल भी जाए यदि-तो ठहर न पाता,
अपने कर्मों के हाथों, इसे जला है जाता ।

जिसे स्थिर सुख-शान्ति पानी हो,
सम्पत्ति-शाश्वत - कीर्ति कमानी हो,
सच्चरित्र को धारे सत्य - धर्म पालें,
कर्म आग में तप-[illegible]-कुन्दन कर डालें ।

[illegible]थि का हो सत्कार, निराधर न हो,
[illegible]णागत हो सुरक्षित, यह परम धर्म हो,
[illegible]व ही नहीं, पशु - पक्षी जीवन पायें;
[illegible]-धर्म के पालन से वे भी मुक्ति पायें ।

परशु ने मुचुकुन्द की सुन्दर कथा सुनाई,
क्रूर बहेलिये ने भी, थी सीधी राह पाई,
कबूतर जला अग्नि में, उसकी भूख मिटाई;
कबूतरी ने स्वयं जल थी जीवन मुक्ति पाई ।

शरणागत की रक्षा, सेवा, महाधर्म है,
उत्तमगति है मिलती, शाश्वत-पावन कर्म है,
अतिथि-अनादर पाये, मोक्ष प्राप्त न होता,
स्वार्थ'अन्धा मानव, तो अन्त:काल है रोता ।

शरणागत रक्षा 'मनु' सर्वोत्तम है धर्म,
जन-हित, स्व-हित में उत्तम ये कर्म;
मन-सत्य-श्रद्धा, सुख - शान्ति पाता,
मानव मानव को सार्थक है कर जाता ।

धर्म-तन क्रिया से आत्म-क्रीडा तक जाता;
पंचभूतों को नश्वर-अनश्वर तक लाता;
स्वजीवन प्रथम सुधरता, धर्म मार्ग अपनाकर,
सार्थक होता जीवन, मानव-धर्म बढ़ाकर ।

कल्याण जाति का होता समाज सुख पाता है,
व्यक्ति जब धर्म को स्वेच्छा से अपनाता है,
धर्म, सत्य, भाव, विचार, कर्म में जीवित है,
संस्कारों में चलता है यें कभी न बन्धित है ।

जगत-प्राणी शान्ति है पाता धर्म से,
मन-विवेक-आचरण पावन करे कर्म से,
तन को शुद्ध करे इन्द्रियों को शोधे,
मन के विक्षेप को नष्ट करे, रोके ।

धर्म ही केन्द्र तो सब सृष्टि चक्र का,
धर्म से ही उत्पन्न-सब चेतन जड़;
सकल जगत् धर्म से ही स्थित है;
धर्म में ही सब अन्त समा जाता है ।

पंचभूतों की रचना में भी धर्म है,
उच्शृंखल कभी न होता सत्य कर्म है,
नित्य-धर्म ही होता, मानव अनित्य है,
अन्त: करण में बैठा देखो धर्म है ।

मन को कल्पनाओं के अश्व दौड़ाते,
लक्ष्य तो धर्म लगाम से ही पाते,
संकल्प-विकल्प मन करता रहता,
धर्म-विवेक बन सत्य निर्णय करता ।

जीवात्मा - साक्षी सदा कर्म की रहती,
अनुचित-मार्ग का संकेत करती चलती,
औचित्य - मन धर्म के कारण पाता,
धर्म ही मन को निश्चल-शान्त कर जाता ।

निर्मल-जल पारदर्शी दर्पण होता है,
विलोकता अन्त:-बाह्य जो होता है ।
विशुद्ध-बुद्धि-जगत् प्रकृति सत्य को,
प्रलय को जन्म-मरण, शान्त-तथ्य सो ।

तीनों गुण बुद्धि को हैं वश मे रखते,
मन-इन्द्रियाँ - बुद्धि के वश हो चलते,
बुद्धि के बिना कोई कार्य सम्पन्न न होता,
रजोगुणी इसी से विषयों का ज्ञान है करता ।

सत्व-गुण युक्त बुद्धि प्रभु पा जाती,
तमोगुण में फंसी मोह जल में भटकाती,
सत्त्वगुणीं-शान्ति, सुख और संयम पाता,
रजोगुणी कामी-क्रोधी वत्स है बन जाता ।

तमोगुण भय और विषाद ही लाता,
रजोगुण देता सदा मानव को दु:ख,
तमोगुण बढ़ाता रहता मोह-सुख,
सत्त्वगुण मानव लाता सन्तोष सुख ।

सत्त्व में उपजे हर्ष, प्रेम, शान्ति - आनन्द,
रज में असंतोष, संताप, शोक, , लोभ - मन्द,
तम में है अपमान, मोह, प्रमाद, स्वप्न, आलस्य,
सत्य-धर्म-विवेक, मोक्ष सत्त्व पर निर्भर ।

बुद्धि, आत्मा में धर्म भारी अन्तर है,
बुद्धि में दंभ-अहंकार, आत्मा में गुण हैं,
बुद्धि दृश्य-अदृश्य कल्पित सीमित है,
आत्मा है असीम यह अपरिमित हैं ।

गुण-धर्मा मानव तो लगता है,
इनमें होकर भी अलग रहता है;
गूलर का फल और उसका कीड़ा,
पानी और मीन की जैसी है क्रीड़ा ।

एक रहकर भी अलग अलग हैं,
बुद्धि और आत्मा की तो यही गति है,
अहं-दम्भ आत्मा को जान न पाते,
आत्मा से दूर कभी न हो पाते ।

आत्मा विवेक उसके कर्मों से परिचित,
उससे परे तो कुछ न, बुद्धि है सीमित,
मन्निष्ठ-मानव, ये भेद तो समझ न पाता,
विषयों के तारों में बंधा ही रह जाता ।

आत्मनिष्ठ-ध्याननिरत ही ऊपर उठता है,
बुद्धि-विषयों से नहीं फिर ठगता है,
आत्म स्वरूप में स्थित होना उपयुक्त है,
वे मानव सत्य-धर्म में, जीवन मुक्त है ।

जो हंस की भाँति जगत् में रहता है,
सम्बन्धों-कर्मों से निर्लिप्त चलता है,
समस्त भयों के पार पहुँच जाता नर है,
त्रिगुणों से ऊपर तो फिर उसका घर है ।

आत्मा दुःख से दूर त्रिगुण न बांधे,
धर्म-अर्थ-काम में तो विवेक ही बांधे,
पुरुषार्थ-सामाजिक हैं ये, समझो बेटा,
मोक्ष ही सच्चा-पुरुषार्थ है जानो बेटा ।

धर्म-अर्थ और काम आसक्ति पूर्ण हैं,
ये सामाजिक कर्त्तव्य-व्यक्ति कर्म हैं,
आसक्ति में बंधा नर सदैव चलता है,
त्रिगुणों में फंसा, यही सत्य लगता है ।

आसक्ति जब तक, तब तक नहीं मोक्ष है,
त्रिधर्मों और त्रिगुणों का यह चक्र है,
आत्म-दर्शन कभी आसक्ति न करवाती,
श्रेष्ठ-नर ऋषियों-मुनियों को भटकाती ।

प्रथम इन्द्रियों को बांधो विषयानुराग को,
और न मार्ग आत्म-दर्शन - सन्मार्ग को,
धर्म-व्यक्ति-जाति-राष्ट्र-सामाजिक होता है,
आत्म-दर्शन के मार्ग में बाधा होता है ।

आत्म-ज्ञान से ही आत्म-दर्शन कर पाते,
विषय-वासना जल से जब बाहर आते,
इससे ऊपर नर कोई भी ज्ञान नहीं है?
जगत्-जीव कब जाने, पहचान नहीं है ।

तड़ित-मेध के भीतर - अदृश्य रहती है,
जल-प्रवाह में विद्युत न नज़र पड़ती है,
पंचभूतों में बसा-प्राण - पंखी उड़ता है,
प्रस्तर-तलों को चीर अरे चश्मा उठता है ।

स्व की कब पहचान, यह नर कर पाता,
छिपी पड़ी जो आग, नहीं चमका पाता,
बीज रूप में जीवन-कण-कण संपादित;
मांसल-सुख कब करें आत्म-आनन्दित ।

जीवन होता धन्य जो 'स्व' पहचान लिया है,
कृतार्थ हुआ वह नर, जिसने यह जान लिया है,
त्रिगुण औ त्रिधर्म, त्रिआश्रम सब भटके हैं,
रुके हुए अश्व, बंद सड़कों में भटके हैं ।

वत्स, पहचानों सच्चा धर्म जल का,
वायु और आकाश, अग्निबल, थल का,
जड़ में भी हैं प्राण, अरे वे ही चेतन,
निरन्तर उठते शिखर जो लगते अचेतन ।

सत्य-धर्म वह है जो कभी नहीं मरता,
आत्म भरे आनन्द न जीव कभी मरता;
भय शेष हो जाते ज़रा-मरण-दुःख के,
आत्मा में आलोक-पुष्प महक हैं उठते ।

मुक्ति एक है, सबकी मुक्ति एक सी है,
जल बरसे चाहे सूखे अभेद ही है,
दृष्टि-भ्रम से रज्जू, साँप नज़र आती;
रज्जू रहती रज्जू साँप कब हो पाती?

इन्द्रधनुष के रंग कभी नज़र आते;
सूर्य-तेज-किरणों से बादल टकराते,
आत्म भरा है तेज-रंग दिखला जाती,
दिव्य-देव-आभा-हृदय चमका जाती ।

सगुण-गुणों से ही तो जाना जा सकता,
निर्गुण की पहचान, आत्मा कर आता,
वह ही भाव, विचार, श्रद्धा में बसती,
वाणी शब्दों से नहीं पर पकड़ सकती ।

कर्म भाव, विचार, से न, होता तन से,
पाप-पुण्य का रूप यह धरता मनसे,
पुण्य आत्मा बसता, पाप बसे मन में,
मन पाता संस्कार, आत्म सु-साधन से ।

शारीरिक होता कर्म-चलाता पर मन है,
तन की भी एक सीमा, अमर चेतन है,
बंधा-समय के साथ दास चलता है,
चेतन है असीम, श्वास - चलता है ।

मन उपासना सूर्य-चन्द्र की करता,
तन करता तप पर फल न मिलता,
करें उपासना जड़ की बन्धन ही लाता;
मन व्यक्ति को सुख कभी न दे पाता ।

उपासना केवल मन से ही होती है,
आत्म-सुख के बीज यही तो बोती है ।
यही निराशा-आशाओं को लाता है,
तन से बँधा मन, न मुक्ति पाता है ।

मन-तन के केन्द्र पर घूमता रहता,
आत्म अस्थि-मज्जा चूमता है रहता ।
भोग-ऐषनाओं में तो भटके मन है;
इस जीवन का सार अरे न तन है ।

तन की पूजा और उपासना इसकी,
इसका करें शृंगार, वन्दना तन की,
आँख, नासिका, कान, बाल सजाते हैं,
अनेक रंगों के, आवरण इन्हें पहनाते हैं।

हाथ, पाँव, कमर, ग्रीवा सजाते रहते,
स्वर्ण-रजत-रत्नों से इनको लिपटाते,
मन उपासना-सत्य से ही सजता है,
अन्यथा जीव को मन ही तो ठगता है ।

बाह्य - मन शृंगार-अन्धता ही लाता,
अज्ञान, तनों की सेवा सदा ही करवाता ।
करी उपासना सदा अरे सुत चेतन की,
करो वन्दना युधिष्ठिर तुम आत्मा की ।

जड़-उपासना तो बन्धन ही लायेगी;
चेतन-उपासना मुक्त तो कर जायेगी,
चेतन-होता आत्मा, मन यह जड़ है,
आत्म-मुक्तिधाम, मन बन्धन-घर है ।

वट-वृक्ष की तरह ही तृष्णा-फैले,
जड़ता की शाखाओं को ये ले लें ।
यह सागर जल फैला सब, खारा है,
सूर्य-चमकता है, बन तो काला है ।

ज्ञान - बौद्धिक होता तर्क-संगत है,
जड़-चेतन का सदा रहा अन्तर है,
जड़ का करके ज्ञान भटकता नर है;
जड़ की पूजा करता, उसके ही वश है ।

जड़ चेतन में भेद न कर पाता;
चेतन समझे जड़ उसे चेतन करता,
धन-वैभव-ऐश्वर्य ही चाहता नर है,
सत्ता-मद में चूर-दहाड़ता नर है ।

मन-जड़ को ही चेतन नर माने,
सभी-सौंदर्य इसी में सिमटा जाने;
इससे बाहर मन तो निकल न पाता;
जड़ और जड़ता से ही उसका न नाता ।

मन सृष्टि-विलास में प्रवृत्त करता,
आत्म सदा तो नर को निवृत करता,
मन व्यक्ति को-दु:ख-अभाव दे जाता;
आत्म तो इनसे है उसे छुड़ा जाता ।

धन-जड़ है यश-कीर्ति जड़ है,
तृष्णा-नद में उगा-ताड़ वृक्ष है;
बाँस वासना की आँधी में बनता है;
लिप्सा-जड़ से तो नहीं उखड़ता है ।

लोभ-मोह की आँधी जब बहती,
सहज-भाव बांस-वृक्ष सी सहती,
तना कभी इसका-अकड़ न पाता,
लोभ-मोह-आंधी से न टकराता ।

चेतन का पर ज्ञान-आत्म में है,
जड़ता-जड़ की पहचान आत्म में है,
जड़ में रहता जगत, दीख पड़ता है,
दृष्टि के भ्रम यही सत्य लगता है?

दृष्टि मन के ही अधीन लगती है,
रूप, गंध, स्पर्श, गुणों को ही पकड़ती है,
दृष्टि रूपासक्ति पर संचालित,
पंचभूतों पर रहती तो यह निर्भर ।

चेतन-दृष्टि, जड़-दृष्टि को जानो,
मन, आत्म के अन्तर को पहचानो,
मन सत्यता आत्म - सत्य से पाता,
आत्म-सत्य के निकट उसे ले जाता ।

आत्म का पा ज्ञान शान्त है होता,
जड़-चेतन का भेद प्रकट फिर होता,
शान्त होना ही तो मुक्त होना है,
तन-मन-जड़ ज्ञान को खोना है ।

कर्म-उपासना नर को नारायण करती,
आत्म-दर्शन से अज्ञान सभी है हरती,
ये उपासना आन्तरिक, बाह्य नही है;
ज्ञान आन्तरिक पर उपासना नहीं है ।

ज्ञान-उपासना-कर्म साथ चलते हैं,
जड़-चेतना के आवरण न खुलते हैं,
इन तीनों से परे, न हो पाता नर है,
इनमें बंधा हुआ प्राणी खोता सब है ।

इनमें लिप्त होने से निर्लिप्त अच्छा है,
इन तीनों से दूर रहना ही सुत अच्छा है,
इतना सहज नहीं-इस सत्य को पाना,
इनसे पलते हुए, कमल सा बन पाना ।

ध्यान ही तो स्वरूप स्थिति तक लाता,
कर्म वे उत्तम, जिससे पड़ती न बाधा;
जड़-कर्म और चेतन परख लेता है,
ध्यान में फिर नहीं बाधा बनता है ।

'ध्यान' मन पंखों को चले काटता,
पाप-पुण्य, जड़-चेतन को रहे छाँटता,
राग-द्वेष के कारण, मन-हिरन न दौड़े,
'ध्यान'-रथ-अश्व की लगाम जब मोड़े ।

मन, विवेक, राग बन्धन में आते,
तन विकार-हलके हैं सब हो जाते,
तन में हो दूर स्थित रहता है मन,
प्रवृत्ति-त्रिगुण-त्रिफल, के ढीले हैं बन्धन ।

ध्यान एकांत में ही हो सकता है,
विषयों की-मदिरा से कब होता है,
स्वच्छ'-हृदय-आर्तभाव से प्रभु वन्दना,
'प्रभु- मेरी वृत्तियों को स्व-लीन करो ।''

पंकज-सदा पंक में ही तो खिलता है,
शान्त-भाव में लीन ध्यान निरत है,
प्रथम किरण-सूर्य की उसे खिलाती है,
सच्ची लगन मनस्वी की रे, मुस्काती है ।

नारी-सौंदर्य भ्रमर तो उसे बनाता है,
गंध-रज-अंध चारों ओर रहे मंडराता,
चन्द्र कला के रूप जाल में फंसा हुआ,
सागर की रूप-लहरों सा ही छला हुआ ।

भ्रमर भूल पाता न सुगन्ध को,
मंडराता, ललचाता फिरे उपवन को,
सुमन-सुमन-पाता कब हुलास को?
तृप्त नही करता तो रूप चाह को ।

भ्रमर-सुमन - भटकन को छोड़ो,
मन केवल अनन्त चेतन से जोड़ो;
अनन्त-आनन्द विषयों से परे है,
सुमन-शुष्क कांटों, पर ही लथपथ है ।

मन इन्द्रियों में हो, बाहर जाता,
मद-मतवाला, इसको भूल न पाता,
अनन्त-चेतन में मन ऐसे डूबो,
दुःख-जड़ शाखाओं के कांटों सूखो?

संकल्प-तरी - लहरों पर विचरण,
तट को मिलने-हित रहना चंचल,
ध्यान-शिखा की ओर भँवर - मन,
जलने की धुन में रहो व्याकुल तुम।

मेघ-गर्ज में छिप विद्युत लहर,
चमक विलीन तम में भी ठहर,
मन-तृष्णाएं भी रह-रह चमकें,
मधुर-हास मांसल के तो ठग लें ।

मन-भ्रमर के समक्ष रूप रहता,
सुमन रूप-सागर में है खिलता,
प्रेम है जिससे करता-सामने रहता,
मन-पराग-रस से लिपटा है चलता ।

सूर्य-किरण से अलग नहीं होता है,
प्रभा-ज्वाल में सदा दीख पड़ता है,
मन-किरणों की लता में लिपटता है,
प्रेम-कुसुम अनेक रंगों में, खिलता है ।

विभिन्न नाम औ रूप धेरे यह आते;
प्रिया-रूप तो भूल कभी नहीं पाते,
वह ही रूप-श्रृंगार नये नये है करता,
मन-सम्मोहन के रंगों को है भरता ।

सभी रूपों नामों को भूलो रे मन,
टूटे-रूप का बिखरे यह सम्मोहन,
रजो-तमो-सत्त्व से उठो तुम ऊपर,
अनन्त-चेतना से कोई नहीं ऊपर ।

युधिष्ठिरः- अनन्त चेतन को कैसे नर पाएं?
त्रिगुण - त्रिधर्म को कैसे ठुकराएं?
भ्रमर-सुमन पर ही तो मंडराता है,
भँवर शिखा पर ही तो जल जाता है?''

पितामहः- नर से अतिनर तक जाना होगा ।
नर-आग्रह नरता, ठुकराना होगा,
विरोध-किसी का नर नहीं करता,
किसी द्वेष को मन में नहीं धरता ।

पार्थिव-बन्धन मुक्त सदा तो है,
किसी कामना से भी दुःखी नहीं होता,
समता का व्यवहार, सदा तुम अपनाओ,
समत्व-भावना को युधिष्ठिर अपनाओ ।

कामना रहित होता अतिनर है,
सब में मिलता, जो विश्वेश्वर है,
किसी द्वेष, औ राग मे लिप्त नहीं है,
प्रेम-विरह नरता की अति नहीं है ।

पर निन्दा से दूर-हंस विचरता,
मन-आकाश-गंगा में रहता उड़ता ।
स्व-पथ का निर्माण स्वयं करता है,
भावावेश की नदी नहीं डूबता है ।

स्व-बन्धन भाव-कर्म पर नर लाता है,
भावावेश की अग्नि से न जल जाता है:
संयम होता, भाव, विचार, कर्म पर,
जीवन में चलता नित्य - धर्म पर ।

बन आकाश - असीम हृदय फैले,
पर-दुःख-कष्टों को स्व पर ले लें,
कवच-लौह का ही ओढ़ लेता है;
इच्छा-कामना के घट फोड़ देता है ।

मन चाहता है रूप सामने आये,
पर आत्मा स्व-बन्धन को लाये,
समय से तो होड़ नहीं करता है,
भावावेश में स्व को नही छलता है ।

आकाश-भाव हृदय चले अपनाता,
सागर बन सभी नदियों को अपनाता,
प्रचण्ड लहरों को तट शान्त है करता,
क्रोधित मन-क्रम को अरे उलटता ।

भय कोई, तन मन छू नहीं पाता,
डरता कभी न, किसी को न डरा जाता;
इच्छा - वाञ्छा रहित सागर है,
सम-भाव से जगती को अपनाता ।

इच्छा मृत्यु का सागर नर को,
विषयानुराग बन्धन का घर तो,
जल-सर्पों सा चले निरन्तर,
विष इनका चढ़े अति मन्थर ।

समता-दृष्टि को तुम अपनाओ,
सब में 'स्व' देखो निखराओ,
मधु-छत्ता तुम चलो बनाते,
जीवन-रस उसमें ढुलकाते ।

पाप कहीं फिर नज़र न आता,
श्वेत-हंस सा मन निश्छलाता,
विष-काँटों के ढंक न चुभते;
'क्षय'-के नहीं कीटाणु पलते ।

भाव-क्षीर - सागर, मंथता है,
विष, चेतन, शिव ही धरता है,
ब्रह्मा अमृत-कलश भर लाते,
सम-दृष्टि जब मानव पाते ।

वाणी मलय-पवन बहती है,
शब्दों में सुगन्ध भरती है,
पुण्य-सुधा, मधु-घट भरती है,
चेतन-शान्त, मस्ती मिलती है ।

वाणी-का प्रसार जगत है,
शब्दों से सम्बन्ध-घना है,
मधुर-मधु, मद बन जाते,
जीवन को सुरभि तट लाते ।

तेज़ दौड़ता अश्व है थमता,
कुशल-अश्वारोहि न भटकता,
नृत्य करता गज आगे बढ़ता,
कण्ठ-पगों में घूँघर बजता ।

सहज-सचेतन-सहृदय-सुख हैं,
अति, चंचल-गति में दुःख है,
सर्प-चाल, पर बढ़ना आगे,
मन-चंचल को नरवर साधे ।

सर्प-दंश में विष - भरता है,
मूस क्यों उसके मुख गिरता है।
भाग कहां मन - मेढ़क पाता?
विषय-सर्प है भोजन पाता।

अति-मानव का रूप धरो तुम,
नर-तन से न करो घृणा तुम,
तीनों काल ही सुख लाते हैं;
सुफल-सुयश ही नर पाते है।

मानव वही ब्रह्म रूपा कहलाता।
भेदक-दृष्टि जो नही अपनाता;
पूजक और बधिक दोनों सम हैं,
दोनों ही जिस नर को प्रिय है।

बुद्धि-कमल कभी न मुर्झाता,
जग-पंकज है, शक्ति है पाता,
दूषित-पंक से भी, रस लेता,
बिना-आधार ही खिला-देता।

भविष्य-भूत पर निर्भर कब है;
रहता-जीता-जग चलता पल है।
चलते-पल को ही सुत अपनाओ,
इसे सत्य-पथ पर दौड़ाओ।

यही अति-नर का कर्त्तव्य है,
यही मोक्ष है, न बन्धन नर है,
स्थूल-शरीर के कर्म त्याग कर,
मन-शरीर को अपनाकर देखो।

ध्यान-मात्र मन ही करता है,
सब-सुखों का मन ही घर है,
जीवन-मुक्ति का यही द्वार है,
मन में ही सृष्टि का प्रसार है।

कष्ट सदा मन ही लाता नर,
निवृत्ति-प्रवृत्ति का यह ही है घर,
प्रवृत्ति-गहन कूपों की जननी,
निवृत्ति-मोक्ष-स्तूपों की सरणी।

तन औ तन-कर्मों में भटक रहे नर,
आसक्ति - बंधे' पशु हैं अग जग,
मन प्रवृत्त करता है, स्वर्ण घट,
सत्य ढंपा मिलता, तनमयी पट।

शरीर-स्थित भूला अन्त:करण,
सत्य-विभा न, अज्ञान फैला तम,
ध्यान-निरत होता न क्षुद्र-तन,
प्रवृत्त-माया-आवरण ढका मन ।

कीट-शाखा पल्लव खाता है;
क्षुधा-सागर बढ़ता जाता है,
शरीर-कर्म में प्रवृत्त रहता है,
अन्त:करण सुप्त, मरता है ।

तन से बाहर नहीं आ पाता;
मन-अन्त:करण सदा टकराता,
मांसल-मोह का विष पीता है,
धीमे-धीमें नशा, जीता है ।

तन के संग-मन भी तुम देखो,
तृष्णा-इच्छा - कर्त्तव्य विभेदों,
कर्त्तव्य आत्म-चेता, इच्छा है,
मन-आत्म-तन एक रेखा है ।

स्वप्न-सत्य भी तब होते हैं,
तन-मन-बल सु-समर्थ, होते हैं?
मगर सरोवर-सर-नद में बहता,
तटों पर ही अण्डों को सेता ।

मन कांगरू के अगले पग हैं,
सदा झुकाते मानव सिर हैं,
आत्म-पीछे के पग है भरता,
सिर ऊँचा, और चले उछलता ।

मन-पग नर तुम सदा उठाओ,
आत्म-पथ पर तुम इन्हें दौड़ाओ,
जल-अश्व नर, माया नद पाटो,
रूप सम्मोहन, लहर को काटो ।

नर-मन - शिशु, घने जंगल हैं ।
असंख्य-द्रोणियाँ, घाटी, वन, प्रान्तर हैं ।
ऊर्ध्व - शिखर नभ होड़ करते हैं,
नभ को कहाँ पकड़ सकते हैं?

जंगल-तम फैला है कोहरा,
तृष्णा-सागर में जल थोड़ा,
मन-बालक तुम भटक रहे हो,
तन सागर में क्यों उतरे हो?

तन-सागर में भँवर - बवंडर,
मांसल-तरी, लगें लहरें मन्थर,
विजय तटों को छोड़ रही है।
पराजय से बन्धन जोड़ रही है।

मन-तन साथ-साथ चलते हैं,
तन कर्म-विभ्रम हमें छलते हैं,
संयम-सत्य से अन्तःकरण बांधो,
मन को मन-शक्ति से थामों ।

ऐसा कर्म ही जप बनता है,
मन्त्र-जीभ पर ही चढ़ता है,
कर-माला फिर घुमा रहा है,
मन-अन्तःकरण मे आ रहा है।

जप-कर्म जीभ, से ही होता है,
मन को मन ही तो धोता है,
पदार्थ-चिन्तन से दूर है जाता,
सार-तत्त्व युधिष्ठिर फिर पाता ।

सुप्त - आत्मा जाग्रत होती,
मन-विकार सारे फिर खोती,
प्रभु में ध्यान लगने लगता है;
मन-आनन्द पाने लगता है ।

जप तन-मन को सुख देता है,
ध्यान प्रभु में खींच ही लेता है,,
मानसिक-दुःख-शान्त होता है,
भगवद्-मोती हंस चुगता हैं ।

भजन-गायत्री का उत्तम है,
इसका ध्यान-जप सर्वोत्तम है
चाहे प्रणव को वत्स जपो तुम,
किसी और नाम से वरो तुम ।

जप अन्तर्मुख-प्रथम करता है,
अध्यात्म-सुख तभी मिलता है,
श्रद्धा-सहित वत्स नाम जपो तुम,
जिज्ञासा-आत्म-शान्त करो तुम ।

बहिर्मुखी-तन सुख पाता है,
पंच भूतों को ही अपनाता है,
आत्मा तो इनसे ऊपर है,
अध्यात्म-सुख इसपर निर्भर है ।

श्रद्धा-भाव प्रथम अपनाओ,
गायत्री-जीभ-मन पर बिठाओ,
श्रवण केवल गायत्री सुख पाये,
कर-माला - मनके-दोहराये ।

मांसल-सुन्दर-दुःख लाता है,
विरह-ताप ही भड़काता है,
नर-मन न इसे पकड़ पाता है,
पुष्प - सुकोमल मुर्झाता है ।

बाह्य-दृष्टि से बँधा हुआ है;
आयु-अलक-जाल पका है,
रंग-उतरते-देख न पाता,
मेहंदी-में है रंग-छुपाता ।

हरा-भरा सब सूख रहा है,
क्षणिक-रूप - ओढ़े आवरण है,
बाहर से भीतर तुम आओ;
शाश्वतत्ता का सुख तुम पाओ ।

गायत्री-प्रणव - प्रभु स्मरण से,
उसे देखो ढका जो आवरण में;
नदी - लहर, पक्षी - कलरव में;
पवन-ध्वनि, प्राण की धड़कन में ।

जो हरियाली-सुख - आनन्द में,
जगती के पलते चढ़ते कण-कण में,
वही गति सृष्टि - मानव की;
देखो मूर्ति - उसी प्रणव की ।

युधिष्ठिर ! लोक-कल्याण - प्रश्न करते?
श्री कृष्ण-सदा तेरे हृदय में बसते;
सभी धर्मों के कृष्ण ही तो मूल हैं;
सगुण-निर्गुण श्री कृष्ण अन्तःभूत हैं ।

निराकार-साकार बस उन्हें जपो तुम,
प्रकृति और विकृति में उन्हें पायो तुम,
माता-पिता, भाई-बन्धु तुम जानो,
सुहृदय-सखा, पति-पुत्र उसे ही मानो ।

वही पुरुष है, पुरुषोतम है, स्वामी,
वही जीव हैं, ब्रह्म, वही अर्न्तयामी;
श्रीकृष्ण ज्ञाता औ ज्ञेय वही हैं;
वही ज्ञान, युधिष्ठिर ब्रह्म वही हैं ।

जिन्हें तुम मामा-सुत मान रहे हो;
जिसे मन्त्री, दूत, सखा, जान रहे हो,
अतिथियों का यज्ञ, किया सत्कार,
जिन्होंनें धर्म-हित थे चरण पखारे ।

अर्जुन के बने सारथी-धर्म निभाआ,
स्व वक्ष:स्थल पर भीष्म-प्रहार सहारा,
तीखे-बाण सहे थे-तेरे हित, स्वामी;
वही प्रभु, परमात्मा, वे ही अन्तर्यामी ।

ममता, स्नेह, प्रेम, भक्ति देता है,
बालक, सखा, भाई का रूप लेता है,
वही शृंगार रसराज, रसिक शिरोमणी,
वही अम्बा - रूप लखे कामिनी ।

उन्हीं का कर ध्यान, स्मरण,
उन्हीं का चिन्तन-जप लो शरण,
कीर्तन - भजन करो-लो आश्रय,
उन्हीं की सेवा, उन्ही के प्रश्रय ।

यही स्वार्थ - परमार्थ हो तेरा;
यही सुनो उपदेश, आदेश है मेरा,
यही सार-आदेश और उपदेशों का,
कृष्ण से बढ़कर और कोई न मेरा ।

सभी करो आराधना, और उपासना,
उतरायण-की दिशा-हमें है अब जाना;
लालिमा भरा-आकाश उमड़ीं लहरें;
चिर-स्मरण की रेखाएं-हृदय में तैरें ।

नारी - रूपा हुए-अम्बा में आए;
खड़े समक्ष हुए थे-बाण चलाएं;
भीष्म-लोह-तन-टूट नहीं पाता था;
देवव्रत घुटता था, पछताता था ।

पूर्व जन्म के बन्धन कब टूटे हैं?
मृत्यु लोक के पाश-यूँ ही क्या छूटे हैं?
दूरागत-ध्वनि मैं सुत सुन पाता हूँ;
मुझे-पुकार रही, अम्बे मैं आता हूँ ।

धरा-लोक का दण्ड-हुआ पूरा मेरा,
पार्थिवता का रोग लो तन छूटा मेरा,
स्वर्गारोहण-का क्षण फिर आया है,
वसुओं से मिलने का क्षण आया है ।

"युधिष्ठिर ! सूर्य उत्तरायण अब हुए हैं,
तीखें बाणों पर पड़े-52 दिन बीत गए है;
माघ-मास का शुक्ल - पक्ष भागा है,
शरीर-त्यागने का वत्स समय जागा है ।

देखो ! सुनो : हृदय मुझे पुकार रहा,
आयु-सर्प केंचुलि वत्स उतार रहा;
महानाग निगला था, मुझे छोड़ रहा,
मृत्यु-लोक से नाता है तोड़ रहा ।

धुँधली - श्वेत - छाया चित्र बनती,
मन से देखूँ-हृदय मेरी अम्बा लगती;
बनी शिखण्डी-भीष्म-कवच उतार दिया,
पूर्व-जन्म-कर्मों का उसने विस्तार किया ।

वसु-पत्नी का रूप देख मैं सकता हूँ,
कृष्ण-आप की कृपा दृष्टि में रहता हूँ,
मुनि-वशिष्ठ नंदिनी कामघेनु ललचाई,
प्रभास-द्यु वसु कर्म बुद्धि पलटाई थी ।

सही यातना इसने मैं अभिशप्त हुआ,
वसु-पत्नी का जीवन फल नष्ट हुआ,
मृत्यु-लोक का बरन किये यहाँ आई;
अम्बा फिर शिखण्डिनी-शिखण्डी बन पाई ।

कृष्ण तुम्हारी-महिमा का विस्तार है यह,
अम्बा-शिखण्डी-रूप, सामने ले आई,
अतिमानव का रूप मुझे पहनाया क्यों?
समझ रहा हूँ वसु-पत्नी मेरी है यह ।''

युधिष्ठिरः- पाप कहाँ रहता है युधिष्ठिर बोले?
कृपा पूर्वक पितामह यह रहस्य भी खोलें?
भीष्मः- 'लोभ' एक बढ़ा भारी ग्राह - होता है;
पाप उत्पत्ति का यह आधार होता है ।

पाप, अधर्म, दुःख, कपट की जड़ है,
काम, क्रोध, मोह, माया, का घर है,
पराधीनता, क्षमाहीनता चिंता - अपयश-
निर्लज्जता, दरिद्रता, मान, लोभ-उत्पन्न ।

भोग-आसक्ति, अतितृष्ण बुरे कर्म,
कुछ विद्या-रूप-धन - मद के भ्रम;
वैर, तिरस्कार, अविश्वास औ टेढ़ापन;
पाप, परधन-हरण, पर-स्त्री, गमन ।

वाणी का असंयम मन का उच्छृंखलन,
चिन्तन कार व्यभिचार, धर्म का उल्लंघन'
पर-निन्दा, पर-शोषण, स्व - प्रशंसन,
राग-द्वेष-अहंकार, ईर्ष्या नरक जलन ।

मत्सरता, द्रोह-कुकर्म, पेट - परायण,
वाणी-वचन - कर्म भंग अनुशासन;
अपनी प्रशंसा आप होता पाप कर्म,
इसे कहते हैं पाप युधिष्ठिर प्रिय गण ।

लोभ-मोह के वश मीन तड़पाती,
काँटे-के छल को समझ कहाँ पाती?
मूस लोभ के कारण पिंजरे में फँसता,
सिंह भी बकरी-लोभ के कारण मरता ।

जीव जन्म से ही तो मृत्यु को बरता,
ममता, प्रेम, सम्बन्धों में चाहे बंधता,
जान कहाँ गज पगकड़ी को पाता?
फिर चिण्घाड़ता व्यर्थ, जब फंस जाता?

जन्म से लेकर मृत्यु, लोभ न त्यागे,
बच्चा-बूढ़ा बने, लोभ कहां है बूढ़ा?
गहरे जल से भरी नदी मिलती सागर,
पर-तृष्णा की कब भरती है गागर?

सागर तो प्यासा का प्यासा ही रहता,
लोभ-नदी के जल से भरता रहता,
तृप्त आज तक हो पाया कहां सागर?
मानव-लोभ के हाथों मरता पल-पल ।

लोभी नर की कामना है सागर सी,
तृप्त कभी न होती - नदी जल की,
जीतना 'स्व- को जो चाहता है नर,
प्रथम लेटना निश्चित सुप्त अंगारों पर ।

मनस्वी-हंस शान्त उड़ता आकाश,
सूर्य-कमल खिलता-मिलता - प्रकाश,
अन्तर्मन से ध्वनि-निरन्तर - उठती,
फिर अलौकिक आनन्द है दे जाती ।

'कामधेनु'-मन इच्छा पूर्ण करतीं,
सत्य-कर्म-उत्साह - शक्ति मिलती,
दर्प,क्रोध,मद,हर्ष-शोक सभी मिटते,
ये दुर्गुण लोभी नर में देखे जाते ।

लोभ त्याग कर सत्य-पुरुष बन जाते;
सत्संग, सद्भाव, विचार सब मिल जाते,
धर्म-अर्थ-और काम-मोक्ष को हैं बढ़ते,
जड़-चेतन के सार तत्त्व समझ पड़ते ।

युधिष्ठिर अब जाने का तो समय आया,
गंगा ने भी रुख अपना है पलटाया?
दुर्योधन के कुकर्म मुझे भी लील गए;
अधर्म पाप के पथ पर हैं खींच रहे ।

सत्यवती-का इच्छा कवच उतार दिया;
पिताश्री के वचन-पूर्ण, उद्धार किया ।
इच्छा-मृत्यु ही पाई, थी जीवन देकर,
हस्तिनापुर ही चूर-चूर हैं मेरे प्रभुवर ।

हस्तिनापुर से बंधा रहा मैं जीवन भर;
कंकाल-सरीखा गिरा पड़ा है धरती पर,
शर-शय्या पर लिटा दिया-दुर्योधन ने;
'स्व-मोक्ष उपक्रम किया तो अम्बा ने ।''

देव-सुरों की बरस पड़ी दिव्य-आंखें अब,
धरा लोक को छोड़ रहें है भीष्म जब,
'अम्बा'-की परछाईं क्षितिज में उभरी;
'कृष्ण'-की आंखों से भी अश्रुधार, बही ।

स्तब्ध खड़ा आकाश, ठहरा सूर्य;
किरणों से भिगो रहा अश्रु जल;
इन्द्रधनुष के रथ पर अम्बा आई;
देवव्रत-वसु-आत्मा ने ली अंगडाई ।

मृत्युलोक से छूट अति आनन्दित थी;
'गंगा' की मधु-धाराओं में प्रिय हलचल थी ।
'गंगा' ने आँचल बढ़ा उन्हें स्वीकारा;
भीष्म - अम्बा दोनों की बही अश्रुधारा ।

धरा - लोक में हा हाकार-मचा भारी,
धर्म-देव हैं संग लिए तो एक नारी,
अर्धांगिनी का रूप नज़र आता है;
नर-समाज कुछ समझ तो न पाता है ।

देव, वसु, सुर पुष्प वर्षा करते हैं,
विष्णु, ब्रह्मा, महेश प्रतीक्षा करते हैं;
ब्राह्मण्ड-में इन्द्रधनुषों पे कदम बढ़ाया;
प्रभास-वसु पत्नी संग स्वर्ग में आया ।

"मृत्यु लोक के कष्ट तो हैं महा भारी !
इनको सह सकता भीष्म सा ब्रह्मचारी !
या अम्बा शक्ति, भीष्म-मुक्ति जो बनती,
दो जन्मों तक विधना से जो लड़ सकती ।''

शुभम् इति
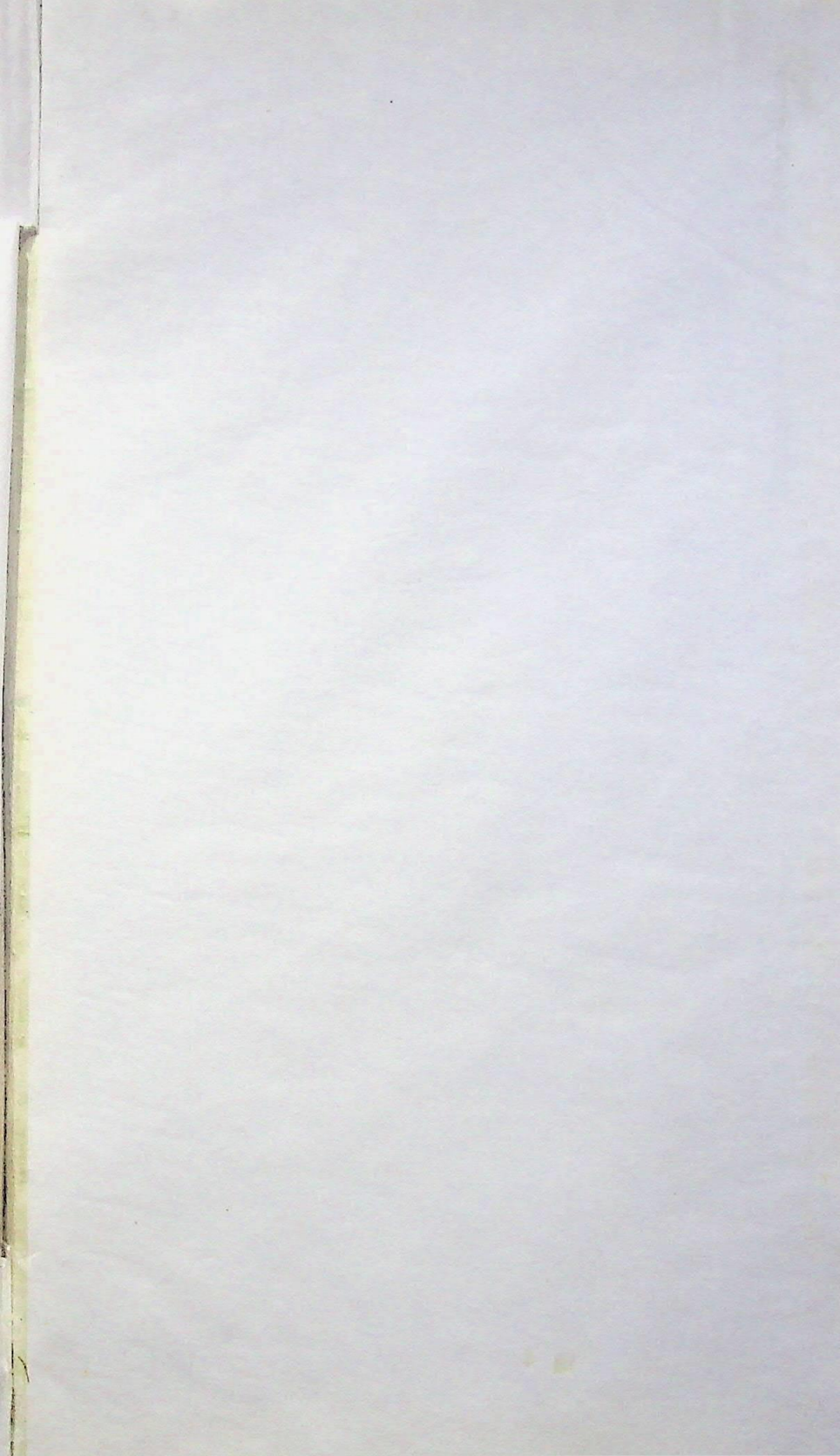
लेखक परिचय

डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस' हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार हैं। जनवादी लेखक संघ से इनका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। छात्र जीवन से ही साहित्य-सृजन में लगे हुए हैं। कविता लेखन युवावस्था से ही प्रारम्भ कर दिया था, यह मूलतः एक कवि ही हैं। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। अनेक काव्य-गोष्ठियों में भाग लेकर श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध करते रहे हैं, अनेक रचनाओं का अकाशवाणी से भी प्रसारण हो चुका है। इस समय एस. एस. एम. कॉलेज, दीनानगर में उप-प्राचार्य के पद पर आसीन हैं।

इनका जन्म 10 सितम्बर 1942 को गुरदासपुर के बहरामपुर ग्राम में हुआ। उत्तरी रेलवे से तकनीकि-शिक्षा में डिप्लोमा कर उसी में 1973 तक कार्य करते रहे। डी. ए. वी कॉलेज अमृतसर से एम. ए. किया। 1976 में गुरु नानक देव विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि ग्रहण की। साहित्य-सृजन को पूरी तरह समर्पित हैं। पूर्ण निष्ठा के साथ साहित्य सृजन में लीन हैं और इनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी रचनाएं हैं :-

1. वीणा के टूटे तार (कविता-संग्रह)
2. यादों के साँप (ग़ज़ल-गीत संग्रह)
3. आग और आसूँ (ग़ज़ल-गीत संग्रह)
4. गंगा (प्रबन्ध-काव्य)
5. देवव्रत/भीष्म (महाकाव्य)
6. स्वामी स्वतन्त्रतानन्द एक युग पुरुष (जीवनी)
7. सुभाषचन्द्र बोस संक्षिप्त जीवन एवं विचार
8. महर्षि दयानन्द सरस्वती : जीवन, कार्य एवं दर्शन
9. स्वामी विवेकानन्द जीवन-दर्शन (प्रेस में)।
10. डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस' का काव्य (प्रथम भाग)

हमें आशा है डॉ० सत्येन्द्र प्रकाश नन्दा 'आस' अपनी काव्य प्रतिभा, धार्मिक निष्ठा, सामाजिक प्रतिबद्धता और लग्न द्वारा बौद्धिक एवं हिन्दी साहित्यिक जगत को प्रभावित करते रहेंगे।